आदिवासी संगीत

डॉ. हीरालाल शुक्ल

मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

आदिवासी संगीत

(मुरिया-संगीतशास्त्र : मानवविज्ञानाश्रित सांगीतिक भाषाविज्ञान की भूमिका)

हीरालाल शुक्ल

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

प्रथम संस्करण : 1986

© लेखक : हीरालाल शुक्ल, आचार्य एवं अध्यक्ष

तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति-विभाग

भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल

मूल्य : रु० 50.00

शिक्षा तथा समाजकल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय-ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी द्वारा प्रकाशित

मुद्रक

श्री माहेश्वरी प्रेस

भाट की गली, गोलघर

वाराणसी–221001

TRIBAL MUSIC (Ethno-Musicology of the Muria : Introduction to Anthropological Musicolinguistics)

भूमिका

भारत में नृतत्व-मानवविज्ञान के अध्ययन की परम्परा जनजातियों की प्रथाओं और संस्थाओं के विवरणों से आरंभ हुई। पहले विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों की जनजातियों और जातियों पर अनेक खण्डों की पुस्तक-मालाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें वहाँ के आदिवासी-समूहों पर छोटे-बड़े निबंधों अथवा टिप्पणियों में उनकी संस्कृति को रेखांकित करने का यत्न किया गया था। इन प्रयत्नों की अनेक सीमाएँ थीं। वे अधिकांशतः सामान्य प्रशासन के जिला और तहसील स्तर के कर्मचारियों द्वारा संकलित सामग्री पर आधारित थे। ये कर्मचारी सर्वेक्षण और अनुसंधान के क्षेत्र में अप्रशिक्षित थे। उन्हें तो सरकारी आदेश पर सुझाई हुई रूपरेखा के अनुसार निश्चित समय में सामग्री एकत्र करनी थी। प्रत्येक जनजाति के लिए शब्द-संख्या भी पूर्व निर्धारित होती थी। यह स्वाभाविक ही है कि ये प्रयत्न विभिन्न जनजातियों की संस्कृति का सर्वांगीण और विश्वसनीय रेखांकन करने में सफल नहीं हुए; किन्तु अनेक जनजातियों और जातियों के मिथकों, विश्वासों और प्रथाओं के वर्णन केवल इन्हीं पुस्तकों में मिलते हैं। मजबूरी में ही सही, पर हमें सन्दर्भ-ग्रन्थों के रूप में इन पुस्तक-मालाओं का उपयोग करना पड़ता है।

भारतीय नृतत्व का दूसरा चरण जनजातियों पर स्वयंपूर्ण विवरणात्मक पुस्तकों—मोनोग्राफ्स—के लेखन से आरंभ हुआ। इसके लेखक भी प्रशिक्षित मानवविज्ञानी नहीं थे। वे आई० सी० एस० कोटि के अंग्रेज जिलाधिकारी थे, जो अपने अमले से अपने निर्देशन में सांस्कृतिक तथ्यों का संकलन कराते थे। इस शोध का उद्देश्य वैज्ञानिक न होकर प्रशासनिक था। जनता पर राज्य करने के लिए प्रशासक को उनकी रीति-रिवाजों और विश्वासों से परिचित होना आवश्यक था। अंग्रेजी-शासन ने इस प्रकार के अध्ययनों को प्रोत्साहित किया। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद हटन, मिल्स और ग्रिग्सन के ग्रंथ अपने समय के आदर्श बने और उनका उपयोग आज भी होता है।

तीसरे चरण में दो स्वतंत्र धाराएँ झलकती हैं। पहली धारा में हमें कुछ सशक्त भारतीय प्रयत्नों के दर्शन होते हैं। इस श्रेणी के अध्येताओं में शरदचन्द्र राय और अनन्त कृष्ण अय्यर के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि अपने ग्रंथों की बाह्य रूपरेखा में इन भारतीयों ने भी अंग्रेजी-शासकों द्वारा स्थापित प्रतिरूप को स्वीकारा था, फिर भी उनके लेखन में भारत द्वारा भारत को देखने के स्वतंत्र प्रयत्न लक्षित होते हैं। इस धारा को उस समय और अधिक बल मिला, जब धीरेन्द्रनाथ मजूमदार और क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जैसे विदेशों में प्रशिक्षित नृतत्ववेत्ताओं ने भारत में जनजातियों के अध्ययन जारी किये। दूसरी धारा उन विदेशियों की थी, जिन्हें वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त था और जो भारत में सामान्यतः शासन से असम्बद्ध रहकर यहाँ अनुसंधान करने आये थे। इनमें क्रिस्ताफ फान, फ्यूरेर-डाइमनडॉर्फ, जौफरी गोरर और स्टीफन फुक्स के नाम उल्लेखनीय हैं। वैरियर एल्विन अपनी कोटि के अलग ही जीव थे। गाँधी जी का आकर्षण उन्हें भारत खींच लाया था। गाँधी जी ने उन्हें आदिवासियों में सेवा-कार्य के लिये भेजा और वे अपने प्रयत्नों से नृतत्ववेत्ता बन गए। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के समय इस विषय के संबंध में कुछ भ्रांतियाँ फैल गई थीं। इसे साम्राज्यवाद के अस्त्र के रूप में देखा जाने लगा था। यह भी माना जाता था कि इस प्रकार के अध्ययनों का उद्देश्य समाज को "विभाजित करो और राज्य करो" है। फिर भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कुछ अच्छे और कई बुरे विवरणात्मक ग्रंथ आदिवासियों पर लिखे गए।

भारतीय नृतत्त्व का चौथा चरण समस्या-केन्द्रित अध्ययनों की ओर निश्चित झुकाव दर्शाता है। समस्याएँ अधिकांशतः विश्व के उच्च शिक्षा और अनुसंधान केन्द्रों में विकसित चिन्ताओं पर आधारित थीं। पहले प्रकार्य पर जोर दिया गया, बाद में संरचना पर। इसके बाद संरचनावाद आया, जो आज भी प्रभावी है। सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक दूरी के प्रश्नों पर भी महत्वपूर्ण शोधकार्य हुआ। बहस का एक अन्य महत्वपूर्ण मुद्दा था कि समाज को समझने के लिए बाह्य दृष्टि पर्याप्त है अथवा सामाजिक अंतर्दृष्टि को समझने की नई विधा विकसित करनी आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि आरोपित अर्थ कभी-कभी बड़े भ्रामक होते हैं और इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन अर्थों को समझें, जो संस्कृति द्वारा की गई व्याख्याओं में निहित होते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों पर भी कुछ

अच्छा काम हुआ है। आज जो समस्याएँ हमारा ध्यान आकर्षित कर रही हैं, उनमें प्रमुख हैं जातीयता की भावना का उदय और सांस्कृतिक स्वायत्तता की माँग, वैकासिक प्रक्रियाएँ और उनका जनजातियों और उनकी 'आत्मछवि' और 'जीवन शक्ति' पर प्रभाव तथा जनजातियों और शेष समुदायों के अंतःसंबंधों में उभरते नए समीकरण। अध्ययन की ये नई दिशाएँ विषय को पुष्ट और सशक्त बना रही हैं।

भारतीय नृतत्त्व की नई दिशाओं और विधाओं का स्वागत करते हुए भी हमें उन प्रवृत्तियों पर भी विचार करना चाहिये, जिनसे 'जनजातियों के अध्ययन पर मानवविज्ञानियों का एकाधिकार क्यों', 'अन्य अनुशासनों के विशेषज्ञ भी उनका अध्ययन क्यों न करें', इस दिशा में एक नई शुरुआत हुई है। इतिहास, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन के अध्येताओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से जनजातियों की संस्कृतियों को परखना आरंभ किया है। मानवविज्ञानियों को इस प्रवृत्ति से चिन्तित और भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो इसका स्वागत करना चाहिये। साथ ही यह भी आवश्यक है कि मानवविज्ञानी अपनी सीमा को समझें। ज्ञान-विज्ञान के क्षितिज इतने विस्तारित होते जा रहे हैं कि किसी एक अनुशासन का जनजातियों के संदर्भ में उनके प्रति न्याय कर सकना असम्भव हो गया है। आज वह स्थिति आ गई है कि हम खुले हृदय से अन्य अनुशासनों को जनजातियों के अध्ययन के लिए आमंत्रित करें। इससे जनजाति-संबंधी हमारे ज्ञान का क्षेत्र-विस्तार होगा और उसमें गहराई भी आ जाएगी। इससे मानवविज्ञान को अनुसंधान की नई दिशाएँ मिलेंगी और उसे अपनी स्थापनाओं और अवधारणाओं को नए सिरे से जाँचने का मौका भी मिलेगा।

प्रोफेसर हीरालाल शुक्ल ने इस पुस्तक में जनजातियों की संस्कृति को एक ओर भाषा से जोड़ा है, दूसरी ओर संगीत से। भाषा विचारों को प्रभावित करती है और विचार-प्रक्रियाएँ संपूर्ण संस्कृति को। सांस्कृतिक संरचना को भाषिक संरचना के सदर्भ में देखना बहुत उपयोगी हो सकता है। संगीत प्रचलित भाषा से जुड़ा होता है, किन्तु उसकी अपनी एक स्वतंत्र भाषा भी होती है। सांगीतिक भाषा और उसके मुहावरों तथा प्रकट और अंतर्निहित अर्थों को समझना एक चुनौती भरा बौद्धिक उत्तरदायित्व है। नृत्य का अध्ययन एक स्वतंत्र कलात्मक विधा के रूप में किया जाना चाहिये और संगीत और संस्कृति से जोड़कर भी। नृत्य की ध्वनियाँ शब्दों का रूप भले ही न लें, किन्तु उनमें अर्थ की अभिव्यक्ति की क्षमता भाषा के समान ही होती है। नृत्य की मुद्राएँ भी अर्थ का सम्प्रेषण करती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृति-संगीत-नृत्य का समन्वित अध्ययन शोध को एक नई दिशा दे सकता है। प्रस्तुत पुस्तक को इस प्रकार के अध्ययन-अनुशीलन का शुभारंभ मानना चाहिये। पहिला विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण सर्वव्यापी सैद्धांतिक स्थापनाएँ नहीं कर सकता, किन्तु उनकी नींव अवश्य डाल सकता है। मुझे खुशी है कि प्रोफेसर शुक्ल ने अपने आप को अति महत्वाकांक्षा के दोष से मुक्त रखते हुए ठोस सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका उपयोग संदर्भ-सामग्री के रूप में कई दशकों तक होता रहेगा। संस्कृति, भाषा, संगीत और नृत्य के अंतःसम्बन्धों के बारे में उनकी अपनी मौलिक सूझ और विचार खण्ड भी इस पुस्तक में बिखरे हुए हैं, जिनका समाकलन संभवतः वे स्वयं बाद में करेंगे और उनके उदाहरण से प्रेरणा लेकर नई पीढ़ी के शोधकर्ता भी इस दिशा में अग्रसर होंगे।

"आदिवासी संगीत" का प्रकाशन एक घटना है। मुरिया जनजाति पर वैरियर एल्विन के बहुप्रशंसित ग्रंथ के बाद यह दूसरी स्वतंत्र पुस्तकाकार रचना है। काव्य-रूपों, संगीत-रूपों और नृत्य-नाट्य-रूपों का प्रस्तुतीकरण प्रामाणिक है। श्रव्य और दृश्य संप्रेषण के अध्ययन बिशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और यदि उन्हें ध्यान से पढ़ा जाए तो वे शोध-विश्लेषण को नई दिशा देने में समर्थ हैं। आदिवासी संगीत को संपूर्ण संस्कृति और मिथकों से जोड़ने का प्रयत्न भी प्रशंसनीय है। संगीत के कतिपय विशेष रूपों का भी उल्लेख है, जो सामान्य संगीत की तरह सर्वव्यापी नहीं है। संस्कृति की दृष्टि से इस कोटि के संगीत का विशेष अध्ययन अपेक्षित है।
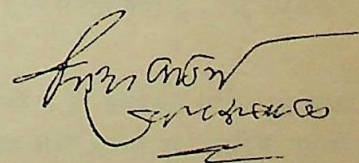
"आदिवासी संगीत" पच्चीस वर्षों की साधना का फल है। इस पुस्तक में एक योग्य भाषाविज्ञानी ने संस्कृति के कुछ अछूते पक्षों पर बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्रित की है और विद्वत्तापूर्ण शैली में इसका विश्लेषण किया है। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि इसमें निहित दिशा-संकेतों के आधार पर भविष्य में भी काम होता रहेगा। किसी भी पहले प्रयत्न की अपनी सीमाएँ होती हैं, पर इतिहास अग्रगामी अध्ययनों को विशेष सम्मान देता है। यह सम्मान **"आदिवासी संगीत"** को भी मिलेगा।

24 सितम्बर 1985 **श्यामाचरण दुबे**

प्राक्कथन

म० प्र० हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी पिछले डेढ़ दशक से आपके बीच काम कर रही है। शिक्षा के उच्च स्तरों पर मातृभाषा हिन्दी में पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले प्राध्यापकगण अकादमी के काम से अपरिचित न होंगे। विज्ञान और मानविकी के लगभग 25 विषयों की तीन सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करके अकादमी ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को समझने और व्यक्त करने में पूरी तरह सक्षम है। अंग्रेजी न जानने वाले बहुसंख्यक छात्रों ने इन पुस्तकों को अपना आधार बनाया है और इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ा है।

1969 ई० में अकादमी की स्थापना करते हुए केन्द्र सरकार ने संस्था से यह अपेक्षा की थी कि उच्च शिक्षा के हर स्तर पर हिन्दी-माध्यम की पुस्तकें सुलभ रहें, हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक-लेखन की परम्परा बने तथा शिक्षा-केन्द्रों में एक ऐसी प्रक्रिया चले जो माध्यम-परिवर्तन के विचार को उसकी अन्तिम परिणतियों तक पहुँचाये। अकादमी ने अपने दायित्व को निबाहते हुए शिक्षा-केन्द्रों से जुड़े विद्वज्जनों के सहकार का दायरा बढ़ाने की लगातार कोशिश की और उसके अच्छे परिणाम निकले। अनेक प्राध्यापकों ने मूल हिन्दी में लेखन किया और कर रहे हैं तथा छात्रों ने शोध-स्तर तक हिन्दी को वैकल्पिक अपना माध्यम बनाया। ऐसे छात्रों की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। इससे अकादमी का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। इस बढ़े हुए उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए संस्था प्राध्यापकों तथा शिक्षा-केन्द्रों के पुस्तकालयों से और अधिक सक्रिय सहयोग की अपेक्षा रखती है। अकादमी की पुस्तकों को छात्रों तक पहुँचाने में प्राध्यापकों और पुस्तकालयों की बहुत बड़ी भूमिका है और मैं आश्वस्त हूँ कि सम्बन्धितों को अपनी भूमिका की पूरी-पूरी चेतना है। पुस्तकों का स्तर सुधारने की आवश्यकता भी मैं अनुभव करता हूँ और समझता हूँ कि छात्रों और अध्यापकों को समय-समय पर अकादमी से सीधा सम्पर्क करके पुस्तकों के गुण-दोष की समीक्षा करनी चाहिये।

आपके हाथों में यह पुस्तक सौंपते हुए मैं आशा करता हूँ कि इससे आपकी एक आवश्यकता पूरी होगी।

मंत्री, उच्च शिक्षा, म० प्र० एवं अध्यक्ष
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

प्रस्तावना

जनजातीय संस्कृति में रुचि रखने वाले जिज्ञासु के लिए बस्तर एक ऐसा सम्मोहन है, जिसकी सामग्री की सम्पन्नता और विविधता की समानता देश के किसी अन्य क्षेत्र से नहीं की जा सकती ।

लोकसाहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में लोकसंगीत का कोश कम उर्वर माना जाता है । उसमें विविधता भी कम होती है । सम्प्रेषणीयता के अभाव में वह बहुत कम आकर्षक माना जाता है और सम्भवतः यही कारण है कि अब तक भारत के किसी भी क्षेत्र के लोकसंगीत की वैज्ञानिक व्याख्या के प्रति संगीतज्ञों, समाजविज्ञानियों एवं भाषाविज्ञानियों ने उपेक्षा ही बरती है । आदिवासी संगीत के प्रति निषेधवृत्ति अपनाने के अनेक ऐतिहासिक कारण हैं, किन्तु प्रमुख कारण है—भाषायी सम्प्रेषणीयता की कमी । मुण्डा, द्रविड़ तथा आर्यबोलियों से सम्पृक्त बस्तर का आदिम संगीत किसी को तब तक आस्वाद्य नहीं हो सकता, जब तक यहाँ के तीनों भाषापरिवारों की बोलियों पर उसे दक्षता हासिल न हो गयी हो । यह बोधगम्यता पारम्परिक संगीतज्ञ एवं मानवविज्ञानी के लिए इसलिए और भी कठिन हो जाती है कि अभी तक जनबोलियों के अध्ययन के प्रति उन्होंने रुचि ही नहीं विकसित की है । यह कार्य कोई मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञानी ही कर सकता है ।

संगीत जनजातियों की सर्वोत्कृष्ट कला है; क्योंकि यह प्रकृति और संस्कृति के बीच मध्यस्थता करता है और इसके माध्यम से दो धाराओं के बीच संविलयन होता है । बाह्य प्रकृति की पहली धारा आगमिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक है और आन्तरिक प्रकृति की दूसरी धारा आदिम, शारीरिक तथा प्राकृतिक है । जनजातियों का प्रकृति से संस्कृति के बीच संवाद भ्रान्तिजन्य या मिथकीय होने से पूर्ण नहीं हो पाता । जनजातियों की चेतना तथा रचनात्मक सांस्कृतिक गतिविधियों में अपरिहार्य रूप से अवचेतन जैविक यथार्थ के दर्शन होते हैं, जिसे हम तंत्र कहते हैं और इसका विवेचन आगम संगीत के परिप्रेक्ष्य में ही हो सकता है । यह ऐतिहासिक सत्य है कि आदिम संगीत को ही "नानापुराण-निगमागम" ने आगम संगीत के रूप में प्रतिष्ठित किया था ।

बस्तर के माड़िया-मुरिया समाज में संगीत की जड़ें बहुत गहरी हैं और यह अनन्त सांस्कृतिक परिवर्तनों से होकर गुजरा है । युग-युग से अप्रशिक्षित (?) आदिम मन प्रश्न करता आ रहा है—संगीत क्या है ? वह क्या कर सकता है ? वह कहाँ से आता है ? वह कहाँ जाता है ?

आदिम मन प्रत्युत्तर भी देता है कि आदिम संगीत लिंगो से आया है । लिंगो ने ही सर्वप्रथम संगीत को स्वर और गति दी थी—'लिंगो ना वेहले पाटा लिंगो ना वेहले डाका' । यह सांगीतिक अन्तःप्रेरणा ही आदिम जन में देवशक्ति का स्फुरण थी । दैवी रहस्योद्घाटन थी । इस रूप में जनजातीय संगीत 'लिंगो' द्वारा स्वीकृत एक बलि है। श्रद्धांजलि है । अर्घ्य है ।

इस प्रबन्ध का लक्ष्य जहाँ एक ओर 'मुरिया संगीतशास्त्र' को एक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रदान करना है, वहाँ दूसरी ओर 'मानवविज्ञानाश्रित सांगीतिक भाषाविज्ञान' को एक स्वतंत्र विषय के रूप में विकसित करना है। विश्वास है कि यह प्रयास 'अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान' का एक सही चित्र दे सकेगा और संगीत के माध्यम से संस्कृति की पहचान का मार्ग प्रशस्त होगा ।

आदिवासी-संगीत को जातीय संगीतशास्त्र तथा सांगीतिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रस्तुत करने की प्रेरणा मुझे डॉ० कृष्णचन्द्र दुबे से मिली, जो मध्यप्रदेश की आदिवासी संस्कृति पर शोधकार्य करने वाले प्रशासक-विद्वानों में अग्रणी हैं। इस प्रवन्ध के माध्यम से प्रस्तुत होने वाली सामग्री का संकलन मैंने बस्तर के मुरियाक्षेत्र के फुलपाड़, अन्तागढ़, लामनी, कोण्डागाँव, मर्कावेड़ा, ईसलनार, सिधवण्ड, रेमावण्ड, खूटागाँव, भानपुरी, चाँदबेड़ा, नारायनपुर, पूपगाँव, कोइलीबेड़ा, सेमुरगाँव, जुगानी, कुन्तपदर, डोंगरीगुड़ा, आमावेड़ा, छोटे डोंगर, परतापपुर, ओरछा, कड़ंगाल, चालका, बिजली, पालकी, एड़का, सुरेवाही तथा सुरमा आदि 250 ग्रामों से बीस वर्षों (1964-84) के अनवरत अध्ययन के पश्चात् किया है। मैं इन गाँवों के गायता, सिरहा, गुनिया, पाँजियार. बजनेया, मांदरी गुरु, मोहरेया, कोटनिया, गीतकुरिन. गीतकुरया, गुरुमाय, गाइन, जोक्ता, नचकार, नाचकुरिन, नाटकरया, एवं नाटगुरुओं का विशेष रूप से आभारी हूँ। इन आदिवासी संगीतज्ञों के सहयोग के परिणामस्वरूप इस प्रवन्ध में 85 लोकगीतों को स्थान मिल पाया है, जिनमें 40 अबूझमाड़िया-मुरिया लोकगीत, 40 हलबी-लोकगीत, दो-दो भतरी-छत्तीसगढ़ी लोकगीत, तथा एक दण्डामी-माड़िया लोकगीत है।

आदिवासी-संगीत के लिए मूलभूत सूचनाओं के संग्रह में मुझे किसी भी प्रकार का कोई अनुदान नहीं मिला; जो भी मिला, वह आदिवासियों का अनुग्रह-अनुदान ही है। इस प्रवन्ध की यथाशीघ्र समाप्ति के लिए मुझे प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे से निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। उन्होंने न केवल सम्पूर्ण पाण्डुलिपि का एक बार परीक्षण किया, अपितु "भूमिका" के माध्यम से मुझे दिशानिर्देश भी दिया। मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस प्रबन्ध के अन्तर्गत आने वाली बस्तर की आदिवासी बोलियों में धुरवी, दोर्ली, दण्डामी माड़िया, अबूझ-माड़िया, मुरिया, और राजगोंडी केन्द्रीय द्रविड़ परिवार से सम्बद्ध हैं, जबकि भतरी, हलबी, और छत्तीसगढ़ी प्राच्य आर्यवर्ग की बोलियाँ हैं। इनमें भी अध्ययन का केन्द्रीय विषय मुरिया-बोली ही रही है, जिसमें मैंने सम्पूर्ण रामचरितमानस का पद्यानुवाद भी किया है। इन बोलियों के मेरे शिक्षक आठ वर्ष की अवस्था से लेकर अस्सी वर्ष की अवस्था तक के जनजातीय वर्ग के लोग ही रहे हैं। मैं अपने इन जनजातीय शिक्षकों का आभारी हूँ, जिन्होंने सांगीतिक साक्षात्कार में मेरे साथ सैकड़ों घण्टे बिताये। उनके सहयोग के बिना यह कार्य कभी पूरा नहीं हो सकता था।

सांगीतिक स्वरलिपि का प्रशिक्षण मुझे अमरीकी विद्वान् प्रोफेसर रोडेरिक नाइट तथा फ्रेंच विद्वान् जेनेविवे दोउँ से मिला। नाइट के साथ मैंने सप्ताहों आदिवासी संगीत पर कार्य किया था तथा जातीय-संगीतशास्त्र के विविध मुद्दों पर घण्टों बहस की थी। उन्होंने मेरी मान्यताओं को अनेकशः दुहराया है (नाइट 1983:2) तथा उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित स्वरलिपि को मैंने परिशिष्ट में प्रस्तुत किया है।

प्रारंभिक स्थिति में ग्रन्थ-अकादमी ने "मुरिया जनजाति" पर प्रबंध लिखने के लिए मुझसे आग्रह किया था, किन्तु वैरियर एल्विन (1947) की "क्लासिकी" पर कलम चलाने में पिष्टपेषण की स्थिति से "मुरियासंगीत" विषय सुनिश्चित किया गया। वैरियर एल्विन की "मुरिया एण्ड देयर घोटुल" मैंने अनेकशः आद्योपान्त पढ़ी है। मैं उन्हें अपनी श्रद्धांजलि देता हूँ। मैंने उनके अधूरे काम को पूरा किया।

मैं आभारी हूँ श्री गुणवन्त व्यास (सांगीतिक वाद्य की धुनों के लिए), श्री हनुमानसिंह यादव (मानाचित्रांकन में सहायता के लिए), एवं आदिम जाति अनुसंधान तथा विकास संस्था (छायाचित्रों के लिए) के प्रति।

भोपाल, 1 जनवरी 1986 —हीरालाल शुक्ल

विषय-सूची

भूमिका	:		iii
प्राक्कथन	:		v
प्रस्तावना	:		vii
प्रथम अध्याय	:	सांगीतिक सर्वेक्षण	1
द्वितीय अध्याय	:	वाद्य	28
तृतीय अध्याय	:	सांगीतिक प्रबंध	52
चतुर्थ अध्याय	:	नृत्य	64
पंचम अध्याय	:	नाट्य	133
षष्ठ अध्याय	:	श्रव्य संप्रेषण	144
सप्तम अध्याय	:	दृश्य संप्रेषण	161
अष्टम अध्याय	:	संगीत और संस्कृति	182
नवम अध्याय	:	आदिवासी संगीतज्ञ	202
उपसंहार	:	निष्कर्ष	216
सहायक ग्रंथ-सूची			217
परिशिष्ट–1. जनजातीय सांगीतिक प्रयुक्ति			222
परिशिष्ट–2. स्वरलिपि			236
परिशिष्ट–3. अनुक्रमणिका			249–281

चित्र-सूची

(क) मानचित्र (7)

मानचित्र क्रमाङ्क–1. बस्तर की भौगोलिक स्थिति : 4
मानचित्र क्रमाङ्क–2. मुरिया-क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति : 10
मानचित्र क्रमाङ्क–3. नारायनपुर-अन्तागढ़ तहसील के ग्रामों का सांगीतिक सर्वेक्षण : 11
मानचित्र क्रमाङ्क–4. कोण्डागाँव तहसील के ग्रामों का सांगीतिक सर्वेक्षण : 15
मानचित्र क्रमाङ्क–5. मुरिया-संगीत पर बाह्य प्रभाव : 17
मानचित्र क्रमाङ्क–6. ओरछा-ककसाड़ में नृत्य में सहभागी विविध ग्राम : 69
मानचित्र क्रमाङ्क–7. 1983 में ओरछा-ककसाड़ में सम्मिलित वधुएँ : 70

(ख) छायाचित्र (16)

छायाचित्र क्रमाङ्क–1. मुरिया युवती : 1
छायाचित्र क्रमाङ्क–2. दण्डामी माड़िया महिला : 16-17
छायाचित्र क्रमाङ्क–3. हकुम बजाते हुए चेलिक : 32-33
छायाचित्र क्रमांक– 4. तल्लागुड़ा-धारी दण्डामी माड़िया युवक : 48-49
छायाचित्र क्रमांक– 5. चीतल-बारहसिंगा के श्रृंगालंकरण से सुसज्जित कोण्टा तहसील का दण्डामी माड़िया : 64-65
छायाचित्र क्रमांक– 6. काष्ठश्रृंगालंकृत नेतानार का धुरवा नर्त्तक : 80-81
छायाचित्र क्रमांक– 7. दण्डामी माड़िया ढोलवादक और नवयुवतियाँ : 96-97
छायाचित्र क्रमांक– 8. झोरिया-मुरिया : 112-113
छायाचित्र क्रमांक– 9. अबूझमाड़िया-नृत्य : 128-129
छायाचित्र क्रमांक–10. चैतदाँदर में मुरिया स्वांग-नर्त्तक : 144-45
छायाचित्र क्रमांक–11. छेरता तथा पूसकोलांग में प्रयुक्त स्वांग : 144-45
छायाचित्र क्रमांक–12. छेरता-नृत्य में नकटे की वेशभूषा : 144-45
छायाचित्र क्रमांक–13. तारानृत्य में प्रयुक्त मुरिया-पुत्तलिका : 160-61
छायाचित्र क्रमांक–14. झोरिया-मुरिया-नृत्य : 176-77
छायाचित्र क्रमांक–15. दण्डामी माड़िया नर्त्तकियाँ : 192-93
छायाचित्र क्रमांक–16. अबुझमाड़िया नवयुर्वातयाँ : 208-9

(ग) रेखाचित्र (21)

रेखाचित्र क्रमांक– 1. सारंगी : 30
रेखाचित्र क्रमांक– 2. कीकिड़ : 31
रेखाचित्र क्रमांक– 3. गोगा ढोल : 38
रेखाचित्र क्रमांक– 4. पर्राङ्ग ढोल : 40

रेखाचित्र क्रमांक– 5. उलुड़ : 49
रेखाचित्र क्रमांक– 6. अकुम : 50
रेखाचित्र क्रमांक– 7. माँदरी : 43
रेखाचित्र क्रमाङ्क– 8. नृत्यदण्ड 'जगर' : 105
रेखाचित्र क्रमांक– 9. मुयाङ : 105
रेखाचित्र क्रमांक–10. पूसकोलांग में प्रयुक्त खिलौना : 105
रेखाचित्र क्रमांक–11. मुरिया-वर का मकुट : 141
रेखाचित्र क्रमांक–12. आलमेर घोटुल का आरेखण : 159
रेखाचित्र क्रमांक–13. नयानार घोटुल के आरेखण : 160
रेखाचित्र क्रमाङ्क–14. नयानार घोटुल के आरेखण : 171
रेखाचित्र क्रमाङ्क–15. झोरिया-कंघी : 174
रेखाचित्र क्रमाङ्क–16. काष्ठनिर्मित मुरिया कंघी : 175
रेखाचित्र क्रमाङ्क–17. मोटियारी का केशालंकरण : 176
रेखाचित्र क्रमाङ्क–18. कर्णाभूषण : 177
रेखाचित्र क्रमाङ्क–19. मोघी नामक नृत्यकवच : 178
रेखाचित्र क्रमाङ्क–20. सेमुरगाँव का अश्वारोही : 203
रेखाचित्र क्रमाङ्क–21. आँगादेव : 211

(घ) ग्राफ : बिन्दुरेख (17)

ग्राफ क्रमाङ्क 1. जात्रानृत्य में पदसंचार की संरचना : 73
ग्राफ क्रमाङ्क 2. जात्रानृत्य में पदसंचार की संरचना : 74
ग्राफ क्रमाङ्क 3. जात्रानृत्य में पदसंचार की संरचना : 74
ग्राफ क्रमाङ्क 4. हारएन्दाना की संरचना : 76
ग्राफ क्रमाङ्क 5. माँदरी नृत्य की संरचना : 89
ग्राफ क्रमाङ्क 6. माँदरी नृत्य की संरचना : 92
ग्राफ क्रमाङ्क 7. माँदरी नृत्य की संरचना : 93
ग्राफ क्रमाङ्क 8. लिंगो-एन्दाना की संरचना : 104
ग्राफ क्रमाङ्क 9. जनजातियों की काल की अवधारणा : 169
ग्राफ क्रमाङ्क 10. ककसाड़-संगीत की स्वरलिपि : 238
ग्राफ क्रमाङ्क 11. मरमी-संगीत में पदसंचालन : 238
ग्राफ क्रमाङ्क 12. मरमी-संगीत की स्वरलिपि : 240
ग्राफ क्रमाङ्क 13. कर्सना-संगीत की स्वरलिपि : 241
ग्राफ क्रमाङ्क 14. गेड़ी-संगीत की स्वरलिपि : 243
ग्राफ क्रमाङ्क 15. हुल्की-संगीत की स्वरलिपि : 244
ग्राफ क्रमाङ्क 16. चैत दाँदर संगीत की स्वरलिपि : 246
ग्राफ क्रमाङ्क 17. दण्डामी माड़िया-संगीत की स्वरलिपि : 247

संकेत-सूची

अ०	अबूझमाड़िया
अव०	अवहट्ट
आ०	आदिलाबाद की गोंडी
ई०	ईस्वी
ई० आई०	इपीग्राफिआ इण्डिका
कु०	कुवि
को०	कोया
छ०	छत्तीसगढ़ी
झो०	झोरिया मुरिया
डी० ई० डी०	द्रविडियन एटीमॉलाजिकल डिक्शनरी
ते०	तेलुगु
द०	दण्डामी माड़िया
दे०	देखिए
दो०	दोर्ली
द्र०	द्रष्टव्य
प०	परजी
फा०	फारसी
पृ०	पृष्ठ
ब०	बस्तरी
भ०	भतरी
म०	महरी
सं०	संस्कृत
ह०	हलबी

1

सांगीतिक सर्वेक्षण

1.1. बस्तर की जनजातियाँ और संगीत

पाँच लाख वर्ष पहले आदिम मानव ने धरती पर विचरण करना प्रारंभ किया था। वह आज के मानव से पूरी तरह भिन्न था। वह वृक्षों अथवा गुफाओं में निवास करता था और प्रकृति के द्वारा प्रदत्त कन्दमूल तथा फल खाता था या आखेट के माध्यम से आरण्यक पशुओं को मार कर खा जाता था। उसके पास न तो रहने के लिए घर था और न पहनने के लिए वस्त्र। वह न तो खेती से परिचित था, न कुटीरोद्योग से। अपने विचारों को सम्प्रेषित करने के लिए उसके पास कुछ असम्बद्ध ध्वनियाँ थीं, जिसके माध्यम से वह सुख, दुःख या क्रोध की अभिव्यक्ति कर सकता था। इन्हीं ध्वनियों के सहारे वह दूसरों को खतरों के प्रति सावधान करता था या सहायतार्थ उन्हें बुलाता था।

इन लाखों वर्षों की अवधि में मानव पर बहुत-सी आपदाएँ आयीं। ऋतु—परिवर्तन हुए। दावानल, जलप्लावन, दुर्भिक्ष तथा विविध रोगों ने उसका संहार किया। वन्य पशु सदैव उसके खून के प्यासे रहे हैं। उसने पहले पत्थर के अनगढ़ आयुधों से अन्य लोगों के साथ उनका सामना किया। यदि हम प्रत्येक पीढ़ी की जीवन-अवधि तीस वर्ष मानें, तो कहना होगा कि मानव ने सोलह हजार पीढ़ियों तक प्रकृति से संघर्ष किया। इस अवधि के लम्बे समय तक वह संचरणशील रहकर भोजन को संचित करने में ही लगा रहा और अन्धविश्वासों के कारण अपनी जान को हथेली में रखकर घूमता रहा।

अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए धीरे-धीरे उसने अपने औजारों तथा आयुधों को विकसित किया। अब वह प्रकृति के उलट-फेर से अपनी रक्षा पहले से बेहतर कर सकता था। उसने पशुओं को पालतू बनाना सीखा तथा खेती व कुटीर-उद्योग का विकास किया। वस्तुओं के उत्पादन के लिए उसने नए तरीके विकसित किए। अब वह अतिरिक्त उत्पादनों को दूसरे उत्पादनों के साथ अदल-बदल करने लगा। उसने पढ़ना और लिखना सीखा। ज्ञान को समृद्ध किया जिससे विविध कलायें और विज्ञान का विकास हुआ।

यदि हम मानवीय पीढ़ियों की कल्पना एक लम्बी कतार के रूप में करें तो परिवर्तन की समूची प्रक्रिया की एक तस्वीर बन सकती है। प्रथम गुफावासी से लेकर प्रथम अन्तरिक्षयात्री तक की सोलह हजार पीढ़ियों के पिता और पुत्र यदि एक फुट की दूरी पर अनुक्रम में खड़े हो जायँ, तो पूरी कतार तीन मील की लम्बी होगी, जिसके एक छोर पर ऐसा आदिम मानव होगा जो अपने हाथ में पत्थर की कुल्हाड़ी लिए पशुजाति से अभी-अभी उठा होगा। कतार में जैसे ही हम आगे बढ़ते हैं, हम पाते हैं कि उसका परिवर्तन इन्द्रियग्राह्य तो नहीं है, फिर भी वह बदल रहा होता है। उसके उपकरण और आयुध, उसकी जीवनरक्षा की पद्धति, उसका पहिनावा और आवास, उसकी आदतें तथा परम्पराएँ सभी समुन्नत हो जाती हैं। उसका सामूहिक जीवन दृढ़तर हो जाता है और उसकी

विचारक्षमता विस्तृत तथा गहन होती है। अब वैज्ञानिक खोज भी होने लगती है। नए-नए धर्म, कला के नए-नए रूप और साहित्य का विकास होता है। उसकी इस यात्रा के प्रत्येक पड़ाव में उसके आस-पास विविध लोग गोत्रवर्ग, जनजाति तथा समाज के रूप में रहते हैं, जिनका चिन्तन और अनुभव तत्समान होता है। अन्त में हम सभ्यता के युग में पहुँचते हैं, जब कि मानव ससार के स्वरूप को तेजी के साथ बदल रहा होता है और इस प्रक्रिया में अपने को भी बदल लेता है। इस यात्रा के अन्त की सौ गजों की दूरी में हम कृषि, कुटीरोद्योग, उद्योग, वाणिज्य-व्यवसाय, कला, विज्ञान और साहित्य को रेखांकित पाते हैं। अब वर्गों के साथ वर्गसंघर्ष भी पैदा हो जाता है। आक्रामक युद्ध प्रारम्भ हो जाते हैं और उन्हीं के साथ राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलनों की शुरुआत होती है। अब विविध सम्प्रदायों के धर्म सामान्य जनसमूह के मन को जकड़ लेते हैं। सामाजिक स्थिरता के साथ सामाजिक परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। विविध सामाजिक संगठन पैदा हो जाते हैं और ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास एवं प्रयोग के कारण आज का सभ्य मानव अपनी आदिम स्थिति से बहुत आगे बढ़ जाता है; किन्तु जनजातियाँ आज भी आदिम स्थिति से बहुत आगे नहीं बढ़ पाईं।

भारतवर्ष की एक विशिष्ट घटना यह है प्राचीनतर तथा अधिक स्थिर संस्कृतियों ने विघटनवादी तथा उन्मूलनवादी प्रक्रिया के बजाय एकाकी क्षेत्र में आश्रय लेकर अपने से नव्यतर और अधिक गतिशील संस्कृतियों को स्थान दिया है तथा उनसे प्रभाव ग्रहण करते हुए उन्हें प्रभावित भी किया है। अमरीका, अफ्रीका और न्यूजीलैण्ड आदि देशों में गोरे तथा आदिम जन एक दूसरे से असम्बद्ध रहे हैं, जबकि भारतवर्ष में सभ्य तथा असभ्य जन हजारों वर्षों तक पारस्परिक संस्कृति-संक्रमण की प्रक्रिया से जुड़े रहे हैं। दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासी आज भी विविध युगों की आदिम संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। बस्तर के अबुझमाड़िया हजारों वर्षों तक कृषिकर्म से असम्बद्ध रहे और जंगली कन्दमूल-फलों पर ही अपना जीवन निर्वाह करते रहे। भूमि पर जैसे-जैसे दबाव पड़ा ये घोर पठारी तथा एकान्त क्षेत्र में जाकर बस गए। इन्होंने कभी खेती नहीं की। ऐसी स्थिति में ये प्रत्यक्षतः प्राचीन प्रस्तरयुगीन मानव के वंशज प्रतीत होते हैं। धुरवा, गदबा, हलबा, तथा भतरा प्रभृति जनजातियाँ अधिक उपजाऊ क्षेत्र में बस जाने के कारण इनसे उन्नततर जनजातियाँ हैं; क्योंकि इन्होंने पशुपालन के साथ-साथ आदिम प्रकृति की कृषि को भी विकसित कर लिया। इस प्रक्रिया में इन जनजातियों ने भोजन का संचय करने वाली अबुझमाड़िया को भीतरी क्षेत्र में धकेल दिया। किन्तु बलात् प्रवेश करने वाली ये जनजातियाँ भी उत्पादन के नये-नये साधनों को विकसित नहीं कर सकीं। महापाषाणी संस्कृति के उत्तराधिकारी दण्डामीमाड़िया तथा दोर्ला प्रभृति जनजातियों ने लौहधातु को गलाने की अपनी योग्यता के कारण कृषि तथा कुटीर उद्योगों में व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

प्रश्न यह है कि ऐसे आदिवासी जिनकी जीवनपद्धति हजारों वर्षों तक प्रायः अपरिवर्तित रही, इतने वर्षों तक कैसे जीवित बचे; जब कि उनके पड़ोसी छत्तीसगढ़ी बेहतर सभ्यता का सुख भोग रहे थे।

इस प्रश्न के दो संभावित उत्तर हैं :

(क) अपने देश में प्राकृतिक भोजन की अपार सम्पदा रही है तथा बिना जीवहिंसा के भी कोई व्यक्ति अपना जीवन-यापन आरण्यक उत्पादनों से कर सकता था। और यही कारण है कि ये आदिवासी प्रकृति के सहारे आज तक जीवित हैं। बस्तर में प्रकृति विशेष रूप से मेहरबान रही है; जहाँ पर असंख्य कन्द, वनस्पति, फल, फूल और जंगली जीव आज वर्ष की सभी ऋतुओं में मिलते हैं। इसलिए बिना खेती या उत्पादन के नए साधनों के अभाव में भी ये जनजातियाँ आज भी जीवित हैं।

(ख) सैकड़ों वर्षों के अन्तराल में इन आदिवासियों ने निश्चित विश्वास तथा हठधर्मिता विकसित कर ली थी। पूर्ववर्ती चरणों में तो वह उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए गतिशक्ति सिद्ध हुई; किन्तु समय के दौरान पर-

वर्त्ती विकास के लिए वही अवरोध बन गई। इनकी तुलना में अधिक दिलेर किस्म के समुदायों ने जब अपनी पुरानी हठधर्मिता को छोड़ दिया और पहले से अधिक सुरक्षित तथा सुखपूर्ण जिन्दगी के लिए नए-नए अवसरों की तलाश की, तब भी ये आदिवासी अपने अंधविश्वासों और प्राचीन संस्कारों से इस कदर चिपके रहे कि विकास की कोई भी संभावना इन्हें मृत्यु के रूप में दिखी। पड़ोसियों की सफलता से ये उत्साहित भी नहीं हुए। "जहाँ अज्ञान वरदान हो, वहाँ बुद्धिमान होना मूर्खता है" यह इनके जीवन का सिद्धान्त-वाक्य बन गया। यह तो केवल प्रकृति की उदारता है कि उसने इन्हें सर्वनाश से बचा लिया।

हमारे उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि इन वर्षों में सभ्य तथा असभ्य कहे जाने वाले लोग पारस्परिक एकाकीपन की स्थिति में थे। सभ्य लोगों ने आदिवासियों को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु उनसे बहुत से विश्वासों व परम्पराओं को भी ग्रहण किया। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा पारस्परिक संस्कृति-संक्रमण की प्रक्रिया अविरत रूप से चलती रही। आदिवासियों ने सभ्यजनों की भाषा और धर्म से बहुत कुछ सीखा तथा सभ्यजनों ने उनके संस्कारों, प्राकृतिक खाद्यपदार्थों आदि को ग्रहण किया। शिव तथा राम की कथा विविध रूपान्तरणों के साथ दोनों ही संस्कृतियों में उतरी। विविध देवियों को पुराणों में प्रतिष्ठा मिली। एक साथ देवता तथा राक्षस की पूजा आदिम समाज की अपनी सांस्कृतिक निधि है। ब्राह्मणग्रन्थों से हटकर जो मान्यताएँ क्लासिकी संस्कृत-साहित्य में आईं, उनमें भी जनजातीय सांस्कृतिक निधि का अवदान स्पष्ट झलकता है। इस रूप में जातियों तथा जनों के मध्य समीकरण की प्रक्रिया परस्पर सहयोगपूर्ण थी।

जातियों तथा जनजातियों के बीच इस पारस्परिक सहयोगपूर्ण समीकरण के बावजूद आदिम जीवन की विशिष्टताएँ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक स्थिर रहीं; किन्तु अँग्रेजों ने भारत-आगमन के साथ ही हथियारों के बलपूर्वक प्रयोग के जरिए आदिम अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। बस्तर के आदिवासियों ने 1857 ई०, 1890 ई० तथा 1910 ई० में तीन बार ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ सशस्त्र क्रान्ति भी की थी, किन्तु आधुनिक राइफलों के सामने आदिवासियों के धनुषबाण प्रभावहीन हो गए। एक शताब्दी तक चलनेवाली आर्थिक, राजनैतिक, तथा सैनिक लूट-पाट के परिणामस्वरूप हम आज जो देखते हैं, वह आदिवासी जीवन का अवशेष मात्र है।

मध्यप्रदेश के दक्षिण छोर में अवस्थित बस्तर जिला (17′ 46′ उत्तरी–20′ 34 उत्तरी तथा 80′ 15 पूर्वी –82′। पूर्वी) बस्तर तथा काँकेर नामक दो प्राचीन रियासतों से मिलकर बना है, जो 39,176 किलोमील क्षेत्र में फैला हुआ है तथा 1981 ई० की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 18,40,449 है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह जिला बेलजियम से बड़ा है तथा स्विटजरलैण्ड या डेनमार्क के बराबर है। यहाँ कुल 3,683 गाँव हैं तथा जगदलपुर (31, 344), काँकेर (9,278) और किरन्दूल (9,057) नामक तीन नगर हैं। प्रशासनिक दृष्टि से यह जिला आठ तहसीलों तथा बत्तीस विकास-खंडों में बँटा हुआ है। इस जिले में पूरी जनसंख्या का कुल 68.29 प्रतिशत जनजातियों का है (द्र० मानचित्र क्रमांक–1)।

जिले की जनजातियाँ संगीतप्रिय हैं। लय, गति, छंद, संगीत और नृत्य द्वारा इनकी कविता में अद्भुत रहस्यात्मक शक्ति उत्पन्न हो गयी है, जो समूह के आन्तरिक भाव को एक सूत्र में पिरोती है। शब्दों की यह मन्त्र-शक्ति इनकी कविता का मूलभूत सत्य है। जादू-टोने और मंत्र की आदिम भावना ने ही इनकी कविता को जन्म दिया है। बस्तर का आदिम मानव अपनी खुली आँखों से देखता है कि काले-काले बादल उमड़ कर आते हैं। बिजली चमकती है। एक गर्जन की आवाज होती है। पानी बरसता है। खेत लहलहा उठते हैं। फसल बढ़ती है। धान पकता है। इसलिए जब भी खेत को पानी की आवश्यकता होती है, यहाँ का आदिम मानव

चित्र सं. 1 बस्तर की भौगोलिक स्थिति
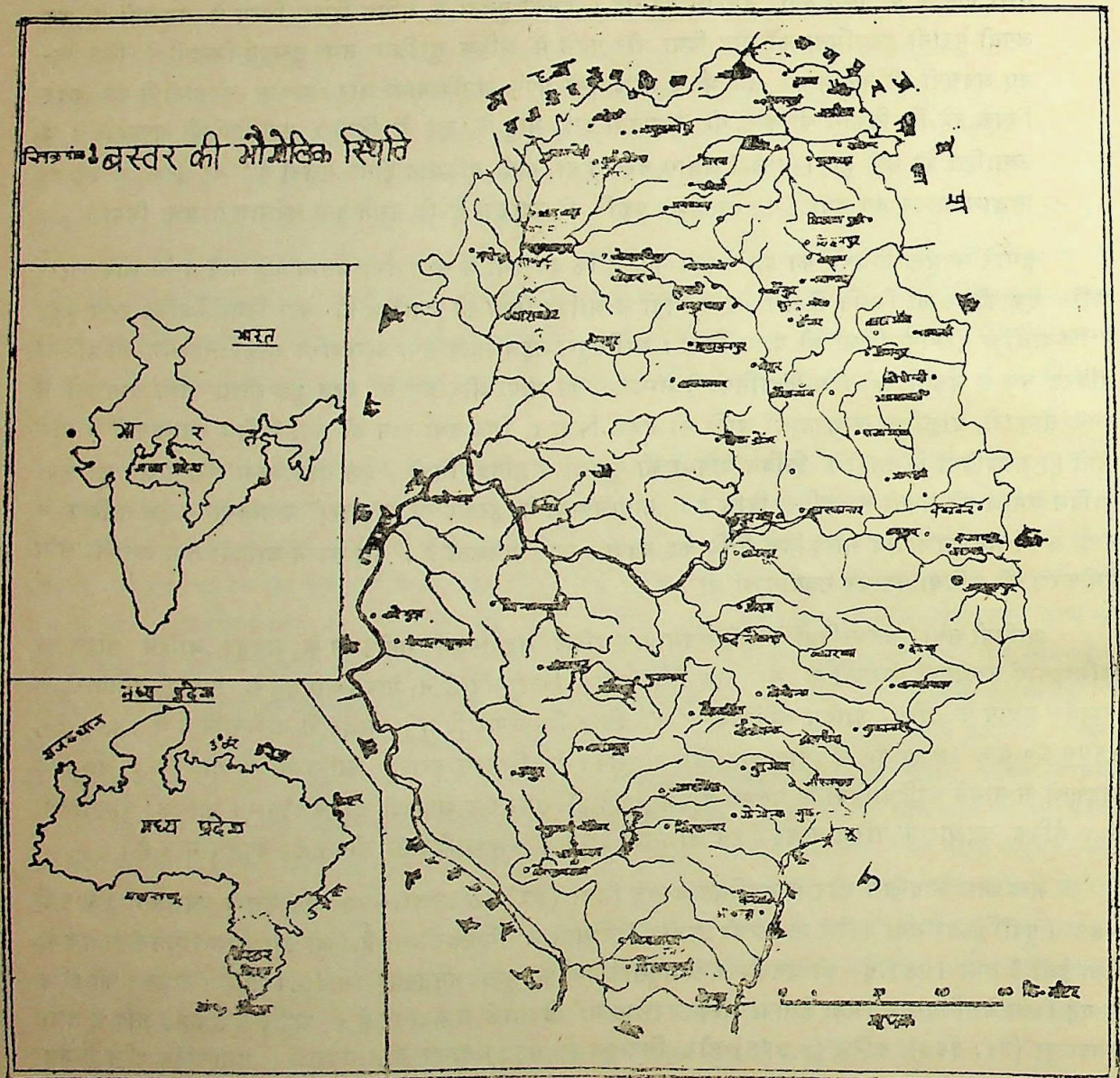
समूह बना कर नाचता है। गाता है। और बादलों की कामना करता है। उसका विश्वास है कि कामना करने से बरसात जरूर होगी। वह पानी चाहता है, तो जरूर पानी बरसेगा। उसकी कामना सिद्ध होगी। इस विश्वास से कार्य में उत्साह, जोश और निष्ठा पैदा होती है। मेहनत एक अनिर्वचनीय आनन्द की वस्तु हो जाती है। सहज और मधुर। यह मंत्र-शक्ति ही बस्तर के आदिम मानव का विज्ञान है। यही उसका धर्म है। यही उसकी कविता है। यही उसकी कला है। और यही उसका जीवन है। जगत् और वाणी के प्रति बस्तर के आदिम मानव का यह मंत्र-विश्वास ही उसकी कला की विषय-वस्तु है।

वेदों की ऋचाओं में हमें इसी आदिम विश्वास की पवित्र, विशुद्ध और जीवन्त व्यंजना मिलती है। वैदिक जीवन का जिस किसी भी बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध था, उसे वैदिक ऋचाओं में जीवन-आवश्यकता के अनुरूप

सहज अभिव्यक्ति मिली है। कई बाह्य पदार्थों को उसने देवता के रूप में स्थापित किया। वैदिक देव तत्कालीन जीवन की आवश्यकता-विशेष ही का प्रतीक है। उसका रूप है। रंग है। आकार है। उपयोगिता है। वैदिक मानव के लिए अग्नि की बड़ी जबरदस्त उपयोगिता थी। इसलिए अग्नि की उसने अपनी ऋचाओं में स्तुति की है। वन्दना की है। उसे एक "देव" माना है। "देव" शब्द हमारे लिए रूढ़ हो गया है, पर वैदिक मानव के लिए इसका मूल अर्थ था—प्रकाश। जो वस्तु आँखों से दिख जाती हो या जिसका मानवीय इन्द्रियों से बोध किया जा सकता हो, उसे वैदिक मानव ने "देव" कह कर सम्बोधित किया है। अग्नि, वरुण, वायु, मरुत्, इन्द्र, सूर्य, उषा, सन्ध्या, सोम, पर्जन्य आदि ये ही तो हैं वैदिक देव। हर कदम पर इनकी आवश्यकता रहती थी। और वैदिक ऋचाओं में इसी आवश्यकता को दर्शाया गया है। जीवन-आवश्यकताओं के जीवन्त प्रतीक ही वैदिक जीवन की देवमालाएँ हैं। बस्तर के आदिम समाज में इन देवमालाओं के अन्यथा धर्म नाम की कोई अलग से चीज नहीं है। लय, गति, संगीत, नृत्य और छन्द आदिम कविता के रूप को निर्धारित करते हैं और उसकी विषय-वस्तु का निर्माण हमारी पौराणिक कथाओं द्वारा ही सम्पन्न होता है। बस्तर का आदिम मानव सूर्य, चन्द्र, बादल, हवा, आँधी, अग्नि, उषा और सन्ध्या आदि को सामूहिक रूप से अनुभव करता है। सारे समूह को इनकी आवश्यकता रहती है। इसलिए सामूहिक उद्वेग द्वारा ही आंतरिक भाव-जगत् को अभिव्यक्ति मिलती है। जीवन-आवश्यकता से सम्बन्धित वस्तु का आदिम कल्पना में अनुकरण किया जाता है। इसलिए आदिम कविता में अन्तर्निहित कल्पना एक सामाजिक छवि-चित्र का ही अंकन है—एक सामाजिक यथार्थ का ही बिम्ब है। उसकी व्यंजना में सारे समूह की चेतना व्याप्त रहती है। पुराणों के समान इनकी देवमालाओं के अन्तर्विरोधी कथातत्व ही इनके समाज की वास्तविक सच्चाई है। एक ही पदार्थ को यहाँ का आदिम मानव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्था के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है और उसको उसी विभिन्नता के साथ अनुभव भी करता है। पुराण-कथाओं में आदिम मानव की इन्हीं विविध अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण है। आज के बदले हुए यथार्थ में भले ही ये पौराणिक कथाएँ असंगत, अस्वाभाविक और कल्पनामात्र लगें, पर बस्तर के आदिम मानव का जीवनसत्य इन गाथाओं में अविकृत रूप से व्यंजित हुआ है; इसमें कोई सन्देह नहीं। आज इन पुराण-कथाओं के द्वारा यहाँ के आदिम मानव की अज्ञानता और वस्तु-जगत् को ठीक से न जानने की उसकी अवैज्ञानिक वृत्ति का भले ही हम उपहास करें; पर निस्सन्देह इन गाथाओं में कम-से-कम आदिम मानव की बेईमानी, कृत्रिमता, और मिथ्या आडम्बर तो कहीं लक्षित नहीं होता। वह अज्ञानता ही उसकी एक मात्र सच्चाई है, क्योंकि सत्य आकाश से गिरी हुई कोई आकस्मिक चीज नहीं होती। वह तो हमेशा समाज के बीच अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में, विशिष्ट क्रम से पैदा होता है। मनुष्य और प्रकृति का व्यवस्थित और सामूहिक संघर्ष ही सत्य का सृजनहार है। वस्तुजगत् के साथ मनुष्य का निरन्तर संघर्ष होता रहता है, उसी के बीच सत्य पनपता है। फूलता है। फलता है। सत्य यथार्थ ही का एक अंश है। और यथार्थ हमेशा बदलता रहता है। उसका कोई चरम और अन्तिम रूप नहीं होता। सत्य की सीमा है—स्वयं विश्व। सामयिक मर्यादा और सीमा के भीतर ही उसकी परख होनी चाहिए। बस्तर के आदिम मानव का सत्य आदिम वस्तु-जगत् और आदिम यथार्थ से मर्यादित है। और आज के सत्य की सीमा आज की बदली हुई वास्तविकता है। इसलिए आज के युग में सत्य को परखने के लिए जो माप-दण्ड हैं, उनसे बस्तर के आदिम यथार्थ की ठीक से नाप-जोख नहीं हो सकती।

वस्तुजगत् और यथार्थ इसलिए बदलता रहता है कि इनको बदलने के लिए मानवीय साधन बदलते रहे हैं। हमेशा बदलते रहे हैं। मानवीय शक्ति बदलती रही है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य के अस्त्र-शस्त्र बदलते रहे हैं। हमेशा बदलते रहते हैं। इसलिए वस्तुजगत् और यथार्थ भी हमेशा बदलता रहता है। मनुष्य जब

समाज बनाकर रहता है, तो जिन्दा रहने के साधन भी उसे अपने हाथों जुटाने पड़ते हैं। उसे खाने को धान चाहिए। शरीर ढाँपने के लिए कपड़ा चाहिए। सर्दी, गर्मी, आँधी, बरसात, हिंस्र पशु और प्रकृति के अन्य प्रकोपों से बचने के लिए उसे एक सुरक्षित मकान चाहिए। इन जीवन-आवश्यकताओं को खाली दो नंगे हाथों से तो पूरा नहीं किया जा सकता। औजारों का प्रयोग जरूरी है। निहायत जरूरी। इनके बिना तो मनुष्य कुछ भी काम नहीं कर सकता। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के खातिर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अपने ही हाथों निर्मित किए हुए औजारों का प्रयोग करना पड़ता है। ये औजार ही तो मनुष्य की इच्छा व आवश्यकता के अनुरूप भौतिक मूल्यों का निर्माण करते हैं। भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले इन उत्पादन-साधनों का आविष्कार तो मनुष्य स्वयं ही करता है, परन्तु आविष्कृत औजारों के अभाव में तो वह स्वयं भी अधूरा है। बिलकुल अधूरा। एकदम से अधूरा। औजार ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति है। एकमात्र शक्ति है। लेकिन यह शक्ति स्वयं में निष्क्रिय नहीं है। मनुष्य की चेतना के परे भी वह समाज में अपना कार्य हरदम करती रहती है। मनुष्य तो अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नए उत्पादन-साधनों का आविष्कार कर लेता है—आगे के परिणाम को बिना सोचे-विचारे। पर ये उत्पादन-साधन मनुष्य के पिछले सारे सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ डालते हैं और अपने हिसाब से नए सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। ये उत्पादन-साधन समाज को कभी एक जगह रुका नहीं रहने देते, उसे विकास की ओर अग्रसर करते ही रहते हैं। तो समाज के विकास की आखिरी जिम्मेदारी भौतिक मूल्यों को निर्मित करने वाले इन उत्पादन-साधनों पर आकर ठहरती है। तत्कालीन समाज की उत्पादन-शक्ति, श्रमविभाजन, वर्गविभाजन, उत्पादनसम्बन्ध, कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, रीतिरिवाज, सोचना-विचारना आदि सब कुछ इन्हीं उत्पादन-साधनों पर निर्भर करता है।

बस्तर के आदिम उत्पादन-साधनों के कारण ही तत्कालीन समाज के आदिम विश्वास, आदिम कला और आदिम संगीत का वह आदिम रूप है। अविकसित उत्पादन के साधनों की वजह से यहाँ के आदिम जीवन में चिरकाल तक कोई वैविध्य नहीं मिलता। इसलिए यहाँ के आदिम मानव के व्यवहार, उसके चिन्तन और उसकी कला में भी विविधता नहीं थी। सिवाय शारीरिक भिन्नता के सब कुछ समान था। कालान्तर में उत्पादन के साधनों में जब यहाँ विभिन्नता आई, तो यहाँ कुम्हार, लुहार, महरा, चमार, घड़वा, गाँडा, पनरा आदि उत्पन्न हुए। और काम करने के तरीके व औजार भिन्न होने के कारण ही जीवन में विविधता प्रवेश करती गयी। जीवन की विविधता के अनुरूप चिंतन, व्यवहार, रहन-सहन, तथा कला के क्षेत्र में भी वैविध्य उत्पन्न हो गया।

इनमें लिपिबद्ध भाषा का आविष्कार न होने के कारण साक्षरता के अभाव में साहित्य की मर्यादा केवल वाणी तक ही सीमित है। उसका आधार सर्वथा मौखिक ही है। आदिवासियों का सम्पूर्ण साहित्य उनकी देह के भीतर ही संचित है। स्मृति में या जिह्वा पर। वाणी के द्वारा इनमें जो भी नया साहित्य मुखरित होता है, उसे स्मृति के माध्यम से ही सुरक्षित रखना पड़ता है। और संचित किए हुए साहित्य को वाणी द्वारा वापिस प्रेषित किया जाता है। कविता में लय, गति, संगीत व छन्द के सम्मिश्रण से वाणी और स्मृति के संयोग का आसानी से निर्वाह किया जाता है। इसलिए बस्तर के आदिम मानव की सामूहिक प्रतिभा को व्यक्त करने के लिए संगीत ही पूर्ण रूप से एकमात्र उपयुक्त साधन है।

समय आगे बढ़ता रहा। फिर भला बस्तर का आदिवासी कैसे पीछे रहता! परम्परागत अनुभव और ज्ञान के सहारे वह समय के साथ कदम मिलाता हुआ आगे बढ़ा; क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने की समग्र जिम्मेदारी अब स्वयं उसके कन्धों पर आ पड़ी थी। और जिम्मेदारी को निबाहने के लिए उसे अपने औजारों

का ही भरोसा था। इसलिए उत्पादन-साधनों में बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप उसने अपने तरीकों को बदला। विकसित औजारों की मदद से जीवन-आवश्यकताओं को पूरा करना धीरे-धीरे बस्तर के आदिवासी के लिए सुगम एवं सरल काम बन गया। वह पहिले की अपेक्षा काफी कम समय में अपनी जरूरतों को पूरा कर सका। अब उसे अन्य जीवन-समस्याओं पर सोचने-विचारने के लिए काफी समय मिलने लगा।

बस्तर के आदिम समाज की सामूहिक एकरूपता शताब्दियों तक अक्षुण्य बनी रही, किन्तु जब प्रकृति ने समाज के भीतर प्रवेश किया तो जनजातियों के बीच झगड़ा पैदा हो गया। झगड़ा भी इस तरह का जो पहिले कभी नहीं था। इससे पहिले भी कबीले आपस में लड़ते थे। हमला करते थे। मरते थे। पर जन-समाज के बीच यह आपसी जन-संघर्ष अपनी तरह का एक सर्वथा नया ही संघर्ष था। प्रकृति के एक घनिष्ठ सम्बन्ध ने अखण्ड मानवता के बीच फूट पैदा कर दी। इस संघर्ष का उल्लेख हमें नागयुग के मधुरान्तकदेव के एक अभिलेख में मिलता है।

अब प्रकृति के साथ यहाँ के आदिम मानव की लड़ाई तो गौण हो गयी और प्रधान बात हो गयी एक आदिम जन का दूसरे आदिम जन के साथ आपसी वैर। परम्परागत अनुभव, ज्ञान और औजारों के सुधरे रूप की ताकत के सहारे आदिवासी प्रकृति से जबरदस्ती वसूली करना सीख गया। प्रकृति को ज्यों-ज्यों आदिम मानव ने गहराई के साथ बेधना प्रारम्भ किया, हल की नोंक से ज्यों-ज्यों उसकी छाती को गहरे घावों से रौंदना शुरू किया, त्यों-त्यों वह आदिवासी की झोली में अधिक से अधिक धान भरने लगी। अब वह आदिम मानव हलवाहक (हलबा) बन गया। उसने हाथ में हल थामा, मानों प्रकृति की कलाई को ही उसने अपनी मुट्ठी में कस कर पकड़ लिया हो। बैलों की फुरणियों में नाथ क्या डाली, मानों प्रकृति को ही लगाम देकर उसने अपने वश में कर लिया। पर प्रकृति की यह विजय आदिवासी की अपनी करारी हार बन कर रह गयी। वह अब दूसरी जनजातियों का स्वामी हो गया (1320 ई० का काँकेर का प्रस्तराभिलेख, जिसमें हलबाओं को शासक बताया गया है)। आदिवासी ही आदिवासी का गुलाम हो गया। अब कविता में सामूहिक कथा ने प्रवेश किया तो वह 'धनकुल' तथा 'घोटुलपाटा' आदि महा-काव्य में परिणत हो गए। नृत्य में कथा ने प्रवेश किया तो उसने 'नाट' का रूप धारण कर लिया।

कालदेवता की गति क्षण भर के लिए भी अवरुद्ध नहीं होती। वह अविराम गति से आगे बढ़ता रहता है। समय बदला। परिस्थितियाँ बदलीं। बदली हुई परिस्थितियों में आदिवासियों का एक वर्ग राज्यपद पर आसीन हो जाता है। आत्मरक्षा के लिए तब युद्ध जरूरी था। इसलिए राजा भी जरूरी था। जिस युद्धरत कबीले के पास राजा नहीं होता था, उसकी अक्सर हार हुआ करती थी। इसलिए एक व्यक्ति को सामूहिक रक्षा और सैन्य-संचालन का भार सौंपना अनिवार्य हो गया। सामूहिक सत्ता, सामूहिक सामर्थ्य, सामूहिक शक्ति और सामूहिक सम्पत्ति को व्यक्ति के हवाले करना पड़ा। बस्तर के इतिहास में 350 ई० से 920 ई० तक शासन करने वाले नल राजा तथा 920 ई० से 1320 ई० तक राज्य करने वाले छिन्दक नाग, यहाँ के प्राचीन आदिवासी कबीले से ही उभरे थे। जब जनता ने इन्हें स्वीकार कर लिया तो सैन्यसंचालन तथा सामूहिक रक्षा के खातिर उन्हें राजा को 'कर' देना पड़ा। अब जमीन की उपज का एक नियमित हिस्सा उसके सुपुर्द करना एक सामूहिक कर्तव्य था। पर राज्य-पद पर अभिषिक्त होने पर आदिवासी कबीले के उन लोगों ने अपने को अपने ही रिश्तेदारों से पृथक् कर लिया। वे समूह से भी अधिक ताकतवर हो गए। नरबलि जैसे घृणित कार्यों को भी उन्होंने शासकीय घोषणा के मध्य माध्यम से वैध ठहरा दिया। वे मनमानी करने लगे। स्वयं को ईश्वर का प्रतिरूप घोषित कर दिया और दन्तेश्वरी के पुजारी के बहाने जनता के मनमस्तिष्क को मंत्रमुग्ध कर दिया। अब आदिवासी जनता इन राजाओं के इशारों पर

नाचने लगी। साहित्य, कला, और धर्म के माध्यम से इन्होंने अपनी हठधर्मिता को प्रचारित किया। समय के दौरान धीरे-धीरे यह घोषणा आदिम जीवन के संस्कारों से घुल-मिल गयी। जब राजा ही हजारों भैंसों के काटने से अपना राज्याभिषेक करता हो, जिससे शंकिनी और डंकिनी नदियों का पानी सप्ताहों तक लाल वर्ण का हो जाता हो, तो भला आदिवासी प्रजा राजा के इस सामूहिक बलि को ईश्वर का आदेश कैसे न मानती (1703 ई० का दन्तेवाड़ा-अभिलेख)। आदिवासी प्रजा राजा को ईश्वर के रूप में स्वीकार कर लेती है। उसका गुणगान करती है। वन्दना करती है। राजा के दर्शन को अपना सौभाग्य समझती है। इसी के साथ आदिवासी कविता भी अपना स्वर बदलती है। वह शक्ति, सम्पत्ति और सत्ता के पाँवों पर लोटने लगती है। 'मुण्डा' जैसे लोकगायक अब चालुक्य राजा का ही गुणगान करने लगे। सामूहिक चेतना को उभारना बन्द कर दिया। अब लोकगायक को मेहनत के पसीने से बू आने लगी। रेत, काँटे, पानी, धूप से वह अपना दामन बचाने लगी। आराम, सुगंध और ऐश्वर्य की तलाश के खातिर वह राजवाड़ा में जम कर रहने लगी।

आराम की तलाश में अकेली कविता ही राजा की शरण में नहीं आई थी। नृत्य और संगीत भी उसके साथ थे। लेकिन दरबारी ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा द्वेष के उस सर्वव्यापी वातावरण में उनकी एकता कायम नहीं रह सकी। कला का उद्गम स्थान राजा की रीझ-खीझ तक ही सीमित रह गया। सामूहिक आवश्यकता के कारण नृत्य, गीत, और वाद्य की पारस्परिक अभिन्नता है। पर कारण के दूर होने पर उसका प्रभाव भी दूर हो जाता है। फिर भला उसकी एकरूपता कैसे कायम रहती। संगीत गीत से बिछुड़ गया। वाद्यों में सिमट गया। नृत्य भी संगीत से जुदा होकर चुप्पी साध लिया। गूँगा हो गया। बस्तर के राजदरबार के साथ भतरा तथा हलबा जनजातियाँ जैसे-जैसे जुड़ीं, उनका संगीत तीनों अलग-अलग तहखानों में कैद हो गया। किन्तु इन आर्यबोलियों से बाहर द्रविड़ तथा मुण्डा बोलियों के समुदायों के पास आज भी जीवंत संगीत है, नृत्य है, एक धार्मिक कृत्य है, प्रार्थना है, आनन्द है, उल्लास है, और एक आवश्यकता है।

सामन्तयुग के अन्तर्विरोधों ने राजा को ताज पहिना कर सम्मानित किया था। उसे सोने के सिंहासन पर बैठाया था। दशहरे के अवसर पर विशालकाय रथ पर उसे बैठाकर ढोया था। उसकी पूजा करता था। और सामन्तयुग के अन्तर्विरोधों ने ही उसके सिर से वापिस ताज उतार लिया। अंग्रेज आए। उनका नया दमनचक्र प्रारम्भ हुआ। उन्होंने सभ्यता को जन्म दिया। उसी के साथ आई धन की लिप्सा। आर्थिक विषमता और आपसी भेदभाव बढ़े। धन के पीछे आदिवासी आदिवासी को पहिचानना भूल गया। आदिवासी ने ही आदिवासी का खून किया। 1910 ई० की सशस्त्र क्रान्ति इसका उदाहरण है।

पूँजीवादी व्यवस्था के आते ही संगीत बाजार में आकर खड़ा हो गया। आदिवासी संगीत देश-विदेश के बाजारों में बिकने लगा। नृत्य-मण्डलियाँ भोपाल और दिल्ली की यात्रा करने लगीं। आदिवासी साहित्यकार कला को बेंचना सीख गया। और इसके लिए दोनों को बाजार की प्रकृति का ध्यान रखना पड़ा। बाजार का हुक्म जो उसे मानना पड़ता है। संगीत का बाजार जो माँगता है, उसी माल की सप्लाई होती है। वह जनता की पाशविक वृत्तियों को उभारने या उत्तेजित करने के लिए घोटुल को अश्लीलता के नजरिए से प्रस्तुत करने लगा।

आदिवासी संगीत जैसे-जैसे समूह से कटता जा रहा है, वैसे-वैसे उसके वैयक्तिक होने का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। समूह यहाँ निरादृत हो रहा है। व्यक्ति पनप रहा है। समूह के प्रति उपेक्षा बरती जा रही है। इसलिए वैयक्तिकता के हाथों पड़ कर इस व्यवस्था में संगीत की बड़ी दुर्गति हो रही है। आज वह सरकारी अधिकारियों के मनोरंजन का साधन बन गया है। समाज के साथ उसका सम्बन्ध गायब होता जा रहा है (बस्तर के अधिकारी अपने घरों में आदिवासियों को नचाकर अपना मनोरंजन करते है)।

इधर बस्तर के पूँजीपति को अपनी पूँजी बटोरने के सिवाय किसी अन्य काम के लिए फुरसत नहीं है। और उधर बस्तर का आदिवासी आर्थिक संकटों में पिस रहा है। उसका आज जिन्दा रहना मुश्किल हो रहा है। ऐसी स्थिति में उसका संगीत भी आज पतन की पराकाष्ठा तक आ पहुँचा है। वह संगीत को भरे बाजार में बेंच रहा है।

आर्थिक संकट और बाजार के उतरते-चढ़ते भाव आदिवासी की जिन्दगी को अस्थिर बना रहे हैं। अब प्रकृति को भी वनविभाग ने आरक्षित कर लिया है, जहाँ उसे सुरक्षा नहीं मिलती। सुख और संगीत के लिए उसे अब अवसर ही नहीं मिल रहा है। बैलाडीला में मजदूर बन कर वह सिसक रहा है। अब दो खाली नंगे हाथों के सिवाय, अपनी देह को चलाने के लिए उसके पास कोई साधन नहीं है। मजदूर की मेहनत से सामाजिक उत्पादन होता है, लेकिन उसकी मेहनत से संगीत पैदा नहीं होता। अपना संगीत अपने संस्कारों से उसकी मेहनत को हलका और मीठा नहीं करता। वह कारखाने में मुँह बन्द कर गूँगा काम करता है। संगीत को फाटक के बाहर ही रोक दिया जाता है। उसके साथ संगीत भीतर प्रवेश नहीं कर पाता। संगीत से काम में खलल पड़ने का अंदेशा जो है।

जिस संगीत ने बस्तर के आदिवासियों की आदिम असहाय अवस्था में दुःख व कठिनाइयों का सामना करने के लिए उनका साथ दिया था, उन्हें परिस्थिति के साथ जूझने के लिए सामूहिक शक्ति का सम्बल दिया था, उस संगीत को यहाँ "सांगीतिक भाषाविज्ञान" के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संगीत को समझकर हम बस्तर की जनजातियों की सामूहिक शक्ति के विकसमान स्वरूप को समझ सकेंगे।

1.2. मुरिया-क्षेत्र की व्यापकता

प्रशासकीय दृष्टि से बस्तर को नौ (पहले आठ) तहसीलों में विभाजित किया जाता है, जिनमें नारायणपुर, अन्तागढ़, कोंडागाँव, भानुप्रतापपुर तथा काँकेर इन्द्रावती नदी के उत्तर में अवस्थित हैं। इनमें से प्रथम तीन तहसीलों के निवासी मुरियाभाषी हैं तथा अन्तिम दो तहसीलें छत्तीसगढ़ी-प्रधान हैं। भानुप्रतापपुर और काँकेर के नारायणपुर एवं कोण्डागाँव से संलग्न क्षेत्रों में मुरियागोंडी का व्यवहार होता है (द्र० मानचित्र क्रमांक-2)। इन तहसीलों में मिलने वाली गोंडी दुर्ग जिले की गोंडी के अधिक समनुरूप है और यह गोंडी बालाघाट जिले की गोंडी से अपेक्षाकृत दूर है।

नारायणपुर तथा अन्तागढ़ तहसीलें

कोंडागाँव की तुलना में नारायणपुर तथा अन्तागढ़ तहसीलों की जनसंख्या कम है (जनगणना प्रतिवेदन, जिला बस्तर, 1961)। इन तहसीलों में सांगीतिक तत्वों के प्रवाहक नौ राजमार्ग हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

(क) एक वन्यमार्ग 'बेरमा' नामक स्थान से आमाबेड़ा परगना जाता है, जहाँ से वह अन्तागढ़ की ओर निकल जाता है। इस मार्ग पर 'पेंजोरीं' नामक गाँव उच्च प्रस्त (प्रस्थ) पर बसा हुआ है तथा यहाँ से दो मील की दूरी पर 'सैमुर गाँव' है, जहाँ 'लिंगों' देवता का प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ से एक मार्ग 'मातलाघाटी' से अन्तागढ़ के निकट जाता है। अन्तागढ़ परगने की जनसंख्या अत्यधिक मिश्रित है तथा यहाँ मुरिया काँकेर के छत्तीसगढ़ी-भाषी गोंडों से पर्याप्त प्रभावित हैं। अन्तागढ़ नारायणपुर तहसील का प्राचीन मुख्यालय है; अतएव यहाँ प्राचीन काल से ही छत्तीसगढ़ के अनेक निवासी आकर बस गए हैं।

(ख) अन्तागढ़ से एक मार्ग 'कोइलीबेड़ा' परगना होते हुए नारायणपुर को निकल जाता है। इस मार्ग से जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, छत्तीसगढ़ का प्रभाव कम होता दिखाई देता है और मुरिया-संस्कृति का प्राधान्य मिलता है।
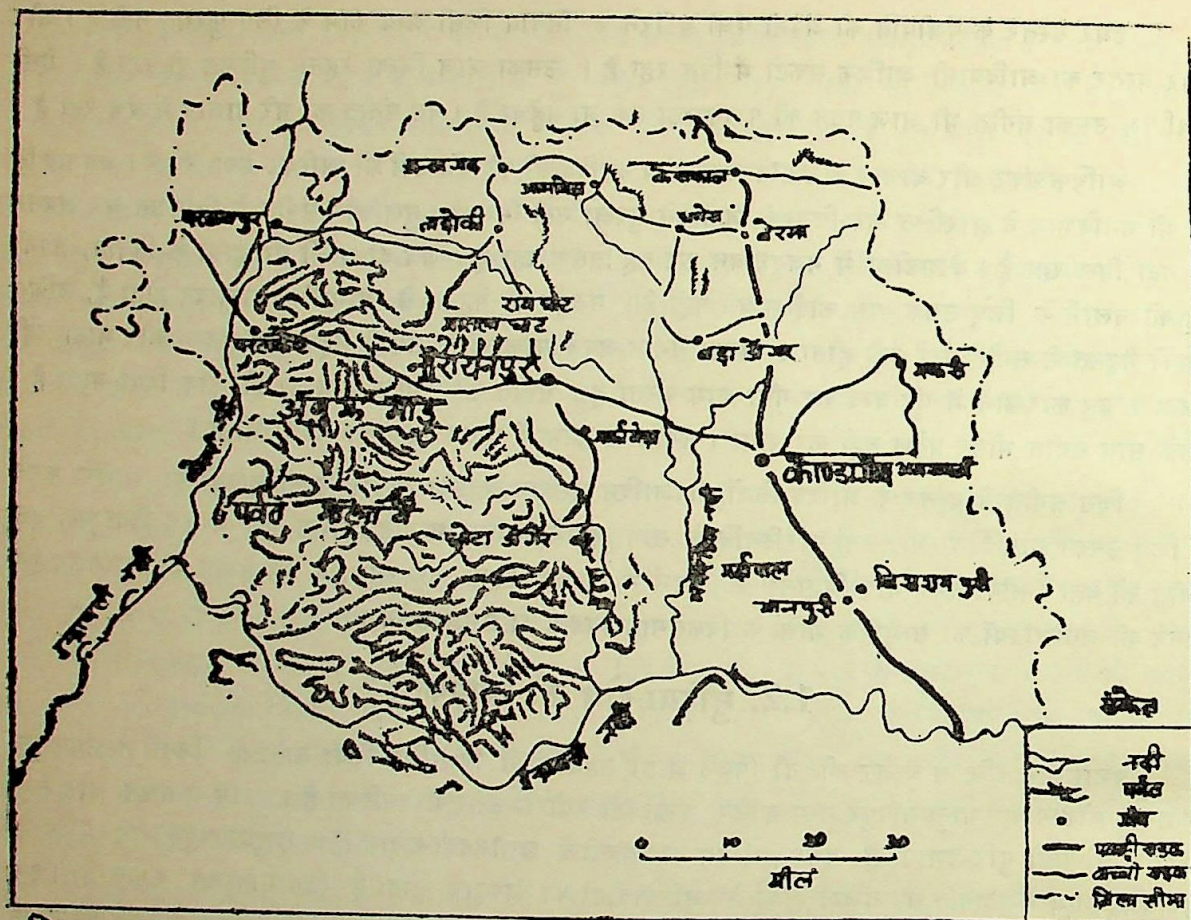
चित्र-क्रमांक 2 : मुरिया-क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति

(ग) अन्तागढ़ से एक राजमार्ग परवांजुर होते हुए भानुप्रतापपुर निकल जाता है। इस क्षेत्र के भाषा-भाषी छत्तीसगढ़ी और मराठी से प्रभावित हैं।

(घ) अन्तागढ़-राजमार्ग से जैसे ही हम नारायणपुर की ओर बढ़ते हैं, वैसे ही ताड़ोकी नामक स्थान मिलता है। 'ताड़ोकी' से एक वन्य मार्ग परवांजुर होते हुए भानुप्रतापपुर को गया है।

(ङ) इसी प्रकार अन्तागढ़ से एक पहाड़ी रास्ता काँकेर की ओर जाता है, जो इस तहसील को विशुद्ध छत्तीसगढ़ी से जोड़ने का कार्य करता है।

(च) अन्तागढ़ से पश्चिमोन्मुख होते हुए भानुप्रतापपुर से एक मार्ग दुर्ग की बालोद तहसील को स्पर्श करता है।

(छ) नारायणपुर से जाने वाला राजमार्ग पर्वतीय क्षेत्रों के मध्य होकर गुजरता है तथा वह इसे अबूझमाड़ क्षेत्र से जोड़ देता है। 'सोनपुर' के हलवा क्षेत्र को पार करने के पश्चात् यह पहाड़ी रास्ता अबूझमाड़ के हृदयस्थल में प्रवेश करता है, जहाँ से होकर यह परलकोट एवं परतापपुर को निकल जाता है। परतापपुर के निकट यह मार्ग वर्तुलाकार होकर पूर्व की ओर जाता है तथा अन्तागढ़ में मिल जाता है। यह मार्ग कोतरी नदी के समानान्तर चलता है।

(ज) नारायणपुर से एक मार्ग 'छोटा डोंगर' होता हुआ ओरछा निकल जाता है और इस प्रकार यह नारायनपुर को दक्षिणी अबूझमाड़ से जोड़ने का कार्य करता है।

(झ) नारायणपुर से इसी प्रकार एक राजमार्ग अन्तागढ़ की ओर निकल जाता है। यहाँ दो तहसीलों के मध्य 'बेनूर' नामक गाँव है, जो हिन्दुओं का प्राचीन मुख्य स्थान माना जाता है।

इसी प्रकार, चूँकि राजमार्ग सांगीतिक परिवर्तनों के उद्वाहक बन गए हैं, अतएव इस सन्दर्भ में इनका विवरण आवश्यक माना गया है। इन्हीं राजमार्गों से मध्ययुग में इस क्षेत्र में बंजारों का प्रवेश हुआ था (ब्रिटिश ट्रेवलर्स इन नागपुर टेरीटरीज, जे० टी० ब्लंट, 1795 ई०)। 19वीं और 20वीं शताब्दी में अनेक चपरासी, कांस्टेबिल, एवं व्यापारियों, आदि का आगमन भी इन्ही मार्गों से हुआ। वैसे यह बात भी उल्लेखनीय है कि केशकाल से जगदलपुर जाने वाले राजमार्ग को छोड़कर यहाँ कोई अन्य मार्ग वर्षा ऋतु में यात्री गाड़ी के लिए उपयुक्त नहीं है (द्र० मानचित्र क्रमांक-3)।
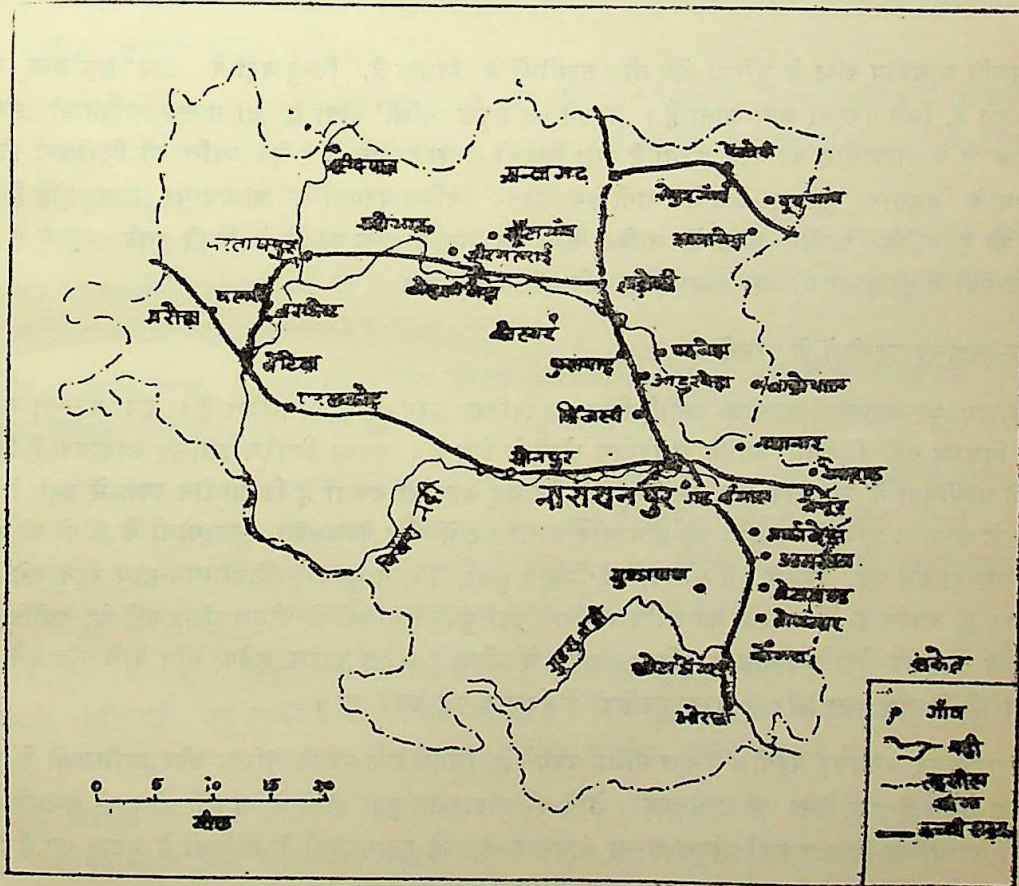
चित्र-क्रमांक 3 : नारायनपुर तहसील के ग्रामों का सांगीतिक सर्वेक्षण

कोंडागाँव तहसील

कोंडागाँव बस्तर के उत्तर-पूर्वी पठार पर स्थित है, जिसकी समुद्र तल से ऊँचाई लगभग 2400 फुट है। यह उत्तर में तेलिनघाट से लेकर दक्षिण में तुलसीडोंगरी एवं पूर्व में जयपुर तथा कालाहंडी तक विस्तृत है। इसके

पश्चिम में मातलाघाट नामक पर्वतमालाएँ हैं, जो वेनूर से कारीकोट तक प्रसृत दक्षिणी पर्वत-श्रृंखलाओं में विलीन हो जाती हैं। इस तहसील में प्रमुख दो नदियाँ हैं :—

(क) भँवरडिग नदी कोंडागाँव पठार के उत्तर-पूर्वी सीमा से प्रवाहित होती है तथा लंजोरा के समीप प्रमुख राजमार्ग को पार करती हुई आगे बढ़कर मालकोट के निकट गोलायमान गति से बढ़ती है, जहाँ अल्वा ग्राम के पास यह कोंडागाँव-नारायणपुर मार्ग को काटती है। इसी प्रकार लतागुल्मों के वितानों में विचरण करती हुई अन्त में बयानार नामक गाँव के समीप यह बरोदा नदी से मिल जाती है।

(ख) बरोदा नदी आमाबेड़ा परगना से निकलकर कोंगुर परगने में प्रवेश करती है और अन्त में कारीकोट के निकट इन्द्रावती नदी में विलीन हो जाती है।

कोंडागाँव तहसील में पाँच प्रमुख राजमार्ग हैं, जो इसे इतर क्षेत्रों से जोड़ते हैं।

निष्कर्ष

यद्यपि शासकीय दृष्टि से मुरिया क्षेत्र तीन तहसीलों में विभक्त है, किन्तु यहाँ के लोग एक अन्य प्रशासन को ही जानते हैं, जिसे परगना कहा जाता है। परगने का प्रमुख 'माँझी' होता है, जो समस्त आदिवासी झगड़ों का निपटारा करने में न्यायाधीश का कार्य करता है तथा जिसकी आज्ञा परगने के प्रत्येक व्यक्ति को शिरोधार्य होती है। मेरे सर्वेक्षण के अनुसार 'मुरिया' क्षेत्र में सांगीतिक अन्तर विविध परगनों के आधार पर प्राप्त होते हैं। ऐसा सकारण भी है, क्योंकि प्राचीन काल में आदिवासियों का सम्पर्क एक परगने से किसी दूसरे परगने में किन्हीं विशिष्ट उत्सवों में ही होता था, जो राजा द्वारा परिचालित होते थे।

नारायनपुर-अन्तागढ़ तहसीलों के परगने

नारायनपुर-अन्तागढ़ तहसील अधोलिखित पारंपरिक परगनों में विभाजित हैं। इन परगनों का कोई शासकीय विवरण नहीं मिलता, क्योंकि ये विविध गोत्रों के क्षेत्र हैं। इनका विवरण इसलिए आवश्यक है कि गोत्र-क्षेत्र इनकी प्राचीनता के उपलक्षक हैं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में यहाँ के मुरिया लोग गोत्र के अनुसार भूमि के स्वामी रहे होंगे और कालान्तर में गोत्र के अंतर्गत इतर गोत्रों के लोगों को स्वीकार करने की परंपरा बन गई, जिससे ऐसे घोटुलों का विकास हुआ, जिनमें युवक-युवतियाँ साथ-साथ रहने लगे। जिन गाँवों में एक ही प्रकार के गोत्र वालों का आधिपत्य था, वहाँ युवक-युवतियों के घोटुल संभव नहीं थे; क्योंकि एक ही गोत्र के लोगों के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध मुरिया प्रजाति में वर्जित है। इस कारण अनेक गोत्र वाले गाँव बने, जिससे घोटुलों का भी निर्माण हुआ और वे युवक-युवतियों के विश्राम-गृह बनते गए।

नारायनपुर अन्तागढ़ तहसील में कुल सोलह परगने हैं, जिनमें सात परगने मुरिया और छत्तीसगढ़ी के संक्रांति-क्षेत्र कहे जा सकते हैं। मुरिया एवं छत्तीसगढ़ी क्षेत्रों की व्यापकता एवं दोनों के संक्रांति-क्षेत्र को समझने के लिए इन परगनों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो इन परगनों के माँझियों से जुटाए गए हैं :—

(1) आमाबेड़ा परगना : तहसील के उत्तर-पूर्वी छोर पर यह परगना स्थित है, जो कोंडागाँव तहसील व कांकेर तहसील से संलग्न है। यहाँ के परगने में आर्य भाषा की ही एक उपशाखा अर्थात् छत्तीसगढ़ी एवं द्रविड़ परिवार की मध्यवर्तिनी शाखा की एक उपशाखा 'मुरिया' बोली व्यवहृत होती है। इस परगने के क्रमशः बोरगाँव, केसरबेड़ा, पदरगाँव, राजपुर और सेंगुर प्रमुख ग्राम हैं।

(2) **अन्तागढ़ परगना :** सन् 1940 ई० के पूर्व अन्तागढ़ नारायनपुर तहसील का मुख्यालय था। यह परगना प्राचीन बस्तर की उत्तरी सीमा पर स्थित है। अन्तागढ़ परगने में छत्तीसगढ़ी संगीत का अधिक प्रचलन है। इस परगने को अन्य परगनों की तुलना में छत्तीसगढ़ी संगीत ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। अन्तागढ़ से (तथा वहाँ से दस मील दूर कोड़ोखसगाँव से) मैंने विपुल सामग्री का संकलन किया है। इस परगने के कुटुमकोड़, जयताल, पेवारी, गोदरी, तथा नवागाँव मुरिया और छत्तीसगढ़ी-भाषी हैं, जबकि बुलवंद, गर्दा, तिमोड़ा, कलगाँव, कानागाँव, कारीफोदरा, खोरपानी में लोगों की मातृभाषा छत्तीसगढ़ी है। यहाँ मुरिया बोली को कुछ वृद्धजन ही जानते हैं। इन गाँवों में छत्तीसगढ़ी का इतना प्राधान्य है कि किसी भी मुरिया युवक को मुरिया नहीं आती। मुरिया बोली को वे भूल गये हैं। मुरिया-संगीत भी लुप्तप्राय है।

(3) **बन्दादेश परगना :** यह परगना उत्तर-पश्चिम किनारे पर दुर्ग जिले की सीमा से लगा हुआ है। अत्यधिक घने जंगल एवं पहाड़ी क्षेत्र में बसे होने के कारण यहाँ की यात्रा बहुत कठिन है। यह परगना भी अन्तागढ़ के समान छत्तीसगढ़ी व गोंड़ी-भाषियों का है। यहाँ के प्रमुख गाँव इस प्रकार हैं—छिंदपाल, देवरा, ढोरकट्टा, एरगुट्टा, जुगानी, मुरमुर आदि।

(4) **बड़ागाँव परगना :** यह परगना तहसील के पूर्वी छोर पर स्थित है, जिसके दक्षिण में झोरिया परगना है। अतएव यहाँ की विभाषा झोरिया परगना के ही समान है। यहाँ के गाँवों में अमसरा, बोरपाल, देवगाँव, एड़का, कानागाँव, खाड़कागाँव, खुरपई आदि हैं।

(5) **बेनूर परगना :** यह परगना नारायनपुर तहसील के उत्तर में कोंडागाँव से लगा हुआ है। यहाँ हलबी और मुरिया का प्रचलन है। आटपाल, बेनूर, माठपाल, कलेपाल, खरगाँव, केलियारी, मेटावंड, नयानार, नेतानार, रेमावंड और सिरपुर यहाँ के प्रमुख गाँव हैं।

(6) **भोंमरा परगना :** वस्तुतः यह परगना अबूझमाड़-परगना है, किन्तु तलहटी के चिलपरस, गोंडुल तथा पानीडोंगरी नामक गाँवों में मुरिया-भाषी रहते हैं। यहाँ छत्तीसगढ़ी का कोई प्रभाव नहीं मिलता।

(7) **छोटाडोंगर परगना :** इस परगने का दक्षिणी भाग अबूझमाड़ से लगा हुआ है। यहाँ से ओरछा के लिए एक मार्ग जाता है, जो अबूझमाड़-क्षेत्र का प्रवेश द्वार है। यहाँ के मुरिया अपनी जातीय बोली के अतिरिक्त दूसरी विभाषा के रूप में हलबी का भी प्रयोग करते हैं। अबूझमाड़ से लगे हुए गाँवों के लोग अबूझमाड़ी भी समझ और बोल लेते हैं। यहाँ अबुझमाड़िया-संगीत का प्रभाव देखने को मिलता है।

(8) **दूगाल परगना :** नारायनपुर तहसील के उत्तर में स्थित दूगाल परगना के लोग त्रिभाषी हैं। यहाँ के लोग मुरिया, छत्तीसगढ़ी, एवं हलबी तीनों बोलियाँ जानते हैं। वैसे मुरिया इनकी मातृभाषा है। यहाँ के गाँवों में आटुलवेड़ा, बिजली, दुगाबंगाल, गढ़बंगाल, केरलापाल, पालकी, माहका, सुलंगा प्रमुख हैं।

(9) **झोरिया परगना :** प्रारम्भ में झोरिया परगना दो थे। घाटझोरिया तथा बड़ाझोरिया; किन्तु सन् 1940 ई० के पूर्व घाटझोरिया को कोलर परगना में सम्मिलित कर दिया गया था। झोरिया परगना तहसील की पूर्वी सीमा पर कोंडागाँव तहसील के कोंगुर परगने से लगा हुआ है। यहाँ मुरिया के अतिरिक्त किसी अन्य विभाषा का व्यवहार नहीं होता। यहाँ के प्रमुख गाँवों में बन्दोपाल, कोंगेरा, पिपरा तथा तेलंगा हैं।

(10) **कड़ंगाल परगना :** यह परगना छोटा डोंगर और नारायनपुर के मध्य स्थित है। यहाँ मुरिया तथा दूसरी विभाषा हलबी का प्रयोग होता है। यहाँ के गाँवों में आमगाँव, मर्कावेड़ा, सरगीपाल आदि प्रमुख हैं।

(11) **कालपाटी परगना** : 'कालपाटी' शब्द मुरिया में निम्न भूमि का वाचक है, जिसे तहसील का उत्तरी क्षेत्र कहा जा सकता है तथा जो छत्तीसगढ़ी के मैदानी क्षेत्रों से संलग्न है। यहाँ के मुरिया द्विभाषी हैं तथा वे लोग अपनी बोली मुरिया के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ी का भी प्रयोग करते हैं। संप्रति 'कालपाटी' के स्थान पर इसे 'कोइलीबेड़ा' परगना भी कहा जाता है। खूंटागाँव, कोइलीबेड़ा, मरागाँव, मुरनार, तथा सुलगी यहाँ के कुछ उल्लेखनीय गाँव हैं।

(12) **किड़िगाल परगना** : यह अबूझमाड़ से संलग्न परगना है। इस कारण यहाँ अबूझमाड़िया बोली से मिश्रित मुरिया बोली का प्रयोग होता है। यहाँ के गाँवों में बारकोट, कड़ेकट्टा, तथा पाली प्रमुख हैं।

(13) **कोलर परगना** : अन्तागढ़ तथा नारायनपुर के मध्य में स्थित कोलर एक बहुत बड़ा परगना है। यहाँ के लोग द्विभाषी हैं। यहाँ पर भी मुरिया और छत्तीसगढ़ी दोनों का ही प्रचलन है। उन गाँवों के नाम जिनमें मुरिया और छत्तीसगढ़ी दोनों बोलियों का व्यवहार होता है, इस प्रकार हैं—बदरेंगी, बोंदानार, चिपोड़ी, ताड़ोकी, कोलर, मुरनार, पाटबेड़ा, तालबेरा आदि।

(14) **नारायनपुर परगना** : यह एक लघु परगना है, जो नारायनपुर के आस-पास के गाँवों में सम्बद्ध है। इस परगने में बाह्य प्रवाह अधिक है। इस कारण यहाँ की जनता त्रिभाषी है, अर्थात् यहाँ के मुरिया लोग अपनी मातृभाषा मुरिया बोली के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ी तथा जनसाधारण की भाषा हलबी भी जानते हैं। इस परगने के माध्यम से मुरिया-क्षेत्र में फिल्म-संगीत का तेजी के साथ प्रसार हो रहा है।

(15) **परलकोट परगना** : परलकोट परगना तहसील की पश्चिमी सीमा पर है। इसके अंतर्गत प्राचीन जमीदारी भी सम्मिलित है। इस परगने की चाँदा क्षेत्र से संलग्नता के कारण यहाँ महाराष्ट्र की संस्कृति और विभाषा का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ की मुरिया में अबूझमाड़िया एवं मराठी दोनों का ही प्रभाव मिलता है। इस परगने में अधोलिखित गाँव प्रमुख हैं—इरपानार, कन्हारगाँव, कुरेनार, मारकानार, मरोड़ा, नागलदण्ड, पारेंगा आदि।

(16) **सुरेवाही परगना** : यह अन्तागढ़ तथा कालपाटी परगनों के मध्य स्थित है तथा उन्हीं के समान यहाँ भी मुरिया की अपेक्षा छत्तीसगढ़ी का अधिक प्रभाव है। आमोली, चारगाँव, जेठगाँव, नवागढ़, आदि इस परगने के प्रमुख गाँव हैं। (द्र० मानचित्र क्रमांक-4)।

कोड़ागाँव तहसील के परगने

(1) **अमरावती परगना** : यह कोंडागाँव के पूर्व में स्थित है तथा इसके अंतर्गत 'मकरी' का सुरक्षित वन्य प्रदेश आता है। इस परगने में मुझे मुरिया भाषी गाँव नहीं मिले। इस क्षेत्र के 'दुरलीगुटसरा' तथा 'गुमरी' नामक गाँवों में उड़िया और भतरी का साम्राज्य है। इस परगने के माध्यम से उड़िया-संगीत तथा नाट्य शेष परगनों में प्रभविष्णु हो रहे हैं।

(2) **अंवरी परगना** : यह परगना 'केशकाल' एवं 'कोंगुर' परगने के पूर्व में पहाड़ी स्थान के अंतर्गत है। यहाँ के प्रमुख गाँवों में चारबेरा, हर्राकोदो, खेतरपाल, कोंगेरा, कोसमी, नवागढ़, नयानार, निराछिंदली, पलोरा, तथा सोनपुर आते हैं। यहाँ के गाँवों में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। मुरिया बोली को जाननेवाला मुझे एक भी व्यक्ति नहीं मिला। यह विशुद्ध रूप से छत्तीसगढ़ी-संगीत का क्षेत्र है।

(3) **बमनी परगना** : यह कोंडागाँव के दक्षिण-पश्चिम में एक लघु परगना है जिससे लगा हुआ गोरवंड नामक सुरक्षित वन है। यहाँ के प्रमुख गाँवों में बमनी, बोरगाँव, घनसुली व तोहार है। इन गाँवों में हलबी व मुरिया बोली जाती है।
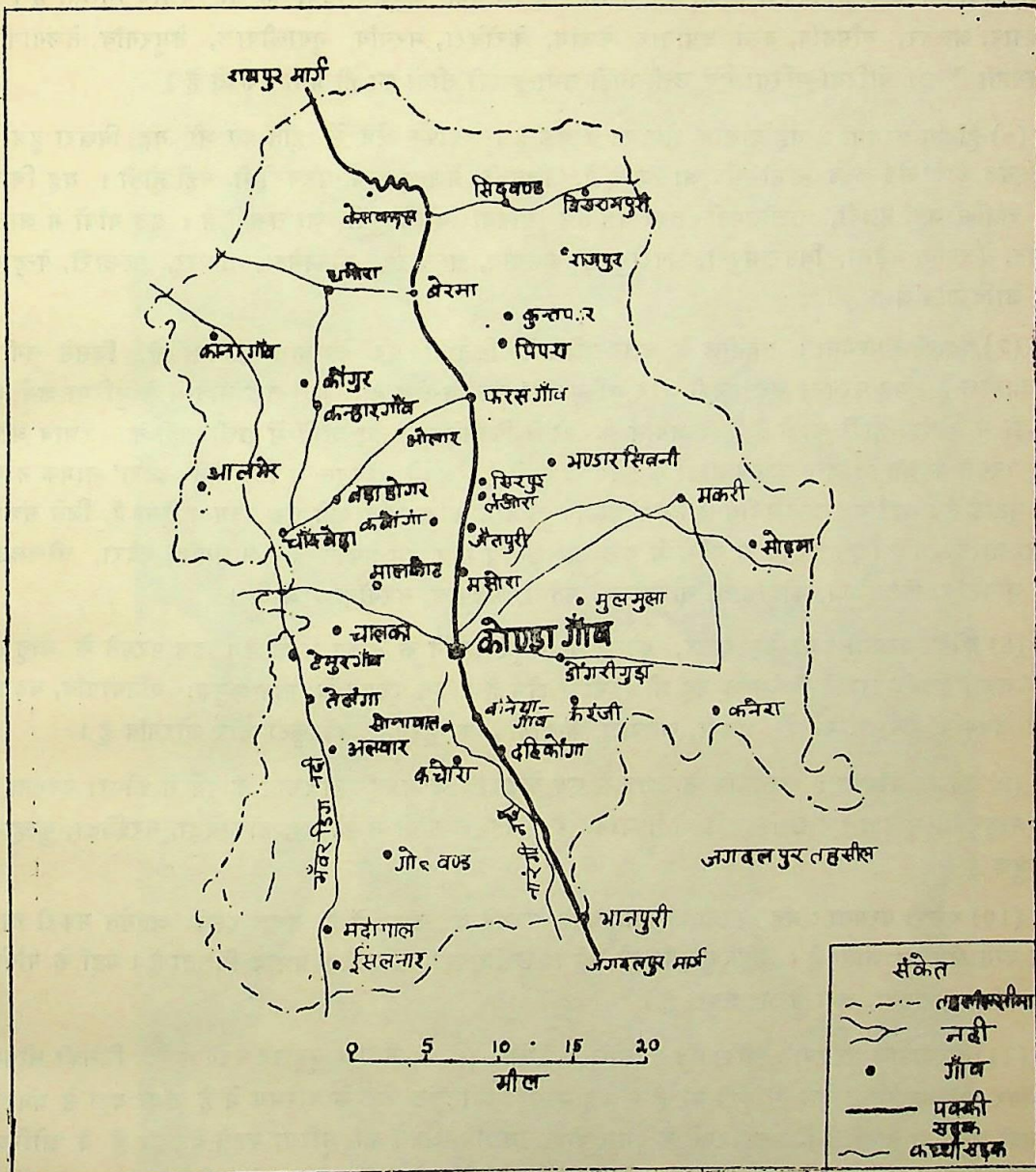
चित्र क्रमांक-4 : कोण्डागाँव तहसील के ग्रामों का सांगीतिक सर्वेक्षण

(4) **बंगोली परगना :** यह नारायनपुर तहसील से लगा हुआ है, जो पश्चिम में पड़ता है। यहाँ के वनछबई, बंगोली, छिमरी, छियानार, केलाकोट, तथा भोरेंगा आदि गाँवों में भी मुरिया और हलबी का प्रयोग होता है। अर्थात् यह क्षेत्र भी द्विभाषी है।

(5) **चालका परगना :** यह झोरिया लोगों का परगना है, जो कोड़ागाँव तहसील के पश्चिम में नारायनपुर-छोटाडोंगर-राजमार्ग के समानांतर स्थित है। बँवरडीक नामक नदी इसी परगने से प्रभावित होती है। इस परगने

की भाषा कोंडागाँव के अन्य परगनों से इस रूप में भिन्न है कि यहाँ अबूझमाड़िया का भी प्रभाव मिलता है। वैसे यहाँ अडनार, अलवर, बाँसगाँव, बर्का, बयानार केजांग, केरोबेरा, मरगाँव, नुगालीपाल, तेमुरगाँव, तेलंगागाँव में लोग त्रिभाषी हैं, जो झोरिया-मुरिया एवं छत्तीसगढ़ी तथा हलबी तीनों का ही प्रयोग करते हैं।

(६) **हटिया परगना :** यह बाजारू क्षेत्र का वाचक है। व्यापक क्षेत्र में होते हुए भी यह बिखरा हुआ है। इसके अंतर्गत कोंडागाँव के वे सभी गाँव आ जाते हैं, जिनकी गणना अन्य परगनों में नहीं होती। यह त्रिभाषी क्षेत्र है, क्योंकि यहाँ हलबी, छत्तीसगढ़ी तथा यत्र-तत्र मुरिया बोली सुनी जा सकती है। इन गाँवों में आलोर, बड़ाडोंगर, बेलगाँव, बेड़मा, बिसरामपुरी, ऊँगरीगुड़ा, कलगाँव, खल्लारी, कोकामेटा, नलपुर, पल्लारी, पेन्ड्रावंड, सिद्दवंड आदि गाँव आते हैं।

(7) **केशकाल परगना :** तहसील के उत्तर-पश्चिमी किनारों पर केशकाल परगना है, जिससे लगी हुई कांकेर तहसील है। यह परगना छत्तीसगढ़ी और मुरिया का संक्रांति-क्षेत्र है। यहाँ तक आते-आते मुरिया शनैः-शनैः छत्तीसगढ़ी में विलीन होती जाती है। राजमार्ग के दोनों किनारे बसे हुए गाँवों में छत्तीसगढ़ी का प्रभाव अत्यल्प है, किंतु परगने के अंतर्गत अन्य दूरस्थ गाँवों के लोग द्विभाषी हैं। अपने अध्ययन के लिए मैंने 'बदरा' नामक गाँव से सामग्री जुटाई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोंडागाँव तहसील के अन्तर्गत यही एक परगना ऐसा है, जिसे संक्रांति-क्षेत्र कहा जा सकता है। इस परगने के गाँवों में कुछ उल्लेखनीय गाँव इस प्रकार हैं—आमगाँव, बदरा, चीखलडीह, हरवेल, जामगाँव, खलेचंदेली, कोदोभात, मानिकपुर, मतेंगा, मडपाल, सरगीपाल आदि।

(8) **कोंगुर परगना :** यह बड़ाडोंगर, कोलर व बेनूर परगने के मध्य स्थित है। इस परगने के मातृभाषी 'मुरिया' तथा 'हलबी' जानते हैं अर्थात् यह भी द्विभाषी क्षेत्र है। इस परगने के गाँव क्रमशः बनियागाँव, बड़गाँव, मातगाँव, देवगाँव, घनोरा, गवारी, मुकरी, कलेपाल, कानागाँव, कान्हरगाँव, कोरकुटी और ओरगाँव है।

(9) **कोपरा परगना :** फरसगाँव के उत्तर में एवं केशकाल जगदलपुर राजमार्ग के पूर्व में कोपरा परगना है। यहाँ के मातृभाषी मुरिया एवं छत्तीसगढ़ी दोनों जानते हैं। यहाँ के गाँवों में कोपरा, नोकावेड़ा, तरईवेड़ा, कुल्हाडीह आदि प्रमुख हैं।

(10) **मकरी परगना :** यह परगना अमरावती परगने के उत्तर में है तथा इसके अंतर्गत मकरी नामक सुरक्षित वन्य क्षेत्र आ जाता है। यहाँ मुरिया की अपेक्षा छत्तीसगढ़ी का अधिक प्रभाव मिलता है। यहाँ के गाँवों में बगबेड़ा, राँधना, सरसा, तथा सेरमा प्रमुख हैं।

(11) **मरदापाल परगना :** कोंडागांव तहसील के दक्षिण-पश्चिम में एक बृहत्तर परगना है, जिसकी सीमा से छोटा डोंगर एवं अबूझमाड़ कुछ ही दूरी पर हैं। यह परगना 'गोलवंड' वन के पश्चिम में है तथा यहाँ से भँवरडिग नामक नदी प्रवाहित होती है। इस परगने के मातृभाषी यद्यपि अपने को मुरिया कहते हैं, पर हैं वे 'झोरिया'; क्योंकि उनकी बोली अबूझमाड़िया और मुरिया का सम्मिश्रण प्रतीत होती है। यह उल्लेखनीय है कि नृतत्वशास्त्रियों ने 'मुरिया' को अबूझमाड़िया ही माना है, जो कि मैदानी क्षेत्र में आकर यहाँ बहुत पूर्व ही बस गए थे (ग्रिग्सन, माडिया गोंड्स आफ बस्तर, 1938, प्रथम अध्याय)। मैंने इस परगने के ईसलनार नामक गाँव से सामग्री जुटाई है। यह कोंडागाँव से आठ मील दूर है।

(12) **सामपुर परगना :** कोड़ागाँव के उत्तर में स्थित इस परगने के गाँव यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, जिनमें बदरा, बबई, बासकेट, भानपुरी, मीरगाँव, कोकेड़ी, कोशागाँव, आदि हैं। इस परगने में मुरिया बोली का प्रयोग नहीं होता है। यहाँ के मुरिया लोग हलबी भाषा का प्रयोग करते हैं।

छायाचित्र क्रमांक–1. मोटियारी

(13) **सोनपाल परगना** : सामपुर परगने के समान सोनपाल परगना के गाँव कोंडागाँव तहसील में इतने बिखरे हुए हैं कि उनकी कोई भौगोलिक समरूपता नहीं प्रतीत होती। यहाँ के गाँवों में बनियागाँव, बंजोरा, दहिकोंगा, जैतपुरी, कछोरा, कनेरा, कोड़ागाँव, लंजोरा, मालकोट आदि हैं। यहाँ के मुरिया लोग अपनी विभाषा मुरिया के अतिरिक्त हलबी भी जानते हैं।

इस प्रकार सर्वेक्षण से प्रतीत होता है कि कोंडागाँव तहसील से सम्प्रति 'मुरिया' का प्रभाव समाप्त होता जा रहा है तथा यहाँ के उत्तरी भाग में स्थित चालका, हटिया, केसकाल, कोपरा तथा मकरी इन पाँच परगनों में मुझे ऐसे मातृभाषी मिले हैं जो छत्तीसगढ़ी एवं हलबी दोनों ही जानते हैं।

कोंड़ागाँव में मुरिया के प्रभाव के क्षीण होने का कारण यह है कि वह छत्तीसगढ़ी क्षेत्र की काँकेर तहसील एवं रायपुर जिले संलग्न हैं। ऐसा प्रभाव आवश्यक ही है; क्योंकि छत्तीसगढ़ी-भाषियों की अधिक प्रतिष्ठा के कारण मुरियाजन उनकी बोली को स्वीकार करते जा रहे हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि केसकाल से जगदलपुर जाने वाले राजमार्ग के दोनों किनारों पर भानपुरी से पाँच मील की दूरी तक मुझे कोई ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ मुरिया-संगीत का प्रयोग होता हो। इस राजमार्ग के माध्यम से मुरियाक्षेत्र में छत्तीसगढ़ी तथा हलबी लोकसंगीत का प्रवेश हुआ है (द्र० मानचित्र क्रमांक 5)।
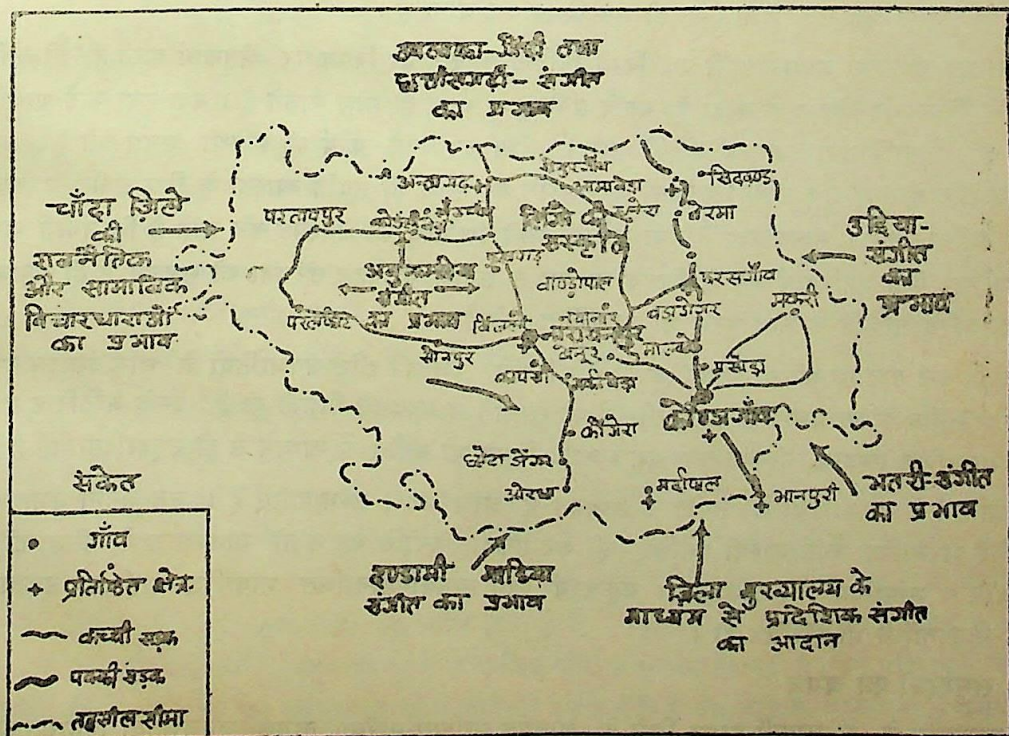
चित्र-क्रमांक 5 : मुरिया-संगीत पर बाह्य प्रभाव का रेखांकन

1.3. सांगीतिक सर्वेक्षण

1.3.1. संगीत, मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान

संगीत तथा जन-भाषा का अन्तर्विषयी अध्ययन "जनजातीय सांगीतिक भाषाविज्ञान" है। इस प्रकार का अध्ययन इस लक्ष्य से प्रेरित है कि उच्चरित तथा अनुच्चरित व्यवहार के रूप में जनभाषा और संगीत दोनों में अनुतान, लय तथा संकेत होते हैं। दोनों में एक सुनिश्चित सांकेतिक प्रणाली होती है।

जनसांगीतिक स्वर-समूहों तथा तालवाद्यों के बोल-समूहों में भी लय होती है। काल तथा स्थान के अनुसार लय नियमित होती है। यद्यपि संरचना की दृष्टि से भाषायी और सांगीतिक छन्द में अन्तर होता है, किन्तु वे सदैव एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। सांगीतिक छन्द कविता की भाषा में असामान्यता का एक दूसरा आयाम है, किन्तु इसके बावजूद सांगीतिक तथा भाषिक इकाइयों के बीच कुछ समनुहारिता होती है, जिससे श्रोता की भाषा में सामान्यता लाने में मदद मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है कि संगीत को मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए, जिससे उपेक्षित जनजातीय संगीत को उचित स्थान मिल सके।

संगीत एक सांस्कृतिक रूप है। एक ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें वाद्य, नृत्य, और गायन की स्थिति में काल और स्थिति के अनुसार व्यक्ति विविध अभिव्यक्तियाँ करता है। यह सांस्कृतिक रूप यद्यपि समय-बद्ध होता है, किन्तु इसके संरचित विषय के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों का एक दृश्य प्रकाशन होता है। इस रूप में यह मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान का ही एक विषय बन जाता है।

मानवशास्त्री तथा भाषाविज्ञानी जब किसी निर्दिष्ट समुदाय या विषय पर क्षेत्रकार्य करते हैं, तो संगीत-जैसा विषय उनके दिमाग से ओझल हो जाता है या वे संगीत को बहुत ही गौण मानते हैं। यदा-कदा कोई भाषाविज्ञानी नृत्य-गीत की रिकार्डिंग या जनजातियों की तस्वीर खींच कर अपने कार्य की इतिश्री समझ लेते हैं। अभी तक हमारी यह दृष्टि ही नहीं बन पायी कि किसी जनसंस्कृति या भाषा की सर्वांग व्याख्या के लिए संगीत के अध्ययन के महत्व को स्वीकार करें। मानवविज्ञानी तथा भाषाविज्ञानी इस तथ्य को विस्मृत कर जाते हैं कि संगीत जनजातीय संस्कृति का एक ऐसा अपरिहार्य अंग है, जिसके माध्यम से समाज की गहन संरचना को समझने में ही सहायता नहीं मिलती है, अपितु संस्कृति के अन्य घटक भी उद्भासित होते हैं।

बहुत कम मानवशास्त्री या भाषाविज्ञानी ऐसे मिलेंगे, जिनकी दृष्टि जनजातियों के सौन्दर्यशास्त्र पर जाकर टिकी हो। संगीत के माध्यम से हमें गूढ़ सौन्दर्य को समझने में मदद तो मिलती ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक संरचना, सामाजिक सम्बन्ध, संस्कार तथा दर्शन आदि विषय भी संगीत के माध्यम से ही उद्घाटित होते हैं।

इस रूप में जनजातियों के संगीत के अध्ययन में आज अनन्त सम्भावनाएँ हैं। उन अनन्त संभावनाओं की तलाश कोई पारम्परिक संगीतशास्त्री इसलिए नहीं कर सकता, क्योंकि वह न तो मानवशास्त्र के सिद्धान्तों से परिचित है और न भाषाविज्ञान में प्रशिक्षित। यह कार्य ऐसा मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञानी ही कर सकता है, जो संगीत के सिद्धान्तों से भी परिचित हो।

1.3.2. समुदायों का चयन

मध्यप्रदेश के दक्षिणवर्ती बस्तर जिले के अन्तर्गत माड़िया-मुरिया नामक जनजातियाँ निवास करती हैं। मुरिया जनजाति की जनसंख्या 1,50000 है, जब कि माड़िया-वर्ग की शाखा अबुझमाड़िया की जनसंख्या

15,000 और दण्डामी माड़िया की जनसंख्या 2,00000 है। माड़िया-मुरिया नामक ये जनजातियाँ भारतवर्ष के सबसे बड़े आदिवासी समूह गोंड (कुल जनसंख्या का 9 प्रतिशत) के अन्तर्गत वर्गबद्ध की जाती हैं, जिनकी विविध शाखाएँ मध्यप्रदेश के अतिरिक्त उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र के एक संलग्न क्षेत्र में फैली हुई हैं। गोंडों को 'प्रोटो-आस्ट्रोलाइड' प्रजाति का माना जाता है तथा ये मध्यवर्ती द्रविड़ परिवार की गोंडी का व्यवहार करते हैं।

मुरिया-माड़िया और उनके विविध उपवर्गों के मध्य मिलने वाली विभेदकता समाजवैज्ञानिक और भौगोलिक अधिक है। अबुझमाड़िया उत्तर-पश्चिम अबुझमाड़ की पहाड़ियों में निवास करते हैं, जो 3000 फुट ऊँची हैं। इनके गाँवों तक सड़कों के माध्यम से नहीं पहुँचा जा सकता है। यहाँ 'डाहीखेती' की परम्परा आज भी विद्यमान है एवं ये धनुष-बाण से वन्य पशुओं का शिकार करके अपना जीवन-यापन करते हैं। अब कुछ अबुझमाड़िया गाय और सुअर भी पालने लगे हैं। दण्डामीमाड़िया बस्तर के दक्षिणी-पठारी क्षेत्र पर रहते हैं, जो 2400 फुट ऊँचा है। कुछ लोग अब मैदानी क्षेत्रों में भी आकर बस गए हैं। दण्डामीमाड़िया कृषिजीवी हैं और ये हल से भी परिचित हो गए हैं। 'गँवर-सींग' लगाकर नृत्य करना इनकी विभेदक विशेषता है। जिले के पूर्वी तथा दक्षिणी भाग के दण्डामीमाड़िया मुरिया कहने में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा मानते हैं। अबुझमाड़िया तथा दण्डामीमाड़िया पर प्रथम महत्वपूर्ण कार्य ग्रिग्सन (1938) का है। तदनन्तर अबुझमाड़िया पर एडवर्ड जे (1970) और के० सी० दुबे (1983) के शोधकार्य उल्लेखनीय हैं।

मुरिया बस्तर के उत्तरी और पूर्वी क्षेत्रों में निवास करते हैं। क्षेत्र के आधार पर इनके विविध उपवर्ग हैं। सांगीतिक दृष्टि से झोरिया मुरिया सर्वाधिक आकर्षक है, जो अबुझमाड़ पर्वतमाला से संलग्न क्षेत्र में निवास करते हैं। एल्विन (1947 : 15) की यह मान्यता है कि मैदानी क्षेत्र में आकर बस जाने से अबुझमाड़िया ही मुरिया नाम से सम्बोधित हुए। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें इससे विपरीत स्थिति अधिक समुचित प्रतीत होती है। अर्थात् अबुझमाड़िया 1213 ई० के कांकेर-अभिलेख में वर्णित गैता (मुरिया) ही हैं, जो पहाड़ी क्षेत्रों में जनसंख्या के दबाव से चले जाने के कारण अबुझमाड़िया कहलाए। बस्तर के सभी गोंड़ों की संस्कृति की तुलना में मुरिया की संस्कृति विविधतामय एवं जीवन्त है और यह शायद 'घोटुल' नामक संस्था के ही कारण हो सका है। घोटुल एक युवा-शयनागार है, जहाँ कुमारावस्था से विवाह के पूर्व तक की अवस्था के मुरिया युवक और युवतियाँ रात्रिशयन करते हैं। यह 'यूथविवाह' का प्राचीनतम अवशेष है। 'घोटुल' के माध्यम से न केवल मैत्री और सामाजिक व्यवहार का वातावरण बनता है, अपितु 'घोटुल' मुरिया जनजाति की कलाओं का भी केन्द्र है।

'घोटुल' नामक यह संस्था कभी माड़िया-जीवन का भी अंग थी, किन्तु अनेक कारणों से या तो लुप्त हो गयी है अथवा अब वह जीवन्त नहीं है। चालीस वर्ष पहले एल्विन ने यह स्वीकार किया था कि अबुझमाड़िया के घोटुल मरणासन्न हैं। मुमूर्षता की यह स्थिति बाहरी प्रभाव या आलोचना या प्रवृत्ति में परिवर्तन से आयी होगी। आज अबुझमाड़िया के 'घोटुल' केवल पुरुषों के लिए ही होते हैं और इसके कारण यहाँ के 'घोटुलों' का स्वरूप ही बदल गया है। युवतियाँ सायंकाल नृत्य और गायन के लिए यहाँ जाती तो हैं, किन्तु रात्रि होते ही वे अपने घरों को वापस लौट जाती हैं। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि अबुझमाड़ के गाँवों में एक ही गोत्र के लोग रहते हैं और 'घोटुल' में एक ही गोत्र के लोगों का शयन सामाजिक दृष्टि से सम्भव ही नहीं है। इस परिस्थिति में मुरिया-क्षेत्र के ज्ञात घोटुल-जीवन का वह पक्ष जिसमें युवक-युवतियाँ प्रगाढ़ मैत्री में बँध जाते हैं, अबुझमाड़ में संभव ही नहीं है; क्योंकि एक गाँव में ऐसे वैध जोड़े बहुत कम होते हैं।

मुरिया-गाँव अबुझमाड़िया-गाँव की तुलना में अधिक बड़े और अधिक "कॉसमोपॉलिटन" होते हैं, जहाँ विविध गोत्रों वाले परिवार निवास करते हैं। इनकी गोत्रव्यवस्था भी अपने आप में इतनी उदार है कि यहाँ सामाजिक विलयन और मैत्री एक स्वाभाविक बात है। प्राचीन काल में मुरिया-क्षेत्र में दो प्रकार के घोटुल मिलते थे—(क) अदल-बदल घोटुल, जिसमें रात्रिशयन साथी रोज बदलना होता था और (ख) जोड़ीदार घोटुल, जिसमें घोटुल की जोड़ियाँ जीवन भर के लिये होती थीं। आज दूसरे प्रकार के ही घोटुलों का अधिक प्रचलन है।

मुरिया-घोटुलों के सहशिक्षणात्मक स्वरूप और घोटुलों में बाह्य प्रभाव के कारण घोटुल की रचना अधिक समृद्ध और विविधतामय हो गयी है।

1935 ई० से 1942 ई० तक के सात वर्षों के अन्तराल में एल्विन ने 347 मुरिया-घोटुलों की यात्रा की थी और उसने सर्वत्र समान रूप से यह पाया था कि अन्य बातों के अलावा 'घोटुल' संगीत और नृत्य के प्रमुख केन्द्र थे। दुर्भाग्यवश एल्विन ने न तो कोई रिकार्डिंग ही की थी और न ही उन्हें स्वनलिपि का ज्ञान था। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा जुटाई गयी गति और नृत्य-विषयक सामग्री बहुत ही त्रुटिपूर्ण और भ्रमास्पद है। एल्विन के पश्चात् मुरिया-संगीत पर अब तक कुछ भी नहीं लिखा गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए मैंने एल्विन से भी अधिक लम्बी अवधि (चौदह वर्ष) तक क्षेत्र-सर्वेक्षण किया है। अब यहाँ के 'घोटुलों' में तरुणाई जाग रही है और मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के माध्यम से घोटुल के संगीत को मान्यता मिलेगी।

1.3.3. सांगीतिक सर्वेक्षण-विधि

मुरिया-माड़िया-संगीत के सर्वेक्षण के प्रथम चरण में मानवविज्ञान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सांगीतिक संस्कृति के संग्रह का था। राग, स्वर-संगति, सांगीतिक वाद्य, सांस्कारिक मूल्य एवं पर्यावरण के अनुनाद के विकास की दृष्टि से सांगीतिक संस्कृति से संस्कृति की विविध परतें खुली हैं और उनका परिस्थितिजन्य सन्दर्भ परिभाषित हो सका है।

द्वितीय चरण में अनुपालनीय इकाइयों के अन्वेषण तथा क्रमबद्धीकरण के प्रयास में यह ध्यान रखा गया था कि अपने संगीत को दूसरों के सामने प्रस्तुत करने में जनजातियों का भय, पूर्वाग्रह और 'टैबू' न रहे तथा उनके प्रत्युत्तर स्वाभाविक हों। इस विधि से संग्रहीत प्रस्तुत प्रबन्ध के माध्यम से जनजातियों का जो संगीत प्रस्तुत हो रहा है, वह रेडिओ, टेलिविजन या वीडियो में आने वाला विकृत संगीत नहीं है; अपितु जनजातियों का स्वाभाविक संगीत है।

1.3.4. क्षेत्र-विधि

इस पुस्तक की रचना में मैंने जो क्षेत्रविधि अपनायी थी, उसमें अधोलिखित बातों का समावेश था :

(क) **क्षेत्रकार्य :** आवश्यक सर्वेक्षण तथा परीक्षण जिसमें विवरण तथा रिकार्डिंग सम्मिलित थी।

(ख) **प्रयोगशाला-अध्ययन :** इसमें संरचना और शैलियों को पहचाना गया था।

(ग) **स्थानीय सूचक :** इनकी सहायता से शैलियों का वर्गीकरण किया गया तथा उनकी भेदकताएँ निश्चित की गयीं।

(घ) **रेखाचित्र :** इसके माध्यम से प्रदर्शन।

(ङ) **पदचाप, अंगीभूत लक्ष्य,** (मोटीफ) तथा **पदसंहितियों** का विश्लेषण।

(च) **नृत्यसंरचना, वाद्य तथा गीत** का संश्लेषण।

(छ) **वाद्य की धुनों** का निर्धारण।

(ज) **निष्कर्ष** : सिद्धान्त और तुलनाएँ।

यहाँ हमारा लक्ष्य जनजातीय सगीत को पारम्परिक शास्त्र में प्रस्तुत करना नहीं था, अपितु हमने यह देखा है कि संगीत के माध्यम से हमें किसी समाज का बोध कैसे होता है? विविध सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ और सामाजिक व्यवहार जनजातीय संगीत से किस प्रकार जुड़े हुए हैं?

आगामी अध्यायों में सामग्री के संग्रह के दौरान अधोलिखित बातों पर ध्यान दिया गया था—

(अ) **जनजातीय संगीत : जनजातीय संस्कृति का परिभावक** : हमने इस प्रबन्ध में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि जनजातीय संगीत जनजातीय संस्कृति का प्रतिविम्ब है। नृत्य के पदचाप और मुद्राएँ उस संस्कृति के विविध पहलुओं को उजागर करती हैं। वाद्य के बोल आदिम संस्कृति की उद्घोषणा करते हैं तथा गीत की प्रत्येक पंक्ति आदिम भाव का पोषण करती है। नृत्य के पदचापों में जनजातियों की पारम्परिक शत्रुता का इतिहास ही नहीं झलकता, मुद्राएँ भी उसी की अनुकृति करती हैं। दण्डामी माड़िया के नृत्य स्पष्टतः इसका आरेखण करते हैं। इसी विधि से सांस्कृतिक प्रतीकों का उद्घाटन किया गया है।

'जनजातीय संगीत' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है; क्योंकि शास्त्रीय संगीत और पाश्चात्य संगीत से इसी 'लेबिल' के माध्यम से पृथक् पहचान बनायी जा सकती है।

(आ) **जनजातीय संगीत : भाषावैज्ञानिक दृष्टि** : संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत साधर्म्य पर आधारित एटिक (etic) तथा एमिक (emic) का भेद हमें ज्ञात है। मैंने जनजातीय संगीत के विश्लेषण में इस तकनीक का प्रयोग किया है। इसके आधार पर सांगीतिक भाषाविज्ञान में वे नये सन्दर्भ उभरते हैं, जिनसे 'सांगीतिमीय' तथा 'रूप-सांगीतिमीय' अध्ययन को प्रोत्साहन मिलता है और जिसके माध्यम से वाद्य, नृत्य तथा गीत को सार्थक खण्डों के रूप में देखा जा सकता है। जब संगीत सार्थक इकाई के रूप में होता है, तो वह 'सांगीतिम' होता है। परिवर्त्य सहचरों को 'उपसंगीत' कहा जा सकता है तथा इनके संयोग 'रूप-संगीत' के रूप में माने जा सकते हैं। इस समूचे अध्ययन में स्वनिम तथा रूपिम के सादृश्य को उतारा गया है।

इस आधार पर हमने बस्तर के संगीत की एक **'सांगीतिमीय सूची'** तैयार कर ली, जिनमें वाद्य, नृत्य तथा गीत के घटक विद्यमान थे। तदनन्तर हमने 'सांगीतिम' को 'रूप-सांगीतिकी' से जोड़ा तथा यह देखा कि वाद्य, नृत्य तथा गीत आपस में किस प्रकार क्रमबद्ध हैं। इसमें मिलने वाले परिवर्त्य या 'उप-सांगीतिक' तत्व विविध क्षेत्रीय शैलियों के रूप में देखे जा सकते हैं। इस रूप में समूचा बस्तर हमें एक सांगीतिक-क्षेत्र (music area) के रूप में मिला। प्रत्येक जनजाति की अपनी एक खास सांगीतिक पहचान है, किन्तु किसी-न-किसी रूप में वह पूरी की पूरी संगीत की श्रृंखला से जुड़ी हुई है, जिसे **'रूपान्तरण व्याकरण'** तथा **'प्रजनक-व्याकरण'** की दृष्टि से भी परखा जा सकता है।

इस प्रकार की भेदकता की पहचान भारतीय तथा पाश्चात्य चिन्तकों ने नृत्य के विश्लेषण में की है। नृत्य तथा नृत्त क्रमशः सार्थक तथा अर्थहीन स्थितियों का ही परिचय देते हैं। विदेशों में **"अंगविक्षेपविज्ञान"** के सभी शोध इसी प्रकार नृत्य को नए सन्दर्भ में देखते हैं, किन्तु समूचे संगीत को एक साथ विश्लेषित करने वाला यह अभिनव

प्रयास है और यही कारण है कि जनजातीय संगीत के विश्लेषण में भाषाविज्ञान जिस वैज्ञानिक दृष्टि को प्रस्तुत कर सकता है, उसे मैंने **"सांगीतिक भाषाविज्ञान"** कहा है ।

(इ) **जनजातीय संगीत : जनसंस्कृति का सूक्ष्म ब्रह्माण्ड :** संगीत तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के मध्य संगति संस्कृति के अध्येताओं के लिए रुचिकर विषय है । यह एक ऐसा सांस्कृतिक प्रतिरूप है, जो जनजातीय शरीर को काल और स्थान के विधान से रचनात्मक प्रक्रिया के प्रतिफलन से जोड़ देता है । इसलिए मैं जनजातीय संगीत को जनजातीय संस्कृति का एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड मानता हूँ । जनजातियों का संगीत और नृत्य सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ है तथा वह एक सांस्कृतिक ढाँचा है, तनाव को दूर करने का एक साधन है, लक्ष्य की प्राप्ति का एक मार्ग है तथा जनजातीय समन्वय का एक सूत्र है । वह सामाजिक वर्ग तथा पहचान को बनाए रखने में भी उनकी सहायता करता है ।

1.4. जनजातीय संगीत का स्वरूप

"सम्" (सम्यक्) और "गीत" दोनों शब्दों के मिलन से "संगीत" शब्द बना है । मौखिक गायन ही "गीत" है । सम् का अर्थ है अच्छा । वाद्य और नृत्य दोनों के मिलने से ही गीत अच्छा बनता है :—

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते । (शार्ङ्गदेव, संगीतरत्नाकर, 1943.6)
गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते । (दामोदर पण्डित, संगीतदर्पण, पृ० 6)
गीतं वादित्रनृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते । (अहोबल पण्डित, संगीतपारिजात, पृ० 6)

आज केवल गीत या गीत और वाद्य को ही संगीत कहा जाता है, किन्तु आदिम संगीत में गीत, वाद्य तथा नृत्य का आज भी अभिन्न साहचर्य है । जनजाति संगीत का माध्यम नाद है। नाद से ही उसकी सृष्टि होती है । नाद आदिम संगीत का एकमात्र प्रधान उपादान है, किन्तु केवल नाद ही संगीत का जनक नहीं है; क्योंकि कितना ही मधुर नाद क्यों न हो, वह अकेले संगीत की सृष्टि नहीं कर सकता । एक विशेष रूप-आकार में ही वह संगीत हो सकता है यद्यपि नृत्य में अंगहार की प्रधानता होती है तथा गीत और वाद्य के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

आदिम संगीत आगम-पुराण अथवा तांत्रिक परम्परा का साक्षी है। तांत्रिक मार्ग में शिव और शक्ति जैसे देवताओं की पूजा का विधि-विधान था, जो आदिम जन की रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल था । आगम-संगीत को सदाशिव या शिव के द्वारा प्रसारित माना जाता है (दामोदर, संगीतदर्पण, पृ० 8) । मुरिया-विश्वास के अनुसार 'लिंगो' संगीत के आदिकर्ता हैं और इसीलिए मुरिया जनजाति के इतिहास तथा मिथक के अनुसार उनके समाज में संगीत अत्यधिक प्रतिष्ठित है । मुरिया जनों के अनेक गीत तथा नृत्य धार्मिक प्रकृति के हैं तथा वे 'लिंगो' व विविध देवताओं के आह्वान के साथ ही प्रारम्भ होते हैं । विवाह के निमित्त आयोजित 'माँदरी-नृत्य' के समय मृदंगों की पूजा अनिवार्य रूप से होती है । जनजातियों के इस आद्य संगीतज्ञ 'लिंगो' तथा आगम-पुराण में वर्णित 'लिंग' या 'शिव' के बीच सादृश्य सुस्थापित है । एल्विन (1947.521) के समान अब हमें इस पर शंका नहीं करनी चाहिए ।

छत्तीसगढ़ की ऊष्मा को पार कर हम काँकेर से आगे जैसे ही केसकाल-घाटी पर आरोहण करते हैं, सम्पूर्ण क्षेत्र से स्वरलहरियाँ उठने लगती हैं और यहीं से मुरिया-संगीत हमें आमंत्रण देने लगता है ।

मुरिया जनजाति के गीत, वाद्य तथा नृत्य केवल मनोरंजन के साधन नहीं हैं, अपितु आनन्द के अक्षय्य स्रोत हैं । उनका संगीत दिव्य है, अलौकिक है । उससे सर्वज्ञ 'लिंगो' प्रसन्न होते हैं—**गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञपार्वतीपतिः**

किसी 'घोटुल' की प्रसिद्धि उसके नृत्यसौष्ठव पर ही आधारित है । 'मोटियारी' की गायनक्षमता उसके सफल या असफल विवाह की परिणति है । यहाँ के 'घोटुल' बालक तथा बालिकाओं के संगीत के प्रशिक्षण के केन्द्र हैं । नृत्य में पादप्रचार की विभिन्न भंगिमाओं तथा ताल व लय के अनुवर्तन में ये रातों की नींद भुला देते हैं और

तब कहीं नृत्यसमारोहों में भाग लेने के अधिकारी होते हैं। जटिल 'डण्डार-नृत्य' के विशेष प्रशिक्षण और अभ्यास के बावजूद थोड़ी सी भी चूक अशुभसूचक मानी जाती है।

मुरिया वहुत अच्छे नर्तक हैं, कम-से-कम अपने परिवेश में सर्वोत्कृष्ट। इनके नृत्यों की विविधता इन्हें वस्तर की अन्य जनजातियों से उत्कृष्ट सिद्ध करती है। ये मृदंग के साथ भी नाचते हैं; मृदंग के बिना भी। कभी-कभी 'सुलुड़' (बाँसुरी) के साथ भी नाचते हैं, तो कभी दण्डों के साथ। इनका नृत्य वनिताओं के साथ भी होता है तथा वनिताओं के बिना भी। इनके वहुसंख्यक नृत्य गीतों के साथ होते हैं।

झोरिया-गीतों में कभी तीन स्वर तो कभी चार स्वर, तो यदा-कदा पाँच स्वर तक मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के समान इनके संगीत में सात स्वर नहीं मिलते। इनकी धुन परिष्कृत तथा सुस्पष्ट होती है। उसमें विशुद्धता तथा पूर्णता है। आदिम प्रकृति की यह धुन सहज, आह्लादक तथा प्रभावोत्पादक होती है। नारायनपुर तथा कोण्डागाँव के गीतों पर यद्यपि आज बाहरी प्रभाव पूरी तरह छा गया है, किन्तु आंतरिक क्षेत्रों के गीतों में आज भी पुरानापन खोजा जा सकता है। वैसे मुरिया-संगीत पर जो बाह्य प्रभाव पड़ रहा है, उससे वह बहुत कुछ अपरिष्कृत-सा हो गया है (द्र० मानचित्र क्रमांक 5)।

1.4.1. जनजातीय संगीत का विकास

वस्तर का जनजातीय संगीत वैदिक तथा आगम संगीत के साथ आर्य व द्रविड़ संगीत का मिलन है। जहाँ एक ओर 'जात्रा' नृत्य तथा 'गायता' की परम्परा इसे वैदिक संगीत से जोड़ती है, वहाँ 'हल्लीसक' प्रभृति नृत्य तथा 'लिंगो' की अवधारणा इसे पौराणिक या आगम साहित्य के निकट लाती है। 'छेरता' जैसे नृत्यगीतों की भाषा हलबी तथा शेष नृत्यों की भाषा मुरिया, झोरिया या अबुझमाड़िया क्रमशः रचना शैली की दृष्टि से यहाँ के संगीत को आर्य तथा द्रविड़ के मिलनविन्दु की ओर संकेत करती है।

मुरिया, झोरिया तथा अबुझमाड़िया 'लिंगो' को आद्य संगीतज्ञ मानती हैं, तथा दण्डामी माड़िया, दोर्ला एवं धुर्वा के अनुसार भीमा प्रथम संगीतज्ञ हैं, 'लिंगो' या 'भीमा' से संगीत का अवतरण यहाँ के संगीत को आगमों और पुराणों की परम्परा से जोड़ देता है।

मुरिया जनजाति यह मानती है कि उन्हें प्रथम गीत 'लिंगो' ने ही सिखाया था—

पहलीर पाटा बोनीर लयोर, पहलीर पाटा बोना।
लिंगो ना आयो बोना लयोर, पहलीर पाटा बोना॥

अर्थात् "प्रथम गीत किसका है युवक, प्रथम गीत किसका ? प्रथम गीत लिंगो का है युवक, प्रथम गीत।"

मुरिया जनजाति की यह भी धारणा है कि उन्होंने 'लिंगो' से ही गीत सीखा था—

मुरिया पाटा बोना लयोर, मुरिया पाटा बोना। लयोर आयो बोरा, लयोरा आयो ओ॥

अर्थात् "लिंगो के पश्चात् युवकों ने उनसे गीत सीखा।" मुरिया गीतों में **"लिंगो ना वेहले पाटा लिंगो ना वेहले डाका"** जैसी पंक्तियों से यह स्पष्ट संकेत है कि उन्होंने 'लिंगो' से गायन सीखा तथा 'लिंगो' से ही नृत्य सीखा।

मुरिया-मानस 'लिंगो' की कल्पना नटराज से करता हुआ प्रतीत होता है तथा यह स्वीकार करता है कि 'लिंगो' एक साथ अठारह वाद्य बजाते हुए नृत्य करते हैं—

"अठरा बाजांग लिंगोन लयोर, बारा बाजांग राजा ओ ॥1॥
लिंगो तिन्वाल पूजा लयोर, राजा तिन्वाल बोजा ओ ॥2॥
"इरुम मरा सरंगीड़ लयोर, इरुम मरा सरंगीड़ ओ ॥3॥

नन्नी तेने पर्राइ लयोर, कादेन इचो सिड़ंगो ॥4॥
"हट्टा तेने डोली लयोर, मुंडा तेने कुडुरका ॥5॥
इल्वी तेने उलुड़ लयोर, मोसो टेने जीका ओ ॥6॥
विड़सी पाटा ओतोम बाई, विड़सी डाका ओतोम रा ॥7॥
लिंगोन वेह्ले पाटा बाई, लिंगोन वेह्ले डाका ॥8॥

अर्थात्

अठारह वाद्य लिंगो के युवक, बारह वाद्य राजा के ॥1॥
लिंगो का भोजन नरबलि है, तथा राजा का भोजन करबलि ॥2॥
महुए का वृक्ष सारंगी है युवक, महुए का वृक्ष सारंगी ॥3॥
कटि में पर्याङ ढोल, पैरों पर सिड़ंगो ॥4॥
कंधे पर डोली युवक, घुटनों पर कुडुरका ॥5॥
ओठों पर बाँसुरी युवक, नाक में जीका वाद्य ॥6॥
हमें किसने गीत सिखाया, किसने नृत्य सिखाया ॥7॥
लिंगो ने गीत सिखाया, लिंगो ने नृत्य सिखाया ॥8॥

ये आद्य संगीतज्ञ लिंगो हैं कौन ? लिंगो 'लिंग' का ही जनजातीय नाम है। 'लिंग' के मौलिक स्वरूप के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है (जार्ज स्काट : फैलिक वर्शिप, लन्दन 1941; ओ. ए. वाल : सेक्स एण्ड सेक्स वर्शिप इन द वर्ल्ड, दिल्ली, 1979)। महाभारत तथा पुराणों से ऐसे पर्याप्त संकेत मिलते हैं कि 'लिंग' का सम्बन्ध ज्योतिर्लिंगों से न होकर जननेन्द्रिय से है। ब्रह्माण्डपुराण (2.27–10-216) में एक कथा आती है कि शिव एक बार ऊर्ध्व लिंग की अवस्था में ऋषियों के आश्रम में विचरण करने लगे। ऋषिगण अत्यन्त क्षुब्ध हुए। उनके शाप से शिव के 'लिंग' का पतन हो गया। बाद में ब्रह्मा जी के कथनानुसार ऋषियों ने शिव के 'लिंग' की पूजा की। मुरिया जनजाति में भी 'लिंग' के ऊर्ध्व होकर विचरण करने की अनेक किंवदन्तियाँ मिलती हैं (एल्विन, 1947)।

ऋग्वेद के समय में भी यहाँ की अनार्य जातियाँ 'लिंग' की पूजा करती थीं। ऋग्वेद में (7.21.25) "शिश्नदेवा:" शब्द आया है, जो 'शिश्न' या प्राकृतिक 'लिंग' के उपासकों का वाचक है। "शिश्नदेवा:" के घृणा-पूर्वक उल्लेख होने से यह प्रतीत होता है कि आर्य इसे अच्छा नहीं समझते थे। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि बस्तर की जनजातियों में 'लिंगोपासना' वैदिक काल से ही चली आ रही है, जब कि उच्चतर वर्णों में यह वेदोत्तर-काल में प्रविष्ट हुई। अवश्य ही यह प्रवेश तब हुआ होगा, जब लिंगोपासना का तादात्म्य शिवपूजा से हो गया होगा; क्योंकि लिंग के परमेश्वर-शिव का प्रतीक बन जाने के बाद ही बौद्धिक उच्चवर्ग इसे ग्रहण कर सकता था, शिश्नपूजा के रूप में नहीं।

ब्रह्मपुराण के अनुसार भीम एक राक्षस था, जिसने अपने तपोबल से लिंग या शिव के रूप को प्राप्त किया था (हीरालाल शुक्ल, लंका की खोज, इलाहाबाद 1977, पृ० 396–408)। वामनपुराण (63.32) में भीम को शिव का एक रूप मानकर उन्हें शालवन अर्थात् बस्तर का देवता माना गया है—

"रुद्राख्यं च हिरण्यवत्यां वीरभद्रं त्रिविष्टपे। शंकुकर्णं च भीमायां भीमं शालवने विदु: ॥

ऐसी स्थिति में 'लिंगो' तथा 'भीम' दोनों ही शिव के क्षेत्रीय प्रतिरूप सिद्ध होते हैं। जैसे ही हम इंद्रावती को पार कर उत्तर की ओर बढ़ते हैं, लिंगो का प्रभाव बढ़ता जाता है तथा भीम का प्रभाव कम होता जाता है।

'लिंगो' अथवा 'भीम' से शिव की संसिद्धि हो जाने पर पुनः यह निश्चित हो जाता है कि जनजातीय संगीत आगम तथा पौराणिक सांगीतिक धारा से सम्बद्ध है। आगम-परम्परा में भी संगीत के आदिकर्त्ता शिव या महादेव हैं। के० वासुदेव शास्त्री (संगीतशास्त्र, पृ० 4) के अनुसार शिव-पार्वती-संवाद के रूप में 36000 श्लोकों का एक ग्रन्थ 'गान्धर्व' के नाम से प्रचलित था, परन्तु यह ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं है। उसकी विषयसूची यामलाष्टक नामक ग्रन्थ में देखने को मिलती है। इसी परम्परा के ग्रंथों में नन्दिकेश्वरकृत "नंदिकेश्वर-संहिता" भी एक है, तथा यह भी प्राप्य नहीं है। ऐसी स्थिति में संगीतशास्त्र की आगमों और पुराणों की परम्परा का एकमात्र अवशेष सम्प्रति बस्तर का मुरिया-संगीत है, जिसकी पुनर्रचना से इतिहास के नए सन्दर्भ खुल सकते हैं।

बस्तर की जनजातियाँ प्राचीनतम रचनात्मक कला संगीत पर जो विश्वसनीय दृष्टि रखती हैं, उससे संगीत के विकास का एक साफ-सुथरा चित्र उभरता है। संगीत को यहाँ की बोलियों में "घुमरा" कहा जाता है, जो "जलप्रपात" का पर्याय है। तदनुसार आदिवासी संगीत एक जलप्रपात के समान है, जिसमें स्वर, गति, ताल, नाद, लयात्मकता के प्रतीक हैं।

गीत के लिए यहाँ की आर्यबोलियों में "**गीत**" शब्द ही प्राप्त होता है, किन्तु द्रविड़ बोलियों में गीत को "**पाटा**" कहा जाता है। गायन की क्रिया आर्यबोलियों में "गा–" धातु से व्यक्त होती है, जब कि द्रविड़ बोलियों में इसे व्यक्त करने के लिए तीन धातुएँ हैं—

(क) पार– अथवा वार– "गीत गाना"

(ख) ओय– गीत को ले जाना

(ग) चेह– दर्पण दिखा कर गीत गाना

अबुझमाड़िया में गीत का "ओयना" (संवहन) होता है, जब कि गोंडी में वह "चेहना" (आत्मदर्शन) के रूप में होता है। गीत गाने की बहुप्रचलित क्रिया यहाँ **पार– या वार–** (डी. ई. डी–3348) ही है, जिससे "**पाटा**" शब्द व्युत्पन्न हुआ है। इन तीनों धातुओं से गीत के विकासात्मक प्रकार्य पर विचार किया जा सकता है।

"गीत" से सम्बद्ध जनजातीय बोलियों में विविध स्तर के शब्द मिलते हैं। इनके यहाँ यद्यपि ध्वनि के लिए "**आवाज**" शब्द फारसी से आदत्त है, किन्तु मन्द्र घोष (ऊगे) तथा तीव्र घोष (दागो) के लिए क्षेत्रीय शब्द मिलते हैं।

इन बोलियों में "**राग**" शब्द यथावत् संस्कृत के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, किन्तु उसका अपर पर्याय "**दीस**" संस्कृत के 'देशी' शब्द से व्युत्पन्न है, जो इस ऐतिहासिक सत्य का साक्षी है कि जनजातियाँ कभी "मार्ग" और "देशी" पद्धति से अवश्यमेव परिचित रही होंगी।

गीत की रचनात्मक शैली से सम्बद्ध "घोषा" शब्द संस्कृत के "उद्घोषणा" से विकसित है, जब कि इसके लिए उद्घोषणा करने वाले व्यक्ति को मुरिया में "रोचे-सेला" कहा जाता है। गीत की बार-बार दुहराई जाने वाली पंक्ति "टपी" है, तथा उसमें "टेक" की भी व्यवस्था होती है। यहाँ सामूहिक गायन को "रेलो" नाम से अभिहित किया जाता है। "लेकना" से गीत की वस्तु या "थीम" का बोध होता है।

गीतकारों की यहाँ अपनी एक सुदीर्घ परम्परा है। सामन्तीशासन के गीत गाने वाली जनजाति "मुण्डा" तथा 'लिंगो' के सम्मान में गीत गाने वाली जनजाति "**ओझा**" यहाँ आज भी उतनी ही जीवन्त है, जितनी पहले थी। गीतों का यहाँ जो घराना विकसित हुआ है, वह "**गुरुमाय**" घराना है, जो धनकुल-गीतों से सम्बद्ध है। स्त्रियों को गीतों की प्रशिक्षिका के रूप में स्वीकृति जनजातीय गायकी की अपनी निजी विशेषता है, जो भारतवर्ष के किसी

अन्य क्षेत्र में नहीं मिलती। नृत्य के लिए आर्यबोलियों में "नाच" तथा द्रविड़ बोलियों में "एन्दना" (डी० ई० डी० 757) शब्द मिलते हैं। अबुझमाड़िया में इसे **"पाटा-एन्दाना"** कहा जाता है, जिसका अर्थ है "गायन के साथ नृत्य"। इससे यह प्रतीत होता है कि नृत्य के साथ गीत अनादिकाल से ही सम्बद्ध रहा है। इन बोलियों के जितने भी गीत हैं, वे नृत्यमय हैं और जितने भी नृत्य हैं वे गीतमय हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि नृत्य के बिना गीत की कोई कल्पना ही नहीं हो सकती।

नृत्य में जैसे-जैसे परिष्कार आता गया, जनजातियों में पदसंचार की क्रिया भी तकनीकी हो गयी और पदसंचार के लिए इन बोलियों में **"डाका"** या **"डाहका"** शब्द का विकास हुआ। बाद मे पदसंचार की क्रिया में इतनी अधिक विविधता आ गयी कि जनजातियाँ अधोलिखित विविध पदसंचारों के बीच सुस्पष्ट अन्तर करने लगीं—

(क) कापू-डाका

(ख) कोकोटार-डाका

आदिम नृत्य सदैव सामूहिक नृत्य के रूप में होते हैं, जिन्हें यहाँ "रेलो" नाम से सम्बोधित किया जाता है। जनजातियों का यह सामूहिक नृत्य प्रारम्भ में मण्डलाकृति में था, कालान्तर में पंक्तिवद्ध नृत्य का भी विकास हुआ, जिसमें दो से लेकर चार तक की पंक्तियाँ होती हैं। इन पंक्तियों या मण्डल के मध्य में प्रमुख गायक रहता है, जिसे "जोक्ता" या "गाइन" या "रोचे-सेला" कहा जाता है। ये सामूहिक नृत्य आगम शैली के ही अनुसार जात्रा-नृत्य, रासनृत्य, दण्डरासनृत्य तथा क्रीड़ानृत्य के रूप में वर्ग-बद्ध किए जा सकते हैं तथा इनमें से अनेक सामूहिक नृत्यों में वैदिक तथा पौराणिक अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

नृत्य के लिए यहाँ मिलने वाली विविध शैलियाँ विविध ऋतुओं के अनुसार हैं तथा इनका एक उद्देश्य परिश्रमजनित थकान को दूर करना है। मदिरापान कर युवक-युवतियाँ जब सामूहिक नृत्य करती हैं, तो वे अपनी दिन भर की थकान को भूल कर पुनः अगले दिन के लिए तरोताजा हो जाती हैं।

नृत्य में "नाचकुरया" (नर्तक) या "नाचकुरिन" (नर्त्तकी) के चयन में विविध नृत्यों की प्रकृति पर ध्यान दिया जाता है। ऐसे अनेक नृत्य हैं जिनमें केवल युवक या केवल युवतियाँ ही नृत्य करती हैं; किन्तु कुछ ऐसे भी नृत्य हैं; यथा "माँदरी-नृत्य"; जिसमें आयु, लिंग आदि का भेदभाव नहीं होता और पूरा समाज एक साथ नृत्यमग्न हो जाता है। इन नृत्यों में सामूहिक लय ही स्वर तथा छन्द का मूलाधार होती है।

जनजातियों के नृत्य उत्सव एवं सहभोज से अधिक सम्बद्ध हैं। सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि विवाहोत्सव में जो लोग नृत्य नहीं करते, उन्हें विवाहोत्सव में आमंत्रित नहीं किया गया है। विवाहनृत्यों की दर्जनों शैलियाँ यहाँ क्षेत्रभेद से प्रचलित हैं।

इन आदिम जनजातियों के नृत्य की विकासात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन पार्श्ववर्ती क्षेत्र की नृत्यसामग्री से किया जा सकता था; किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक देश के किसी भी क्षेत्र की सामूहिक नृत्यसंरचना का अध्ययन नहीं हो सका है। बिना तुलना के हम नृत्य की सामूहिक रचना तथा विकास की वैज्ञानिक व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। किन्तु जनजातियों की सुदीर्घ नृत्यपरम्परा का ज्ञान उनकी समृद्धि शब्दावली (देखिए परिशिष्ट) के माध्यम से हो सकता है। शब्दावली की यह समृद्धि नृत्य के संरचनात्मक विकास की कहानी है। नृत्य में 'डाका' (पदसंचार) की कल्पना पर आधारित अभिव्यक्ति के विविध माध्यमों से हमें उसका इतिहासक्रम देखने को मिलता है। यह सुस्पष्ट है कि जनजातियाँ 'डाका' (पदसंचार) को ही नृत्य का प्रमुख आधार मानती हैं। यह 'डाका' जनजातियों के विविध

संस्कारों से सम्बद्ध है और इसी के साथ जुड़े होते हैं विविध मिथक और प्रतीक। इन 'डाकों' (पदसंचारों) के विधिवत् अध्ययन से हम आदिम संस्कृति की संचरणशीलता का अनुमान लगा सकते हैं।

जनजातियों की नृत्यकला पर विचार करते समय लय या 'थाप' की धारणा की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनकी लय पूरी तरह इनके पदसंचार (डाका) पर निर्भर करती है। इसी आधार पर गीतों में रागात्मक तत्वों का विकास होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जनजातीय गीतों तथा नृत्य के पदसंचार (डाका) में जिस प्रकार का तालमेल रहता है, उसी प्रकार "डाका" भी वाद्य के "थाप" से जुड़े रहते हैं। नृत्य के "डाका" से आदिम "दीस" का निर्धारण होता है और "दीस" वाद्यों के "पाटाक्षरों" (पाड़) को सुनिश्चित करते हैं।

जनजातीय नृत्यों में जिस समय "नकटा-नकटी" का प्रवेश हुआ होगा, उसी समय नाटकीयता का भी आरंभ हुआ होगा। यहाँ यद्यपि नाट्य के लिए "नाट", स्वाङ्ग-प्रदर्शन के लिए "सवांग" आदि संस्कृत व्युत्पत्तिमूलक है एवं "गम्मत" व "तमासा" अरबी फारसी प्रभाव से आए हैं; किन्तु इनके प्रयोग में अन्तर सुस्पष्ट है। यहाँ "नाट" पृथक् विधा न होकर नृत्य से ही विकसित हुआ है और जनजातियों में "नाट" नृत्य का ही एक अंग बन कर आया है। "नाट" के आते ही यहाँ "नाटगुरु" की परम्परा भी हो गयी है।

वाद्य की सांगीतिक शब्दावली की दृष्टि से जनबोलियाँ समृद्ध हैं। वाद्य के लिए सभी बोलियों में "बाजा" शब्द मिलता है। "बाजे" की विविधता और सम्पन्नता का अन्दाजा इसी से लगता है कि यहाँ तत वाद्य, वितत वाद्य, घनवाद्य एवं सुषिर वाद्य की वादन-क्रिया की उपलक्षक विभेदक धातुओं का प्रयोग मिलता है; यथा—

(क) उसुर—'तत वाद्य बजाना'
(ख) तन—'वितत वाद्य बजाना'
(ग) पेस—'घन वाद्य बजाना'
(घ) उर—'सुषिर वाद्य बजाना'।

इतनी सूक्ष्म विशेषता भारतवर्ष की किसी भी भाषा या बोली में देखने को नहीं मिलती।

प्रायः सभी जनजातियाँ वाद्य के 'बोल' (बीट) को 'पाड़' कहती हैं, जो शास्त्रीय संगीत के 'पाटाक्षार' का ही क्षेत्रीय परिवर्त्य है। जनजातियों के सभी 'पाड़' आगम संगीत के पाटाक्षरों के समान दैवत अभिधान से युक्त हैं।

यहाँ की जनजातियाँ छत्तीस प्रकार के वाद्यों के प्रयोग में ही दक्षता नहीं रखतीं, अपितु वाद्य से सम्बद्ध विशिष्ट शब्दावली (दे० परिशिष्ट) का भी इन्होंने विकास कर लिया है। वादनपरम्परा के सुदीर्घ इतिहास और उसमें श्रमविभाजन का अनुमान इसी से लग जाता है कि यहाँ न केवल **'बजनेया'** (वाद्यपनिक) या **'मोहरेया'** (मधुकरीकृत) के माध्यम से एक विशिष्ट वर्ग का बोध होता है; अपितु **'मांदरीगुरु'** (मृदंगगुरु) के रूप में मृदंग के शिक्षण का यहाँ लम्बा इतिहास है। **'नाटगुरु'** भी उसी परम्परा का आख्यापक है।

इस प्रकार जनजातीय संगीत—गीत, नृत्य, वाद्य, तथा नाट्य का एक सामूहिक संविलयन है—यह सामूहिक आवश्यकता के कारण श्रम के हाथों जन्मा है।

टिप्पण

1. सांगीतिक ज्ञान के परीक्षण के तौर पर जब मैंने आदिवासियों से पूछा कि आप संगीत क्यों सीखते हैं, तो उनका प्रत्युत्तर था (क) मन बहलाने के लिए (ख) पुराने सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए (ग) अपने मन के विकारों को दूर करने के लिए वे संगीत सीखते हैं।

2
जनजातीय वाद्य

2.1. जन-वाद्यों का विकास

बस्तर में 'गायता' का उल्लेख तेरहवीं शताब्दी (शुक्ल 1982) में मिलता है, जो 'उद्गाता' का अपभ्रंश है। सामवेद के मुख्य गायक को 'उद्गाता' कहा जाता था। इस रूप में बस्तर में सामगायन की परम्परा अति प्राचीनकाल से मिलती है। ये गायता अपनी स्त्रियों के साथ विचरण करते हुए वीणा बजाते हुए नृत्य करते थे। नारदीय शिक्षा में वेणु-वाद्यों की तुलना सामगायकों के स्वरों से की गयी है—

"यस्सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमस्स्वरः।"

नृत्य के लिए उपयुक्त मृदङ्ग वाद्य का उल्लेख यहाँ के नलराजा विलासतुंग (700-740 ई०) के एक अभिलेख (ई० आई० 26 : 56) से मिलता है। इससे यह ध्वनित होता है कि बस्तर में वाद्यों का विकास गीत और नृत्य के साधनरूप में हुआ है।

बस्तर की मुरिया जनजाति 'लिंगो' को आद्य संगीतज्ञ मानती है और बस्तर के ये 'लिंगो' सुस्पष्टतः शास्त्रीय संगीत-परम्परा के आदि प्रवर्तक सदाशिव ही हैं—

सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः काश्यपो मुनिः।
मतङ्गो याष्टिको दुर्गा शक्तिः शार्दूलकोहलौ॥

[संगीतरत्नाकर]

मुरिया 'लिंगो' की कल्पना एक वाद्यपुरुष के रूप में करता है तथा उसकी यह मान्यता है कि वे एक साथ अठारह वाद्य बजाते थे। कुछ मुरियाजन आज अठारह वाद्यों के नाम तो नहीं जानते, किन्तु अनेक ऐसे हैं जो इन वाद्यों को गिना सकते हैं। यह भिन्न बात है कि इन अठारह वाद्यों की सूची तथा क्रम में क्षेत्रगत अन्तर देखने को मिल जाता है।

फुलपाड़ गाँव की 'पूस-कोलांग' नामक नृत्ययात्रा में गाए जाने वाले 'लिंगो-पाटा' (लिंगो-गीत) में अधोलिखित वाद्यों का उल्लेख मिलता है—

लिंगो के अठारह वाद्य
कंधे से लटकने वाला ढोल राय
भुजा के नीचे लहराने वाला हकुम राय
कौपीन के नीचे लम्बित मदन पराई राय
पैरों में पैंजना राय
वक्षस्थल पर झूमने वाला ढुसिर राय

नासिका-छिद्र से वायु निकालते समय बजने वाला झिकर राय
मुख की वायु से बजने वाला सुलुड़ राय।

फुलपाड़ के 'चेलिक' इतने ही वाद्यों से परिचित हैं; किन्तु झोरिया परगने के 'चेलिक' उन सभी अठारह वाद्यों से परिचित हैं, जिनका धारण उनके आद्य वाद्य-पुरुष ने किया था। इनमें छह अवनद्ध वाद्य—निसान, गोगा, ढोल, माँदरी, पर्राङ, तुड़बुड़ी है; चार तत वाद्य है—सारंगी, ढुसिर, तोहेली तथा डुमरी, छह घनवाद्य हैं—पिटोर्का, केकरेंग, कचटेहण्डोर, मुयाङ, कटवाकिंग, झाँझ; एवं दो सुषिर वाद्य है—हकुम तथा सुलुड़।

ये हैं 'लिंगो' के अठारह वाद्य। आज भी इनमें वही सम्मोहन है, जो 'लिंगो' ने उन्हें प्रदान किया था। प्रत्येक 'चेलिक' इन सभी वाद्यों का प्रयोग नहीं कर सकता। यह माना जा सकता है कि शायद कोई ऐसा मुरिया युवक नहीं होगा जो इन ढोलों को बजाना नहीं जाने या शायद ही कोई ऐसी युवती हो जो मँजीरे का प्रयोग न जानती हो। इस रूप में सम्पूर्ण जनजाति समाज ही वाद्यकला में निष्णात है।

इन वाद्यों के विकास का अपना इतिहास है, जिसे हम अधोलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(क) **आदिम जनजातीय वाद्य :** जनजातीय वाद्यों में ततवाद्य टोयलि, डुमिर, कीकिड़, किरगिच एवं कुंजाड़; वितत वाद्यों में गोगा, पकडोल, पर्राङ तथा बिरिया; एवं घनवाद्यों में पिटोर्का, कच-टेन्दोड़, पक-टेन्दोड़; और सुषिर वाद्यों में जीका नामक चौदह वाद्य हैं; जो द्रविड़ तथा मुण्डा व्युत्पति से सम्बद्ध हैं।

(ख) **आगम वाद्य :** बस्तर में आगम संगीत या शास्त्रीय संगीत में चर्चित उन्नीस वाद्य मिलते हैं, जिनसे यह ध्वनित होता है कि यहाँ आदिम संगीत का किस प्रकार आगमीकरण हुआ है। इन वाद्यों में संस्कृत-व्युत्पत्ति से सम्बन्ध घनवाद्य है—सारंगी, ढुसिर, किन्नरा, दासोकाड़ी एवं धनकुल। वितत वाद्यों में निस्साण, तूर्य, कंजिरा, ढोल्लक, डमरुक, मृदंग और खुण्ट मृदंग हैं। घनवाद्यों में घण्टिका, चिटकुल आते हैं और सुषिर वाद्यों में ओसोड़ (बाँसुरी), शृंगी, त्रोटक, मधुकरी और शंख नामक प्रायः सभी जनजातीय वाद्य सम्मिलित हैं।

आगामी विवेचन में बस्तर की जनजातियों के **छत्तीस** वाद्यों का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित उपशीर्षकों में क्रम से किया गया है—

(क) तत वाद्य (ख) वितत वाद्य (ग) घनवाद्य (घ) सुषिर वाद्य।

2.2. तत वाद्य

तत वाद्य वे हैं जो त्रंत्रियों से युक्त होते हैं। इन्हें तंत्री वाद्य भी कहा जाता है। इनको बजाने के लिए कोण, धनुष या अँगुली का प्रयोग किया जाता है। इस श्रेणी में आने वाले ग्यारह जनजातीय ततवाद्यों का यहाँ संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

2.2.1. सारंगी (सं०)

सारंगी का विवरण **''संगीतनारायण''** में विस्तार के साथ मिलता है। यह विवरण प्रायः जनजातीय सारंगी के समान है। इसका मुख पनस या साल की लकड़ी से बनाया जाता है। लम्बाई में यह तीन बीते की होती है। इसके शिर का विस्तार ग्यारह इंच का होता है। शिर के ऊपर पक्षियों की आकृतियाँ कुरेदी जाती हैं। यह ऊपर स्थूल तथा नीचे कृश होती है। इसमें तीन तंत्रियाँ होती हैं एवं वादन धनुष से होता है। यह धनुष घोड़े के पूँछ के बालों की बनी होती है। धनुष तीन इंच लम्बा होता है (द्र० रेखाचित्र–1)
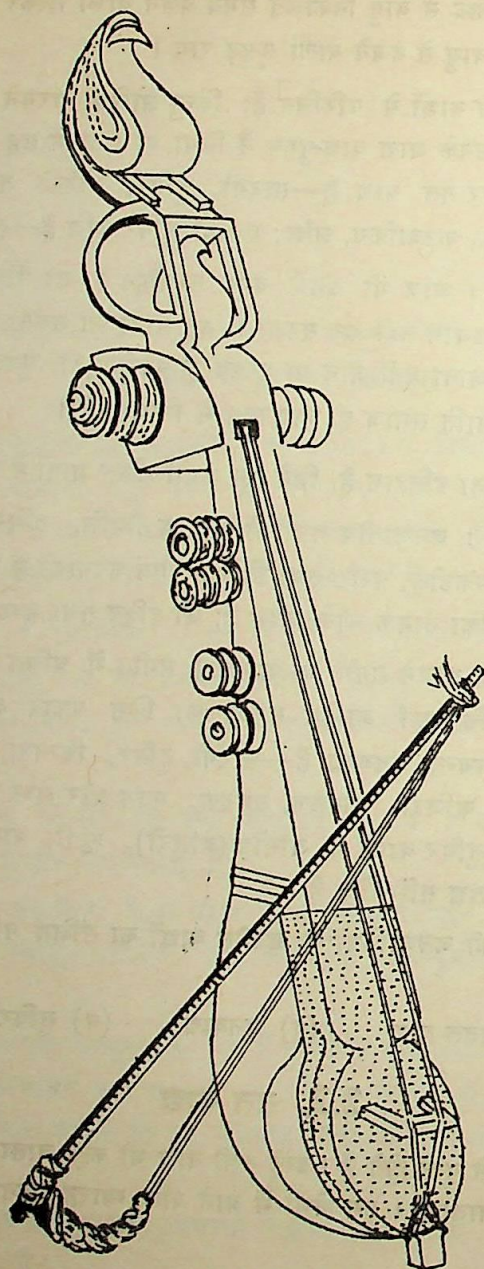
रेखाचित्र क्र० 1. सारगी (संदर्भ 2.2.1)

2.2.2. ढुसिर (मु०, सं०)

यह सारंगी का ही एक स्थानीय प्रकार है, जिसका एक रूप किकरी भी प्रचलित है। इसमें नारियल के गोलार्द्ध को अनुनादक बनाकर उसे बाँस की नली से जोड़ दिया जाता है और उसे गोह के चर्म से आच्छादित कर दिया जाता है। इसमें घोड़े की पूँछ के बाल लगे होते हैं एवं घोड़े की बाल लगी धनुष से बजाया जाता है। मुरिया जनजाति इस वाद्य को कन्धे पर लटकाती है।

2.2.3. किंदरी (मु०; प०) या किनेरी (सं० किन्नरा)

भतरा तथा परजा नामक जनजातियाँ आदिम प्रकार के एक सितार का प्रयोग करती हैं, जिसे किंदरी या किनेरी कहा जाता है, जो कि शास्त्रीय संगीत में वर्णित **किन्नरा** का ही अपभ्रंश है। इसमें बाँस की पतली खपच्चियों के चार तार होते हैं तथा इसका घट लकड़ी या कद्दू का बना होता है।

2.2.4. तोहेली या टोयलि (मु०)

यह अलाबु वीणा का मुरिया-संस्करण है। लौकी के अनुनादक में बाँस की एक पोंगरी रहती है, जिसमें तीन तार लगे रहते हैं। इसे 'बरहापेन' तथा 'भंगाराम' की स्तुति में बजाया जाता है।

2.2.5. डुमिर (को), डुमरी (मु०) या डुमिड़ (द०)

यह एक प्रकार का गिटार है, जो मोटे तख्ते का बना होता है। इसके ऊपर पीतल के दो तार कसे होते हैं और इसी के साथ बड़े तुम्बे का अनुनादक जुड़ा रहता है। इसे एक ही हाथ पर रखा जाता है और इसके तार एक दूसरे को उत्कर्षित किए रहते हैं। इस वाद्य का प्रयोग विवाहोत्सव में करने से पूर्व 'लिंगो' के नाम से तेल और हल्दी का अवलेप होता है।

2.2.6. कीकिड़ (द) या किकरी (मु०, आ०, को०)

दण्डामी माड़िया में इसे कीकिड़ और मुरिया में किकरी कहा जाता है। यह ढुसिर से मिलता जुलता एक वाद्य है। दण्डामी माड़िया का कीकिड़ प्रचलित चिकारा के समान होता है, जिसमें बाँस के तार लगे रहते हैं; किन्तु मुरिया की किकरी या केकरेंग उठे हुए दाँतों वाली एक विचित्र प्रकार की संगीतात्मक आरी है। सहज ध्वनिवर्ग की इस दाँतेदार छड़ी का प्रचलन दक्षिण-पूर्व एशिया तथा अफ्रीका में भी है। यह आरी प्राय: बाँस के मोटे तने से बनती है, जो पाँच फुट लम्बा होता है। इसके ऊपरी सिरे पर पंखों का एक गुच्छ लगा होता है तथा इसी के साथ दोनों ओर आठ इंच के दाँते कटे होते हैं। इन दाँतों को जब दण्ड से घिसा जाता है, तो ये ढोल के लय के साथ मिलकर एक दँतीली ध्वनि पैदा करते हैं। मुरियाजन इस वाद्य का प्रयोग 'छेरता' तथा 'पूसकोलांग' नृत्यों में करते हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक–2)।
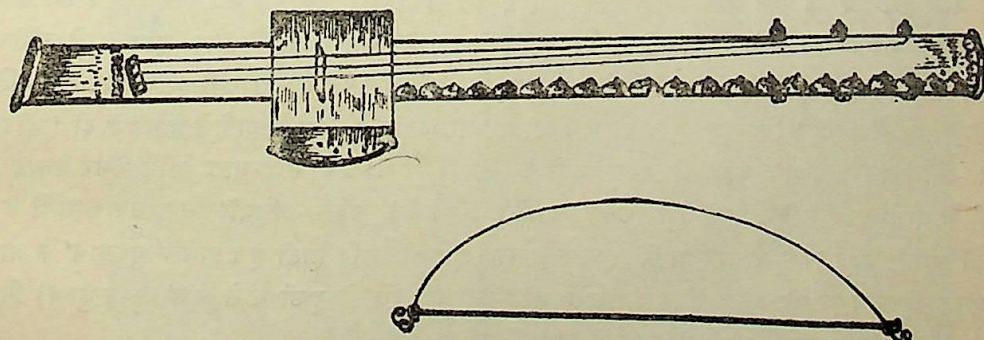
रेखाचित्र 2. "कीकिड़" [संदर्भ–2–2–6]

2.2.7. खड़खड़ा (मु०)

उत्तर बस्तर के कतिपय क्षेत्रों में लोहे का बना हुआ एक खूबसूरत 'खड़खड़ा' मिलता है। यह पोला सिलैण्डरनुमा एक ट्यूब है, जो 18 इंच लम्बा होता है। इसका ऊपरी सिरा दाँतेदार होता है तथा निचला सिरा सँकरा होते हुए अंत में सर्पाकृति में बदल जाता है। इसके फण सीधे खड़े रहते हैं। निचले हिस्से में एक बालपिन जुड़ी होती है, जो रगड़ने के काम आती है।

2.2.8. किरगिच (द०)

यह दण्डामी माड़ियों का एक प्रिय वाद्य है।

2.2.9. कुंजाड़ (अ)

इसका प्रयोग अबुझमाड़िया करते हैं।

2.2.10. दासोकाड़ी (ह०)

यह उड़िया से आयातित एक वाद्य है, जो हलबा तथा भतरा जनों में प्रचलित है। 'दास' अर्थात् भक्तजनों के द्वारा उपयोग में आने के कारण इसका यह अभिधान हुआ। दासकाठी उत्तर बस्तर में एक घन वाद्य के रूप में 'करताल' का एक संस्करण प्रतीत होता है।

2.2.11. धनकुल (ह०, भ० मु०)

"धनकुल" का अर्थ होता है—धनुपरिवार। यह "धनुष्कुल" का अपभ्रंश है। "धनुकुल" वाद्य का आविष्कार कर बस्तर के आदिवासी समाज ने यह सिद्ध कर दिया है कि इधर धनुष केवल आत्मरक्षा एवं आखेट का ही साधन नहीं है, हंडी केवल पानी भरने का साधन नहीं है, सूप केवल अनाज छाँटने का ही साधन नहीं है, और बाँस की खपच्ची-दोने-पत्तल सीने के लिए केवल सींक प्राप्त करने का साधन नहीं है, वरन् इन सबके सामंजस्य से एक अनोखी एवं आकर्षित वाद्यरचना भी हो सकती है, जिसकी "छर-छर-छर-छर-छर", "छरछर-छरछर", "धुम्म-धुम्म" वाली कर्णप्रिय स्वरलहरी शौकीन श्रोता को रात-रात भर अपने इस सांगीतिक प्रभाव में बाँध सकती है। यह उल्लेखनीय है कि धनकुल वाद्य के माध्यम से प्रस्तुत होने वाले **जगारगीतों** की अपनी एक विशेष लोकधुन होती है।

धनकुल वाद्य की स्थापना "जगार-घर" में होती है। जगार स्थापित करने के लिए पहले जमीन पर आजू-बाजू दो गोल आहरा (हण्डी-स्टैण्ड) रखे जाते हैं और उन दो गोल आहरों के ऊपर दो नई हण्डियाँ स्थापित कर दी जाती हैं। नीचे के आहरे हण्डियों को स्थिर रखने का काम करते हैं। फिर उन दो हण्डियों के ऊपर दो नए सूपपट ढाँक दिए जाते हैं। सूपों के पृष्ठ भाग ऊपर रहते हैं। प्रत्येक हण्डी पर रखे सूप के ऊपर विशेष रूप से तैयार एक धनुष की कमान का अगला भाग टिका दिया जाता है। धनुष की कमान का निचला भाग नीचे जमीन पर टिका होता है और उसकी प्रत्यंचा नीचे तनी होती है। कमान के दाएँ भाग पर एक छोर से दूसरे छोर तक दाँते बने रहते हैं। **गुरुमाएँ** दोनों हण्डियों के बिलकुल करीब दो माचियों पर बैठ जाती हैं। उनके दाहिने हाथों में दो **"छीरन-कड़ियाँ"** होती हैं। ये 'छीरन-कड़ियाँ' बाँस की खपच्चियों के ऊपरी सिरों पर सात-आठ चीरे देकर बनाई जाती हैं। **'गुरुमाओं'** के दोनों हाथ सक्रिय रहते हैं। उनके दाहिने हाथों की **'छीरन-कड़ियाँ'** लगातार कमानों के दाँतों पर रगड़ खाती चलती हैं, जिससे वातावरण में अनवरत छरछराहट की ध्वनि होती है। प्रत्येक 'गुरुमाय' के बाएँ हाथ की मध्यमा धनुष की प्रत्यंचा को खींच-खींच कर छोड़-छोड़ देती है, जिससे हण्डी में से गूंज (धुम्म-धुम्म) निकल-निकल कर **'छीरनकांडी'** की छरछराहट को संगीत देती चलती है।

'गुरुमाएँ' अपने इस फन में इतनी सिद्धहस्त होती हैं, इतनी कलाप्रवीण होती हैं कि उनके गायन-वादन में असम्बद्धता की गुंजाइश ही नहीं रहती।

धनकुल वाद्य तथा गीत जनजातीय महिलाओं का वाद्य तथा गीत है। इसमें पुरुषों का अधिकार (अन्य वाद्यों के समान) बिल्कुल ही नहीं होता। यह हलबा, धाकड़, पनरा तथा भतरा जनजातियों में विशेष रूप से प्रचलित है। एकोडागाँव की मुरिया महिलाएँ भी अब इस वाद्य को बजाने में प्रवीण हो गयी हैं।

छायाचित्र क्रमांक–2. दण्डामी माड़िया महिला

बस्तर के विविध वाद्यों की यह विशेषता है कि उनके साथ नृत्य तथा गीत भी चलते हैं, किन्तु अधिक सभ्य जनजातियों का धनकुल वाद्य ही एकमात्र ऐसा वाद्य है जिसके साथ गीत तो गाए जाते हैं, किन्तु नृत्य कदापि अनुगत नहीं होता। यहाँ **धनकुल-गीत** की संक्षिप्त चर्चा है।

धनकुल-गीत का एक पर्याय **जगार-गीत** भी है। हलबी-भतरी में 'जगार' का शाब्दिक अर्थ है जागरण। जनजीवन में धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक चेतना उत्पन्न करना 'जगार-गीतों' का प्रमुख उद्देश्य है। प्रमुख रूप से जगार दो होते हैं—(क) तीजा-जगार (ख) लक्ष्मी-जगार। 'तीजा-जगार' का आयोजन तीज (हरतालिका व्रत) से एक माह पहले आरम्भ होकर ठीक तीज की रात में समाप्त हो जाता है। 'लक्ष्मीजगार' अगहन मास के लगभग आरम्भ होकर धान की गाहनी तक चलता रहता है। दोनों ही 'जगारगीत' प्रबन्ध-गीत हैं। 'तीजाजगार' के अन्तर्गत शिवविवाह का प्रसंग गाया जाता है और 'लक्ष्मी-जगार' के अन्तर्गत लक्ष्मी की उत्पत्ति से लेकर उनके स्वर्गारोहण तथा पृथ्वी पर आगमन तक का रोचक एवं विस्तृत प्रसंग मिलता है।

इन जगार-पर्वों की व्यवस्था अधिकतर ग्रामीण आदिवासी महिलाओं द्वारा की जाती है। परम्परा के अनुसार प्रत्येक जगार-आयोजन में **गुरुमायँ** अथवा जगारगायिकाएँ केवल दो होती हैं। इन्हें **पाटगुरुमायँ** कहा जाता है। पाटगुरुमायँ के नेतृत्व में **चेलीगुरुमायँ** धनकुल-वादन तथा गायन में सहयोग प्रदान करती हैं।

धनकुल उत्सव वाद्य और गीत

बस्तर में पारम्परिक लोक उत्सवों के समान ही उत्साह और भक्तिभाव से मनाए जाने वाले त्यौहारों में धनकुल का महत्वपूर्ण स्थान है। "धनकुल" लोक-संस्कृति के परिवेश में मनाए जाने वाले तीज या हरतालिका-व्रत का ही रूप है। इस पर्व में महिलाएँ अपने अक्षुण्ण सौभाग्य के लिए देवी गौरी की आराधना करती हैं। यह उत्सव बस्तर के जनजीवन में काव्यात्मक लोककथा के रूप में विद्यमान है और इससे बस्तर के सांस्कृतिक संक्रमण के विविध पहलुओं को समझने में मदद मिलती है। इस समय गाए जाने वाले गीत में वाद्य के रूप में प्रमुखतया धनुष का प्रयोग होता है, इसलिए धनकुल कहा जाता है।

इस पर्व की कथा भादों के कृष्णपक्ष की नवमी से प्रारम्भ होती है। पहले जब जनजीवन अधिक व्यस्त नहीं था, धनकुल श्रावण मास की अमावस्या से ही प्रारम्भ हो जाता था। सम्प्रति "धनकुल" अपेक्षाकृत सम्पन्न घरों में स्थापित किया जाता है। आस-पास पड़ोस की स्त्रियाँ वहाँ एकत्र होकर **धनकुल-कथा** सुनती हैं और पूजा में भाग लेती हैं।

धनकुल की स्थापना धूमधाम के साथ की जाती है। जिस घर में धनकुल रखा जाता है उस घर को पहले से लीप-पोत कर साफ कर लिया जाता है। स्थापना के दिन यहाँ गाँव व पड़ोस की स्त्रियाँ जमा होती हैं। गृह-स्वामिनी तीज-कथा गाने वाली स्त्री का पादप्रक्षालन करती है। तीजकथा गाने वाली यह महिला धनकुलवादक होती है, जिसे **गुरुमाय** (गुरुमा) कहा जाता है। गुरुमाय पूजा-अनुष्ठान प्रारम्भ करती है। सर्वप्रथम धनकुल की **स्थापना** की जाती है। 'अल्पना' की हुई दो नई हँड़ियाँ समानान्तर में रख दी जाती हैं। इनके बीच कलश रखा जाता है। पहले पीले चावल-फूल और इत्र आदि से कलश की पूजा की जाती है फिर हँड़ियों की पूजा की जाती है। हँड़ियों के मुँह नए सूपों से ढक दिए जाते हैं। इन सूपों पर प्रत्येक के ऊपर एक धनुष (जिसके एक सिरे का बाँस दँतीला होता है) रख दिया जाता है। प्रत्येक हंडी के सामने एक-एक **मचिया** रख दी जाती है। एक मचिया पर गुरुमाय और दूसरी पर उसकी सहायिका बैठती है। गुरुमाय मचिया पर बैठकर अपने घुटने के नीचे धनुष इस प्रकार रखती

है। कि उसके सिरे का नोक सूपे पर रहे और **तांत** नीचे। दूसरा सिरा घुटने के नीचे जमीन से टिका रहता है। फिर वह धनुष के खुरदरे भाग पर फटी हुई बाँस की कमची को दाहिने हाथ से लयबद्ध रूप में घिसती है और बाएँ हाथ से धनुष को टंकार देती है, जिसे 'चर्रर्र-चर्रर्र' तथा 'धुम्म-धुम्म' की ध्वनि पैदा होती है। इसी के साथ गीतमय कथा प्रारम्भ हो जाती है—

देबी बले मैं दन्तेसरी, देबी बले मैं माता मावली।
बड़े देबी आस आया, तुइ बड़े देबी आस ।।1।।
आव आया तू करनाकोटिन, आव आया तुई करनाकोटिन।
घुमरा बिजे कर आया, तुइ घुमरा बिजे कर ।।2।।
जितरो आसत नानी बड़े, जितरो आसत नानी-बड़े।
सबके पैयाँ लागौं, हरि बोल, सबके पायँ लागौं ।।3।।
पायँ लागौ ।।

हे देवी दन्तेश्वरी तुम्हारे विविध नामों के साथ मैं तुम्हारा आह्वान करती हूँ। धनकुल की स्थापना के अवसर पर आप पधारें—

देबी बले मैं पारबती, देबी बले मैं पारबती।
तुय जगार घरे आव देवी, जगार घरे आव ।।4।।

देवी के विविध नामों का स्मरण करती हुई गुरुमाय गीत को कथात्मक ढंग से आगे बढ़ाती है—

देबी बले तुइ जाँगड़ा भीमा, देबी बले तुइ जाँगड़ा भीमा।
सरगपुर देबी आस आया, तुइ सरगपुर देवी आस।
एक घड़ी बिजे तुइ कर आया, एक घड़ी बिजे तुइ कर आया ।।5।।
देवी बले तुई छत्तीसकोटिन, देबी बले तुइ छत्तीसकोटिन ।।
एक घड़ी तुइ बिजे कर आया, एक घड़ी तुइ बिजे कर ।।6।।
बाटे आसे मोर नाँदर चुँआ, बाटे आसे मोर नाँदर चुँआ।
गोड़े धोई तुइ आव आया, तुइ गोड़े धोई आव ।।7।।
मायँ बले तुइ हिंगलाजिन, मायँ बले तुइ हिंगलाजिन।
एक घड़ी तुइ आव आया, एक घड़ी तुइ आव ।।8।।
मायँ बले तुइ सरगबिजलिन, मायँ बले तुइ सरगबिजलिन।
एक घड़ी तुइ बिजे कर आया, एक घड़ी तुइ बिजे कर ।।9।।
देबी बले मैं केसरपालिन, देबी बले मैं केसरपालिन ।।
एक घड़ी बिजे कर आया तुइ, एक घड़ी बिजे कर ।।10।।
मायँ बले तुइ गंगादेई, मायँ बले तुइ गंगादेई।
एक घड़ी बिजे कर आया तुइ, एक घड़ी बिजे कर ।।11।।

यही नहीं, आह्वान महादेव, आँगादेव आदि अनेक देवी-देवताओं का किया जाता है। धनकुल की स्थापना रात्रि के समय होती है। आह्वान-गीत की समाप्ति के पश्चात उसी रात्रि से धनकुल की कथा प्रारम्भ होती है, जो तीज की रात्रि तक चलती रहती है।

हिन्दू-धर्मशास्त्रों के अनुसार तीज या हरतालिका-व्रत-कथा हिमालय की पुत्री गौरी द्वारा महादेव को पति के रूप में प्राप्ति से सम्बन्धित है। कथा का अन्त इस आशय के साथ होता है कि जो भी स्त्री इस व्रत को नियमपूर्वक करेगी, भगवान की कृपा से उसे न केवल इच्छित वर की प्राप्ति होगी, वरन् उसका जीवन सदा सुखी रहेगा।

बस्तर के जनकाव्य में इस कथा का स्वरूप कुछ भिन्न है। कथा का प्रारम्भ गौरी के पितामह राजा **सलमलरैय्या** और पितामही **कोतादेई** से होता है। उनके यहाँ **डाहांक रैय्या** नामक पुत्र का जन्म होता है। डाहांक रैय्या राजा के यहाँ घरजवाँई बनकर रहता है। वहाँ उसके पराक्रम की अनेक प्रकार से परीक्षा ली जाती है और सफल होने पर राजा अपनी पुत्री **जानादेई** का विवाह **डाहांक रैय्या** से कर देता है। लिपिबद्ध न होने पर भी और गुरु-शिष्य-परम्परा की अनेक सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् यह गीतिकथा न केवल सम्पूर्ण घटनाक्रम को क्रमवार प्रस्तुत करती है, अपितु देश-काल और पात्र के प्रभावस्वरूप उसमें सामाजिक रीति-रिवाजों, आचार-विचार और व्यंग-विनोद का भी समावेश होता गया है; जैसे जब **जानादेई** को उसकी प्रधान सेविका सात नदियों के पानी से स्नान कराती है और उससे जो पानी बहा, उसके सम्बन्ध में गुरुमाय कल्पना करती है—

जानाजेई रानी स्नान कर रही है
सात नदियों के पानी से स्नान कर रही है,
खल-खल पानी बह रहा है,
और धीवर उसमें नाव चला रहे हैं ।।1।।
मरार उस पानी से अपने बगीचे सींच रहे हैं
ब्राह्मणी हल्दी लगाकर स्नान कर रही है
और पंडित जी अपना जनेऊ धो रहे हैं ।।2।।

समारोह में भाग लेने वाली महिलाओं के मनोरंजन हेतु बीच-बीच में व्यंग्य का समावेश भी कर लिया जाता है।

ऐसा विश्वास है कि जिस स्थान पर धनकुल या तीजव्रत की स्थापना होती है, वहाँ जगन्माता का आवास होता है। अतः उस स्थान पर भेंट देने या अपनी उपस्थिति दर्शाने-हेतु शिव तथा पार्वती के गण तथा गणिकाएँ देवी-देवताओं के साथ आती हैं। अतः यदि आप किसी धनकुल-पर्व में उपस्थिति हों और अचानक कोई देवी या देवता अपने पुजारी को माध्यम बनाकर उस पर सवार होकर वहाँ पहुँच जाय, तो आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए। गुरुमाएँ सब सम्हाल लेती हैं। गृहलक्ष्मी धूपदीपनैवेद्य देगी और स्तुतिगानों से गुरुमायँ उन्हें प्रसन्न कर लेगी। आगन्तुक देवी-देवता प्रसन्न होकर वापस लौट जाएँगे। आठ-दस दिन में यदि पाँच-छह देवता इस प्रकार पहुँच जायँ, तो कोई आश्चर्य नहीं है। किन्तु सबके बावजूद कथाक्रम आगे बढ़ता रहता है।

रानी जानादेई और राजा डाहांक रैय्या के यहाँ एक पुत्री 'बाली गौरा' जन्म लेती है। बाललीलाओं के सहित वह यौवन की ओर बढ़ती है। एक दिन माता के मना करने पर भी घर से बाहर खेलने चली जाती है। मार्ग पर बालू के गढ़ बनाकर खेलती है। उसके घर को भगवान शिव के नंदी रौंद देते हैं। बाली गौरा रुष्ट होकर नंदी के स्वामी से कहती है—

आँखी नी दिखे ए ढोलका मुँड़िया
आँखी नी दिखे ए झापड़ा मुड़िया
नदिया के खेदिस ।।

"ए, बड़े शिर वाले, जटाजूट वाले ! तुझे क्या नहीं दिखता जो तू अपने नंदी हाँके जा रहा है।"

बाली गौरा शिव को नहीं पहचान पातीं और महादेव को भलाबुरा कहती हैं। महादेव उसे अपना परिचय तो नहीं देते, किन्तु उससे विवाह करने की प्रतिज्ञा करते हैं। बाली गौरा घर आकर अपनी माता को इस घटना का विवरण देती है। उसके हृदय में भी प्रणय की इच्छा जागती है और जब शिव नहीं आते तो वह तप करने के लिए बैठ जाती है। पहले वह पहाड़ पर तप करती है, बैलाडीला के नंदिगिरि पर। फिर पेड़ पर चढ़कर तप करती है। फिर अपने चारों तरफ आग जलाकर तपनिरत रहती है और अन्त में जल में जाकर तपस्या करती है। महादेव उसकी परीक्षा लेने के लिए छद्म रूप धारण करते हैं। कभी वे नाग बनकर आते हैं, तो कभी बाघ बनकर। कभी 'तेलचाटी' बनकर उसके शरीर को घेर लेते हैं। किन्तु बाली गौरा विचलित नहीं होती और महीनों जल के भीतर तपस्या करती रहती है। यहाँ भी महादेव उस पर अपनी माया चलाते हैं, किन्तु यहाँ बाली गौरा उन्हें पहचान लेती है। उसका शिव के साथ विधिवत् विवाह हो जाता है। यह विवाह जल की देवता जलकामिनी तथा 'येरकेन्यांग' कराती हैं।

इस कथाप्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है कि पानी के भीतर महादेव की माया भी नहीं चलती। यह जनजातियों की इस धारणा के अनुकूल है कि पानी के भीतर जादूटोना, माया आदि दिव्यशक्तियों का वश नहीं चलता। इस कथाप्रसंग में जहाँ एक ओर महादेव को मायावी शक्तियों के स्वामी के रूप में दिखाया गया है, वहाँ उन्हें जनजाति के अपने ही सामान्य पुरुष के रूप में उपस्थापित किया गया है।

विवाह के पश्चात् बाली गौरा को अपने जटाजूट में छिपाकर महादेव कैलाश पर जाते हैं। यहाँ पार्वती उनसे अनुपस्थिति का कारण पूछती है और शिव कई बहानों को बनाने के बाद यह प्रकट करते हैं कि उन्होंने बाली गौरा से विवाह कर लिया है।

बालीगौरा को स्वीकार करने से पूर्व पार्वती उसे भाँति-भाँति का कष्ट देती हैं। उससे कहती हैं कि वह चलनी में पानी भर कर लावे। भेलवाँ के दाग वाले कपड़ों को बगुलों के पंख के समान सफेद करने को कहती हैं। बाली गौरा सारे असम्भव कार्यों को संभव करके दिखा देती हैं। तब पार्वती उसे अपनी बहन के रूप में स्वीकार कर लेती हैं।

किन्तु इसी के साथ कथा का प्रवाह मुड़ जाता है तथा बाली गौरा अपना शरीर छोड़ देती है। यहाँ की प्रचलित कथा में पुनः एक बार बाली गौरा का जन्म होता है और पुनः पार्वती की पहल पर महादेव उसके साथ विवाह करते हैं।

इस व्रत का आदिवासीजीवन में व्रत के रूप में जितना माहात्म्य है, उतनी ही श्रद्धापूर्वक कथावस्तु में श्रोता रुचि लेते हैं। इस प्रकार धनकुल के रूप में गौरी की पुराणकथा आदिवासी अंचल में अपना धार्मिक स्वरूप अब तक सुरक्षित किए हुए है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्रविड़ जनजातियों ने जिस प्रकार शिव के लिंगोरूप की अपनी संस्कृति में स्थापना की है, उसी प्रकार आर्य जन-जातियों में बाली गौरा शिव की अर्द्धांगिनी गौरी का स्थानापन्न है।

2.3. वितत वाद्य

शास्त्रीय संगीत में इन्हें अवनद्ध वाद्य या आनद्ध वाद्य भी कहा जाता है। ये चमड़े से मढ़े हुए वाद्य होते हैं। ये वाद्य आघात किए जाने से बजते हैं। यह आघात या तो हाथ से किया जाता है अथवा दण्ड से या किसी अन्य माध्यम से आघात हो सकता है। बस्तर में कुल बारह अवनद्ध वाद्य प्रचलित हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है—

2.3.12. निसान (मु०, द०, ह०, छ०) अर्थात् निस्साण (सं०)

प्राचीन साहित्य में निस्साण एक युद्धकालीन वाद्य के रूप में प्रसिद्ध है—

कांस्यजस्ताम्रजो लौहो वोत्तमो मध्ययोऽधमः
एकवक्त्रो महान्ववक्त्रे स्वल्पोऽर्धो यवाकृतिः ।।
भूतगर्भकांस्यपात्रभारैर्महिषचर्मणा ।
छन्नाननो बद्धचर्मतद्रन्धन्यस्तवध्रकैः ।।
क्षिप्तोऽधो वप्रवलये निवेश्यावर्तितैर्मुहुः ।
द्विवद्वित्रासजनितो निःसाणः शार्ङ्गिणोदितः ।।
चार्मण्येनास्य कोणेन सद्वितीयस्य वादनं ।
दृढशब्देन भीरूणां भिनत्ति हृदयान्वयन् ।।
स्यादस्माद्युद्धवीराणां रोमांचोपचितं वपुः ।।

[वाद्याध्याय, अड्यारसंस्करण, पृ० 484-85]

महाकवि तुलसीदास के रामचरितमानस (बालकाण्ड 339) में निसान का उल्लेख अनेकशः हुआ है :

सुर प्रसून बरषहिं हरषि करहिं अपसरा गान ।
चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान ।।

बस्तर की जनजातियाँ निसान वाद्य का सम्प्रति उत्सवों में प्रयोग करती हैं; किन्तु इस वाद्य के ज्ञान से पुनः हम इस बात की ओर संकेत करने के लिए विवश हैं कि प्राचीन काल में ये योद्धा जातियाँ रही होंगी और यह निसान वाद्य इन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है ।

मुरिया-क्षेत्र में प्रचलित **निसान** भूमि पर रखकर दो दण्डों से बजाया जाने वाला लौहनिर्मित एक पल्ली वाला एक बड़ा ढोल है, जो एकमुखी होता है। इसके निमित्त जब नए चर्म की आवश्यकता होती है तो मुरिया 'लिंगो-पेन' को एक बैल की बलि देते हैं और उसी दिन से पशु-चर्म को तैयार करने में जुट जाते हैं । इस ढोल को मुरिया में **मावालोटी** या **लोहाटी** भी कहा जाता है। सम्प्रति निसान मृत्तिकानिर्मित होता है । आच्छादन के बाहर गादी (अवलेप) तथा भीतर तेल लगाया जाता है ।

2. 3. 13. गोगा (मु०)

काष्ठनिर्मित यह ढोल 14 इंच गहरा होता है। इस एकमुखी ढोल के मुख पर 17 इंच व्यास की गोचर्म की पल्ली चढ़ी रहती है। यह कन्धों पर लटकाया जाता है तथा एक ही दण्ड के माध्यम से दाहिने हाथ से बजाया जाता है। उत्सवों तथा महत्वपूर्ण व्यक्तियों की मृत्यु पर इस ढोल को बजाया जाता है (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-3)।

2. 3. 14. तुरबुड़ी (ह०) या तुड़बुड़ी (मु०, द०) अर्थात् तूर्य (सं०); कुंदुर (मु०) कुन्दिड़ (मु०), कुन्दीड़ (झो०), कुँदुरी (मु०) कुँदुरका (मु०) या कुन्दुड़ (अ) अर्थात् कुडुक्का (सं०)

संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित तूर्य हलबी में तुरबुड़ी और मुरिया में तुड़बुड़ी या टुड़बुड़ नाम से मिलता है। इसका अपर पर्याय कुडुक्का (वासुदेव शास्त्री, संगीतशास्त्र, लखनऊ 1968, पृ० 281) है, जिसके उपर्युक्त स्थानीय परिवर्त्य मिलते हैं। यह तश्तरी लगा हुआ एक अर्द्धगोलाकार एकमुखी मृत्तिका ढोल है, जिसे हम अबुझमाड़िया के 'तुरम' वाद्य का संशोधित संस्करण मान सकते हैं। यह शहनाई के साथ बजाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह वाद्य अन्नंदेव अपने साथ बस्तर लाए थे, जिसे मुण्डा-गीतों में डुबडुबी कहा गया है। लौहनिर्मित तुड़बुड़ी को 'लोहाटी' कहा जाता है। अन्य वाद्यों के समान इसमें सभी पाटाक्षर मिलते हैं।
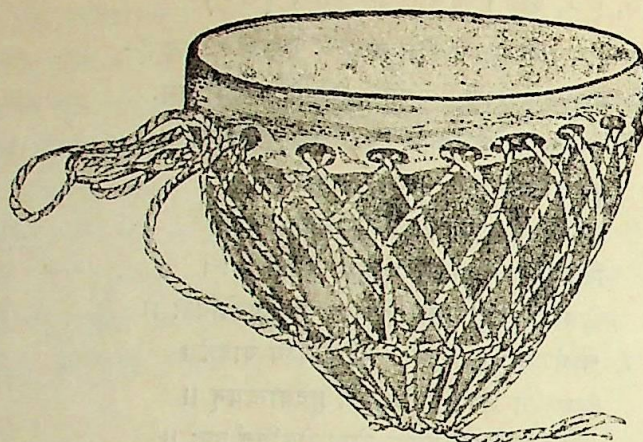
रेखाचित्र क्र० 3. गोगा ढोल (सन्दर्भ 2. 3. 13)

2. 3. 15. तुरम (अ) या तुडुम (आ०, ते०) अर्थात् तूर्यम (सं०)

विगत परिच्छेद में वर्णित 'तूर्य' का ही एक अबुझमाड़िया रूप तुरम है, और तेलुगु एवं आदिलाबाद की गोंडी में इसे तुडुम कहा जाता है। द्रविडियन एटीमॉलाजिकल डिक्शनरी (2699) में इसे द्रविड़ मूल का माना गया है किन्तु 'तुड़बुड़ी' से इसका सादृश्य होने के कारण निस्सन्देह यह प्राचीन नाम "तूर्यम्" से ही विकसित प्रतीत होता है।

अबुझमाड़ियों का यह तुरम एकमुखी चर्म की खोल वाला ढोल है। इसका आकार लकड़ी के कटोरे-जैसा होता है। आमतौर पर यह सलफी के पुराने वृक्ष के तने से बनाया जाता है, जिसे 'कडरी' (चाकू) के माध्यम से कटोरे की आकृति में तरासा जाता है। यदा-कदा बीजा की लकड़ी का भी उपयोग किया जाता है। इसमें लगायी हुई पल्ली बिना पकी हुई गोचर्म होती है, जिसके बाहरी भाग में निकले हुए बाल साफ तौर से देखने में आते हैं। चर्म की डोरी को आड़े-तिरछे रूप में पल्ली तथा कटोरेनुमा आकृति में फँसा दिया जाता है। ये डोरियाँ पल्ली में छेद करके फँसाई जाती हैं। डोरियों को फँसाने के बाद उन्हें तान दिया जाता है। सलफी और बीजा के स्थान पर कभी-कभार मिट्टी के कटोरे का भी उपयोग कर किया जाता है। इसका प्रयोग अन्तागढ़ के मुरिया तथा दक्षिण बस्तर के दोर्ला भी करते हैं।

तुरम ढोल को वादक पृथ्वी पर अपनी दोनों टाँगों के बीच में रख कर बजाते हैं। वादक घुटनों की ओर पैर मोड़कर चूतड़ के बल बैठते हैं। दण्ड को मध्यमा अँगुली के सहारे पकड़ा जाता है। दाहिने हाथ का दण्ड बायें हाथ के दण्ड से थोड़ा बड़ा होता है। 'कगसार' और विवाहोत्सव को छोड़कर अन्य अवसरों पर 'तुरम' बजाना वर्जित है।

इसकी लय दाएँ हाथ से गुरु मात्रा (आघात) से प्रारम्भ तथा समाप्त होती है, जिसमें वायीं ओर दस लघु मात्राएँ एवं दायीं ओर पाँच लघु मात्राएँ इस प्रकार होती हैं :

गु ल ल ल ल ल ल गु।

इस प्रकार दस मात्राओं की समताल इस वाद्य में सुस्पष्ट है।

मुरिया जनजाति में प्रचलित तुरम या तुड़बुड़ी (2·3·15) अबुझमाड़िया के तुरम वाद्य से इस रूप में भेदक है कि मुरियों का तूर्यम कमर पर लटकाया जाता है तथा विविध उत्सवों में इसे दो दण्डों के माध्यम से बजाया जाता है।

2. 3. 16. पेकडोल या वेद्दुर डोल

अबुझमाड़ियों में जब तुरम ढोल बजाना वर्जित होता है, तो अबुझमाड़िया बालक **पक-डोल या वेद्दुर-डोल** का प्रयोग करते हैं। 'पक' बाँस की खपच्ची का वाचक हुआ तथा 'वेद्दुर' बाँस (वेत्र) का उपलक्षक है। इस रूप में यह बाँस के ढोल का ही अभिव्यंजक है।

'पकडोल' खण्डित-तंत्री वाद्य भी है तथा अवनद्ध वाद्य भी। यह 'नोली-वेद्दुर' नामक नलीदार दो फुट लम्बे तथा मोटे बाँस से बनता है, जिसे हलबी में 'बेंदरी-बाँउस' कहते हैं। बाँस की बाहिरी ओर 18 इंच की पल्ली होती है। बाँस का शेष भाग तीन धारों में बँटा होता है। इसके अन्तिम छोर पर तीन इंच की एक गाँठ होती है। त्रिधाराओं वाला भाग 1/8 इंच मोटा होता है तथा $1\frac{1}{2}$ इंच चौड़ा होता है। इस बाँस को दो दण्डों के योग से बनाया जाता है। इसमें लम्बी काट वाले तीन तार होते हैं। ढोल को पृथ्वी पर रखकर बजाया जाता है। 'तुरम' के ही समान ढोल की डोरियों को कसा जाता है।

यह ढोल छह-सात वर्ष के बालक-बालिकाओं के उपयोग में उस समय आता है, जब वे नृत्य सीखने लगते हैं और पदचारण को भी समझने लगते हैं। ये पकडोल के लय से शीघ्र ही परिचित हो जाते हैं।

2. 3. 17. डाकी (मु०) या खंजरी (ह०) अर्थात् कंजिरा (सं०)

मुरियाजन द्वारा प्रयुक्त डाकी बहु प्रचलित खंजरी का ही एक आदिम रूप है। खँजरी नाम हलबी में मिलता है, जो संस्कृत के 'कंजिरा' से व्युत्पन्न है। यह एक मुख वाला वाद्य है। मूल्य और वादन दोनों दृष्टियों से यह एक सस्ता वाद्य है। बाएँ हाथ से पकड़ कर दाहिने हाथ से बजाया जाता है। इसका व्यास 15 इंच होता है। लम्बाई तीन या चार अंगुल होती है। मुख बकरे के चमड़े से मढ़ा जाता है। पिण्ड में तीन या चार द्वार हैं, जिनमें ताँबे के दो सिक्के स्वर की उत्पत्ति के लिए लगाए जाते हैं। यह वाद्य पूरे उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ में प्रचलित है तथा जुआङ में इसे 'चांग' कहा जाता है।

दो मुँह वाले वितत वाद्य

2. 3. 18. ढोल (झो, आ, मु, ह) या डोल (दो, द) अर्थात् ढोल्लअ (अपभ्रंश)

सभी जनजातियों में ढोल या डोल मिलते हैं और सम्भवतः द्रविड़ जनजातियों में ये आर्य जनजातियों से संस्कृति-संक्रमण के माध्यम से आयातित हुए हैं। यह बड़े आकार का गोलाकृत दो मुख वाला लकड़ी का एक ढोल है, जो 15 इंच गहरा होता है। इसका व्यास 17 इंच होता है। इसका मुख गोचर्म से ढका रहता है। चमड़े की डोरी में बाँस की मुद्रिका को फंसाकर इसे कसा जाता है। यह मान्यता है कि इस ढोल में **लिंगो** तथा **बरहापेन** का आवास होता है। उत्सवों में इसे एक ही दण्ड से बजाया जाता है। निर्घोषमय तथा प्लुत स्वरों के कारण इस वाद्य के सम्बन्ध में अधोलिखित पहेलियाँ प्रचलित हैं--

कइदे नेहतिके बीतामेंड दान्ता।
तड़गा ते हितेके कोसमेंड दान्ता।।

अर्थात् थाप से मारने पर यह बीता भर जाता है तथा दण्ड से मारने पर यह कोस (दो मील) तक जाता है। दण्डामी माड़िया में इसे 'पेन-डोल' भी कहा जाता है।

2. 3. 19. परांङ्ग (मु०) (द्रविड़व्युत्पत्ति, डी. ई. डी.–3319) अथवा तोड़ी-पर्रा (मु०) अथवा पर्राय (अ) अथवा फरा (आ)

मिट्टी का बना हुआ यह कमर में लटकाया जाने वाला ढोल है, जिसकी आकृति रेतघड़ी के समान होती है। इसकी लम्बाई 18 इंच से 22 इंच तक की होती है। इसके दोनों मुखों पर गाय के चर्म की 9 इंच की खोल मढ़ी

होती है। कतिपय मुरिया-गाँवों में इसका प्रयोग माँदरी (देखिए) के स्थान पर होता है। तमिल में ढोल को परई कहा जाता है तथा स्थानीय मुरिया इसे तोड़ी पर्रा, पर्राइ, या पर्रायिन आदि नामों से पुकारते हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक—4)।
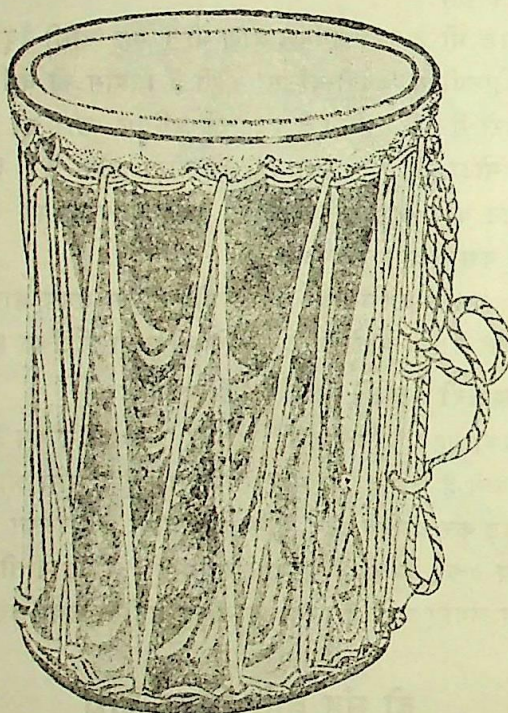
रेखाचित्र क्र० 4. पर्राङ्ग ढोल (सन्दर्भ 2. 3. 19)

2. 3. 20. ओझा पर्रा (मु०) या हुलकी माँदरी (मु०) या डमरू (मु०) अर्थात् डमरुक (सं०)

पर्राङ्ग (2.3.19) ढोल का एक काष्ठ-संस्करण भी होता है, जो यद्यपि मिट्टी के 'पर्राङ्ग' से छोटा होता है, किन्तु बनावट 'पर्राङ्ग' जैसी होती है। इस काष्ठ-पर्राङ्ग को 'ओझा-पर्रा' या 'हुलकी-माँदरी' या 'डमरू' कहा जाता है, जो कि 'डमरुक' का ही अपभ्रंश है। चूँकि इसका प्रयोग हुलकी-नृत्य में होता है, अतएव इसे "हुलकी-माँदरी" भी कहा जाता है। यह वंशपरम्परा के गायक घुमक्कड़ ओझा जनजाति के द्वारा प्रयुक्त होता है; अतएव इसे "ओझा-पर्रा" भी कहा जाता है। यह एक फुट से बड़ा वाद्य नहीं होता। इसके दोनों छोर 6 इंच व्यास के होते हैं तथा कमर के नीचे यह 3 इंच सँकरा होता है। इसे एक ही काष्ठ से पोला किया जाता है। इसके दोनों मुखों पर गोह-चर्म की पल्ली मढ़ी होती है। इस पल्ली को चर्म से कस दिया जाता है। चमड़े का एक पट्टा कमर के चारों ओर बाँध कर इसे हाथ में रखा जाता है। 'डमरुक' का एक प्रकार से यह मुरिया-संस्करण भी है। अपने छोटे आकार के कारण इसमें गोटियाँ लगी होती हैं, जो कम्पन के कारण विशेष प्रकार की ध्वनि पैदा करती हैं।

2·3·21. बिरिया (द०) या त्रिया

दण्डामी माड़िया दो पल्लियों वाले एक बड़े आकार के जिस ढोल का प्रयोग करते हैं, उसे **बिरिया ढोल** कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है विशालाकृति वाला ढोल। इस ढोल का पोला सिलैण्डर बीजा या सिउना की लकड़ी से बनाया जाता है, जो 16 से 17 इंच तक के व्यास की होती हैं। दाएँ तरफ की पल्ली बकरी के चर्म से बनी होती

है। ऐसे लोग जिनका बकरी 'टोटेम' है, वे भी बकरीचर्म का प्रयोग करते हैं। इसे (बकरी की पट्टी वाले भाग को) दाहिने हाथ की अँगुलियों के कोण से बजाया जाता है। दूसरी पल्ली गायचर्म से बनी होती है या बैल के चर्म से बनती है। इसे बाएँ हाथ से बाँस के दण्ड के माध्यम से बजाया जाता है। यदा-कदा कोणों को मटर के दाने-जैसी लौह गुटिकाओं से सजाया जाता है। यह स्त्रियों के नृत्यदण्ड **'तिरडुडी'** से जुड़ा होता है। ढोल की दोनों पल्लियों को गोचर्म की डोरियों से कस दिया जाता है और यह डोरी सिलैण्डर के बाहरी भाग से आड़ी-तिरछी फँसा दी जाती है। यह लकड़ी का सिलैण्डर कभी-कभी तीन फुट लम्बा होता तथा इसका वजन दो मन से भी अधिक हो जाता है। चमड़े की पट्टी के माध्यम से ढोल को दाहिने कन्धे पर इस प्रकार लटकाया जाता है कि उसका सिलैण्डर पेट के सामने आ जाय। इस ढोल का दाहिना भाग अधिक ऊँचा होता है। दण्डामी माड़िया में बिरिया ढोल को बजाने के लिए किसी प्रकार का 'मेलो' (टैंबू) नहीं मिलता है।

व्रिया या बिरिया ढोल के माध्यम से अलग-अलग नृत्यों के लिए अलग-अलग ताल या पाटाक्षर (drum rhythms) निश्चित हैं। विवाह तथा आखेट की सफलता के लिए एक प्रकार की प्लुत मात्रा का प्रयोग होता है, जब कि किसी की मृत्यु की स्थिति में घर के भीतर से बजाये जाने वाले बिरिया ढोल की ताल बहुत मन्द (लघु) मात्रा की होती है। अबूझमाड़िया तथा मुरिया जनजाति के **'ककसाड़'** नृत्य के समान इनके यहाँ प्रचलित 'पेन-करसीता' नृत्य में हाथ की अँगुलियों का प्रयोग नहीं होता, केवल एक दण्ड का प्रयोग होता है। इसकी ताल सात लघु मात्राओं से प्रारम्भ होती है तथा दो गुरु मात्राओं से समाप्त होती है। इस प्रकार यह एक विषम ताल है, जो ग्यारह मात्राओं का होता है।

2. 3. 22. माँदर (ह०) या माँदरी (मु०) या मर्दाल (ह०) अर्थात् मर्दल (सं०); मिरदिंग (मु०, ह०, भ०) अर्थात् मृदंग (सं०), चाँग (ह) अर्थात् चाँगि (मुण्डा)

संस्कृत मर्दल अथवा मृदंग के उपर्युक्त अपभ्रंश-रूपों के अतिरिक्त **मृदंग** के लिए हलबी में 'चाँग' का भी प्रयोग व्यवहृत होता है, जो मुण्डा भाषा के चांगि का विपर्यास है तथा इस बात का सूचक है कि बस्तर के आदिवासी संगीत पर मुण्डाप्रभाव है।

अवनद्ध वाद्यों में माँदर या मिरदिंग या चांग समूचे बस्तर में सर्वोपरि है। गायन तथा नृत्य की संगति के लिए एवं वृन्द-वादन को प्रभावशाली बनाने के लिए यह वाद्य सभी वाद्यों से उत्कृष्ट माना जाता है।

संस्कृत-साहित्य में मृदंग का सर्वप्रथम उल्लेख रामायण तथा महाभारत में मिलता है। बौद्ध तथा जैन-ग्रंथों में मृदंग के लिये **मुइंग** संज्ञा है और इसके विविध प्रकारों का उल्लेख है। भरत के नाट्य-शास्त्र में इसके निर्माण तथा वादनविधि के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन है। आदिकाल में मृदंग को "पुष्कर" वाद्य के नाम से जाना जाता था। पुष्कर वाद्य में चमड़े से मढ़े हुए तीन मुख थे। दो मुख बायीं और दाहिनी ओर रहते थे तथा तीसरा मुख ऊपर रहता था। उसका पिण्ड मृत् (मिट्टी) से बनाया जाता था। इसी कारण इसका नाम मृदंग पड़ा। कुछ समय के बाद बायीं और दाहिनी ओर दो ही मुख वाले वाद्य की सृष्टि हुई। फिर उसका पिण्ड लकड़ी से बनाया गया। आगमों में बताया गया है कि लकड़ी से बनाए हुए मृदङ्ग की सृष्टि ब्रह्मा ने की है और शिवताण्डव का साथ देने के लिए ही उसकी उत्पत्ति हुई। पुष्कर आज व्यवहार में नहीं है, पर मृदङ्ग आदिकाल से अब तक भारतीय शास्त्रीय संगीत में मुख्य स्थान पाता आ रहा है।

मुरिया 'चेलिकों' का प्रिय ढोल है माँदरी ढोल। यह एक विवाह ढोल भी है। आकृति की दृष्टि से यह सिलैण्डर या बेलन-जैसा एक उपकरण है। इसमें असमान आकृति की दो पल्लियाँ लगी होती हैं। 'घोटुल' जीवन में इसका अपरिहार्य महत्व है। मुरिया जनजाति की विविध नृत्यशैलियों में इसी ढोल का व्यवहार होता है।

बस्तर में यह ढोल आज दो रूपों में मिलता है। पहला रूप मृदंग के ही ढाँचे का है, जो सम्पूर्ण भारत में प्रचलित मृदंग की आकृति के ही समान है, किन्तु दूसरा रूप यहाँ की अपनी विशिष्टता लिए हुए है तथा वह 'डमरू' की आकृति का होता है।

2. 3. 23. खूँट-माँदरी अर्थात् खुण्ट मृदंग (सं०)

दो पल्लियों वाला ढोल है, जो 30 इंच लम्बा होता है तथा काष्ठ या मिट्टी का बना होता है। इसके दोनों छोर असमान आकृति के होते हैं—एक किनारा 10 इंच व्यास का तथा दूसरा किनारा 7 इंच व्यास का। इसकी पल्लियाँ गोचर्म की बनी होती हैं तथा गोचर्म की डोरी से इसे कसा भी जाता है।

हुलकी माँदरी या **ओझा पर्रा** अथवा डमरू का उल्लेख पहले किया गया है। यह कटि में बाँधा जाता है तथा एक ही लकड़ी को खोखला करने के बाद बनाया जाता है। इसके दोनों पल्लियों पर गोह-चर्म मढ़ा होता है। इस चर्म को बाँस की मुंदरी के माध्यम से 'सियाड़ीलता' की डोरी से कस दिया जाता है। इस ढोल की औसत आकृति 11 इंच लम्बी होती है तथा दोनों ही किनारों पर इसका व्यास $6\frac{1}{2}$ इंच होता है।

मुरियाजन की यह धारणा है कि आज संगीत का कोई उत्कष्ट प्रेमी ही काठ की माँदरी बनाता है। नहीं तो बाजार में मिट्टी के ढोल के साँचे सरलता से उपलब्ध हैं और आज इन्हीं के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है। ऐसे लोग जो आज भी लकड़ी का माँदरी ढोल बनाते हैं, उन्हें अत्यधिक सावधानी तथा अनुष्ठानिक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं (द्र० रेखाचित्र—7)।

मृदंग की निर्मिति

जून के महीने में प्रथम वर्षागमन के साथ जब मेंढक बोलने लगते हैं, 'चेलिक' उपयुक्त वृक्ष की खोज में जंगल की ओर निकल जाते हैं। मृदङ्ग का पिण्ड बीजा, सिउना, महुआ, आम या डूमर (गूलर) की लकड़ी से बनाया जाता है। सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली बीजा वृक्ष की ही लकड़ी होती है। वृक्ष को काटने से पहले 'चेलिक' सियाड़ी धूप सहित अण्डे की आहुति अग्नि में देते हुए वृक्ष से ही निवेदन करता है—

"देख, हम तुझे ढोल बनाने के लिए काट रहे हैं। तू अच्छे ढोल जैसी आवाज पैदा करना।" कुछ गाँवों के 'चेलिकों' में सियाड़ी तथा नारियल की आहुति दन्तेश्वरी व 'डूमा' देव को लक्ष्य करके होती है—"हमारे ढोल मधुर आवाज दें। हम प्रत्येक पदसंचार (डाका) तथा प्रत्येक बोल (पाड़) में दक्षता प्राप्त कर लें। सभी चेलिक सुखी तथा निरामय हों। चेलिक तथा मोटियारी भद्र गीतों का गायन करें।"

वैवाहिक उत्सवों में ढोलों की पूजा के साथ 'भीमुल' का नामोल्लेख संभवतः उसके विद्युत् तथा वर्षा के साहचर्य के कारण है। कुछ लोककथाओं में यह विवरण मिलता है कि जब भीमुल आकाश में पानी भरे खाल (चमस) को घसीटते हैं, तो विद्युत् उत्पन्न होती है। ऐसा भीमुल जो आकाश में घोष उत्पन्न कर सकता है, वह पृथ्वी पर ढोलों में भी निर्घोष पैदा कर सकता है। इस प्रकार मुरिया माँदर का देवता 'भीमुल' या 'लिंगो' है, जब कि शास्त्रीय मृदंग के देवता नन्दिकेश्वर हैं (दोनों में अद्भुत साम्य)।

'चेलिक' वृक्ष को काटकर उसके पिण्ड को घर ले जाता है तथा अपनी 'बारसी' (बसूला) से उस पिण्ड को **काठा** का आकार दे देता है। काठा के एक किनारे में पशुचर्म के लिए छिद्र बना देता है तथा उसे लकड़ी की खूँटी से बन्द कर देता है। इसे हम ढोल का **"नाभिकीय स्थूण"** कह सकते हैं। जब ढोल का काठा तैयार हो जाता है तो 'चेलिक' उसे फूँकता है, जिसके पीछे यह मान्यता है कि अन्दर जितनी हवा समाएगी, ढोल उतना ही अधिक सुमधुर ध्वनि पैदा करेगा। उसके पश्चात् काठे को सिझाने की क्रिया होती है। काठे को एक वर्ष के लिए घर के
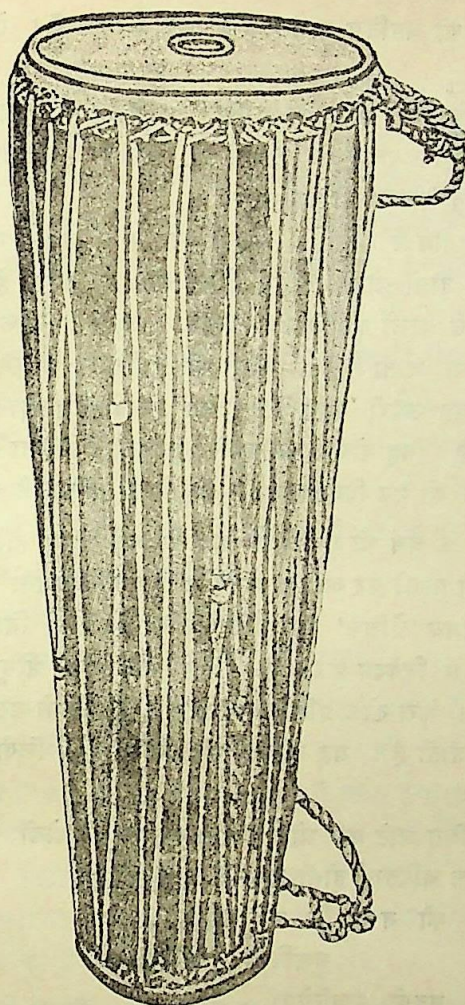
रेखाचित्र क्र० 7. माँदरी (सन्दर्भ 2.3. 22)

अन्दर रख दिया जाता है। रखते समय काठे की सुरक्षा की दृष्टि से 'भीमुल' के समक्ष सुअर की बलि देनी होती है। पुनः एक वर्ष बाद जब मेंढक बोलने लगें तो काठे को बाहर निकाला जाता है और तब एक वर्ष के अन्तराल के पश्चात् काठे पर खाल मढ़ी जाती है।

खाल चढ़ाने के समय उपयुक्त संस्कार की आवश्यकता होती है। 'चेलिक' गोचर्म को नदी में ले जाता है तथा उसे पानी में शोधन के लिए डुबो देता है। तीन-चार दिनों के पश्चात् जब चर्म से बाल सरलता से निकलने लगते हैं, तो वह उसे पानी से निकाल लेता है तथा 'जलकन्याओं' (एरकेन्याङ) के समक्ष रक्तवर्ण तथा कृष्णवर्ण की धूलि के साथ आँवले की पत्तियों की सात अँगूठियों (जो सात जलकन्याओं के लिए होती है), अण्डे के खोल, चूजा, तथा मदिरा की आहुति देते हुए कहता है—

"हे जलकन्याओं, (गोचर्म के कारण) अनेक दिनों तक आप अपवित्र रही हैं। आपको पुनः पवित्र करने के लिए मैं यह आहुति दे रहा हूँ। गोचर्म अच्छा रहे तथा आघात से कभी फटे नहीं।" गोचर्म से जल अपवित्र हो जाता है, यह मुरियाजनों की प्राचीन मान्यता है। जब गोचर्म फट जाता है तो मुरिया यह मानते हैं कि 'जलकन्याएँ'

अभी तक गोचर्म के संयोग से अपने को अपवित्र मान रही हैं और असंतुष्ट हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें संतुष्ट करने के लिए पुनः बलि दी जाती है।

गोचर्म को घर में एक वर्ष के लिए शोधन तथा शोषण के लिए रख दिया जाता है और आगामी वर्ष जब प्रथम वर्षागमन के साथ मेंढक बोलने लगते हैं तो गोचर्म को काठे पर चढ़ाया जाता है। मुरिया लोगों की यह मान्यता है कि ढोल मेंढकों के समान 'बोलों' को पैदा करेगा।

'चेलिक' अपने मित्रों के सहयोग से भूमि पर लकड़ी का एक छोटा-सा मचान बना लेता है तथा गोचर्म को उस पर फैला देता है। दो 'चेलिक' दोनों छोरों पर खड़े होकर खाल को तानते हैं। खाल के ऊपर राख छितरा दी जाती है तथा लकड़ी के एक टुकड़े से बालों को निकाल दिया जाता है। खाल को दुहरा देने के पश्चात् ढोल के मुख को नीचे की ओर कर दिया जाता है तथा थोड़ी सी हासिया को छोड़कर खाल को काट लिया जाता है। जब खाल सूख जाती है तो वह ऊपरी भाग को वांछित आकार देता है और नीचे की खाल को चारों ओर प्रक्षेपित करने के लिए छोड़ देता है। वह गोचर्म की लम्बी-लम्बी डोरियाँ बना लेता है तथा उन्हें गोलाकृति दे देता है। तदनन्तर दोनों छोरों पर खाल को मढ़ दिया जाता है और उन्हें डोरियों के माध्यम से तान दिया जाता है।

यह भी धारणा है कि बैल के चर्म की तुलना में गाय का चर्म उत्तम होता है। यह भी मान्यता है कि बाघ के द्वारा मारे गोचर्म से बनायी गयी पल्ली पर आघात करने से सिंह-जैसी गर्जना की ध्वनि पैदा होती है।

इस कार्य के निष्पादन के समय 'चेलिक' महुआ के फूल को पानी में सिझाता है और चावल, हल्दी, अण्डा तथा चूजे की बलि देता हुआ ढोल से निवेदन करता है—"देखें, माँदरीगुरू भीमुल ! सभी मृतात्माएँ देखें। मैं यह आहुति आपके निमित्त कर रहा हूँ। मेरा ढोल प्रतिदिन घोष करे।" 'लिंगो-संस्कृति' से प्रभविष्णु उत्तर के गाँवों में 'लिंगो' के नाम से आहुति दी जाती है। यह उचित भी है, क्योंकि 'लिंगो' ही वे आद्य संगीतज्ञ हैं, जिन्होंने मुरियाजन को वाद्यकला सिखायी थी।

तदनन्तर 'चेलिक' तैलमिश्रित आटे का घोल बना कर ढोल की दोनों पल्लियों पर मुखलेप करता है। इस सम्बन्ध में संस्कृत की अधस्तन उक्ति चरितार्थ होती है—

को न याति वशं लोके
मुखंपिण्डेन पीडितः।
मृदंगो मुखलेपेन
करोति मधुरः ध्वनिः॥

अन्त में जब ढोल के मुख का लेपन हो जाता है, तो उस रात्रि 'चेलिक' अपने साथियों तथा 'मोटियारी' को नृत्य के लिए बुलाता है और नवनिर्मित ढोल को रात भर बजाते हुए नृत्य करता है। इसी के साथ 'चेलिक' के जीवन में मार्दल का प्रवेश होता है जो जीवन-पर्यन्त उसके साथ रहता है।

माँदरी ढोल पर अधोलिखित कुछ पहेलियाँ प्रचलित हैं, जिनसे उनके सम्बन्ध में मुरियाजनों की विचारधारा का ज्ञान होता है—

(क) बीज बाहर है तथा छाल अन्दर (ध्वनि बीज है तथा छाल आवरण या पल्ली है)।

(ख) हाथी के पेट में एक मक्खी भनभनाती है (बड़े वाद्य से निकलने वाली सूक्ष्म ध्वनि का उपलक्षक)

(ग) बिना दाँत का पक्षी टिहिटो चिल्लाता है (ढोल के काठे के पोलेपन के साथ ध्वनि को उपमा पक्षी की आवाज के साथ)

(घ) स्वर्ग से आने वाला बैल बुरुम-बुरुम चिल्लाता है (चर्म से उत्पन्न होने वाली ध्वनि की दैवीनिष्पत्ति का सिद्धान्त)

2.4. घनवाद्य

घनवाद्य वे हैं जो प्रायः धातु या काष्ठ से बनते हैं और जिनमें ध्वनि आघातजन्य होती है। धातुमय घनवाद्यों को यहाँ की घड़वा नामक जाति आग में भली-भाँति पकाती है और उसे चक्राकार करती है। इस चक्र का मुख सवा दो अंगुल का होता है। उसका मध्यभाग अंगुल-भर नीचा होता है। उस निम्नदेश के ठीक बीच में एक रन्ध्र रहता है, जिसमें धागा पिरोया जाता है और उन्नत भाग निम्न प्रदेश को घेरे रहता है, उससे ध्वनि पैदा होती है। इन तालवाद्यों को बजाने में अँगुलियों को ऊँचा-नीचा किया जाता है। बस्तर में प्रचलित घनवाद्यों की संख्या छह है—

2.4.24. पिटोर्का (मु०) या कुटोर्का (मु०) या टुडरा (मु०) या टुडुर्का (मु०)

यह लकड़ी की बनी हुई प्याली के आकार की एक घण्टी होती है, जिसे उपर्युक्त नामों से पुकारा जाता है। इसका विकास लकड़ी की बनी बैल की घण्टी से हुआ है। बैल की घण्टी से यह पल्लीरहित घण्टी इस रूप में भेदक है कि इसमें खटक नहीं होता। यह वैवाहिक नृत्यों में दो दण्डों से आघात करके बजायी जाती है। इससे एक तीक्ष्ण दर्दभरी ध्वनि पैदा होती है, जो बुलबुल की ध्वनि-जैसी है। मुरिया में बुलबुल को **पिटोर्का** कहा जाता है। पिटोर्का पर मिलने वाली पहेली इसके ध्वनित्व की ओर संकेत करती है—

(क) हयले कोर करा-करा इन्ता
(मरा हुआ मुर्गा करा-करा चिल्लाता है)

पिटोर्का एक ऐसा घनवाद्य है जिस पर चेलिक ढेर सारी सज्जाएँ करता है। इन घण्टियों के ऊपर छोटे-छोटे दर्पण लगे रहते हैं तथा इनमें बाघ, पक्षी, चेलिक, मोटियारी तथा योनि की आकृतियाँ कुरेदी रहती हैं। गाय की घंटी की आकृति की यह बजनी पिटोर्का 21 इंच से लेकर $10\frac{1}{2}$ इंच तक, तथा 23 इंच से लेकर 14 इंच तक, एवं $27\frac{1}{2}$ इंच से लेकर 14 इंच तक के विविध आकारों में मिलती है। कभी-कभी 'पिटोर्का' पोली डोंगी (नाव) का भी रूप ले लेता है। इसी प्रकार की एक 'पिटोर्का' मेरे पास है, जो 20 इंच लम्बी, 10 इंच चौड़ी, 3 इंच गहरी तथा 1 इंच उभरी हुई है। ध्वनि को विस्तारित करने के लिए इसकी तली पर एक छोटा सा रन्ध्र भी होता है। मणिपुर के आदिवासी इसी प्रकार के एक वाद्य का प्रयोग करते हैं।

पिटोर्का में उपयोग आने वाली लकड़ी प्रायः सेमुर या सिउना वृक्ष की होती है। चेलिक इस वृक्ष के निकट पहुँच कर लिंगो के नाम से चावल तथा दाल के कणों की अक्षत देता है। विवाहादि समारोहों में इसके उपयोग के पूर्व इस पर तेल तथा हल्दी का लेप किया जाता है।

2. 2. 25. कच-टेहण्डोर (मु०), टेन्डोड़ (द) टेहडोड़ (अ)

कच-टेहण्डोर मुरिया तथा दण्डामी माड़िया नामक दोनों जनजातियों में प्रचलित है। लोहे की इस छोटी सी बीन से इतनी मधुर ध्वनि निकलती है कि मुरिया लोगों का यह विश्वास है कि इसे सुनकर साँप भी नाचने लगता है (एल्विन 1947 : 528)। यह स्थानीय लुहारों द्वारा बनायी जाती है, किन्तु बनावट में बहुत ही आदिम प्रकृति की होती है तथा योरोपीय वाद्य से मिलता-जुलता है। एक छोटे से ढाँचे में जीभनुमा एक काँटा फँसा होता है, जिसे दाँतों सें पकड़ा जाता है। इस वाद्य में मुँह अनुनादक का कार्य करता है तथा कम्पनयुक्त जीभ में धक्का देकर इसे बजाया जाता है। चेलिक इसे अपनी पगड़ी में खोंसे रहते हैं। मनोरंजन के लिए बजाते हैं। आज इसका प्रचलन धीरे-धीरे समाप्त इसलिए हो रहा है कि इसको बजाने के लिए दाँतों को आघात देना पड़ता है, जिसे दाँत टूटने की संभावना बनी रहती है। यह मुखवीणा के रूप में एक तंत्री-वाद्य भी है, जिसका आविष्कार लिंगो ने किया था।

इसे बजाने की तकनीक में काँटे को हाथ से मार कर कम्पन पैदा करना, धुन या राग का विस्तरण करना, और उसे निरन्तर बनाए रखने के लिए मुख से वायु को अन्दर खींचना और काँटे को टक्कर मार-मार कर बराबर कम्पित करते हुए साँस लेना और छोड़ना शामिल है। मुखगुहा के आकार को चौड़ा या सँकरा करने से इसमें स्वरमाधुर्य उत्पन्न किया जाता है।

2. 2. 26. पक-टेहण्डोर

कच-टेहण्डोर लोहे से बनती है, तो पक-टेहण्डोर पतले बाँस को काटकर बनायी जाती है। इसमें जीभ करण का कार्य करती है। यह वाद्य भी दाँतों के बीच रखा जाता है तथा तारों में जब आघात पहुँचता है तो एक प्रकार की भनभनाहट की ध्वनि पैदा होती है। दण्डामी माड़िया में कच-टेण्डोड़ को पुरुष तथा पकटेण्डोड़ को स्त्रियाँ बजाती हैं।

2. 4. 27. मुयाङ तथा इरना (अ, मु) अथवा घुँघरू (झो०) या घण्टा (ह) या घण्टी (ह) घण्टिका (सं०)

झोरिया मुरिया अपने उत्सवपूर्ण नृत्यों में लोहे या पीतल की घण्टियाँ अपनी कटि में बाँधे रहते हैं। इन्हीं के साथ दो या तीन खटक-घण्टियाँ होती हैं; जिन्हें 'झरना' या घुँघरू कहा जाता है। स्थानीय घसिया इन घण्टियों को पीतल से बनाते हैं। कटि के चारों ओर गुटिकामय घण्टियाँ लटकायी जाती हैं तथा ये करधन की डोरी से लटकती रहती हैं।

2. 4. 28. कटवांकिंग (मु०) या पायल

लोहे या पीतल का बना हुआ यह एक पोला घनवाद्य है। इसके अन्तर्गत उसी धातु की गुटिकाएँ होती हैं, जिस धातु की यह बनी होती है। जब 'चेलिक' द्रुतपदसंचार के साथ नृत्य करते हैं, तो ढोल की लय के साथ मिलकर यह वातावरण को संगीतमय बना देती है।

2. 4. 29. सरकण्डे का घनवाद्य

भतरा तथा परजा नामक जनजातियाँ सरकण्डे के एक घनवाद्य का प्रयोग करती हैं। यह एक साथ लगभग बीस सरकण्डों को लेकर बनाया जाता है। सरकण्डों के दाँतों को एक चाकू के सहारे उभार लिया जाता है तथा दोनों तरफ नीचे की ओर छोटी-छोटी खूँटियाँ लगा दी जाती हैं। इसे अँगुलियों के पृष्ठभाग से बजाया जाता है।

2. 4. 30. चिटकुल (मु०, झो०) या गट्टा (अ०) अर्थात् मँजीरा

झाँझ या मँजीरे को मुरिया में चिटकुल तथा अबुझमाड़िया में गट्टा कहा जाता है। अब तक विवेचित सभी घनवाद्यों में चिटकुल ही एक ऐसा वाद्य है, जो महिलाओं के द्वारा बजाया जाता है। इस मँजीरे को **घसिया** या **भरेवा** नामक स्थानीय जाति पीतल से बनाती है। चिटकुल कौड़ियों की मालाओं से जुड़े रहते हैं। पुरुष तथा बालक भी इनका प्रयोग कर सकते हैं। इसके प्रयोग में कोई लिंगगत 'टैबू' नहीं मिलता है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि पुरुष उपहास के लिए ही 'चिटकुल' को हाथ में धारण करते हैं। भिखारी का स्वांग करते हुए बहुत से आदिवासी बालक हाथ में चिटकुल लिए हुए देखने को मिल सकते हैं।

'डिश' की आकृति का यह पीतल का चिटकुल दण्ड के आघात से बजाया जाता है। कुछ वर्ष पूर्व तक अबुझमाड़ में वधूमूल्य के रूप में 'गट्टा' देने की प्रथा थी, किन्तु अब यह प्रचलन नहीं है।

चिटकुल वाद्य को लेकर मुरिया जनजाति में अनेक गीत हैं, जिन्हें 'चिटकुल-पाटा' (मँजीरा-गीत) भी कहा जाता है; उदाहरण के लिए यहाँ एक मुरिया-गीत प्रस्तुत है—

इंगो—री रे लो रेलो रे रे लाय रेला। रे रे लाया रेला रे रे लाय ॥टेक॥
इंगो—ओरा बोरा दाई मरमा रोय। भीतर खोली में सुलकी सिटकुलिग ॥1॥
इंगो—भीतर खोली में सुलकी आयो रोय। डोडर ओदातांग सुलकी फुलवारी ॥2॥
इंगो—जातिर दूगाल बाई पेका रोय। भीतर खोली में सुलकी सिटकुलिग ॥3॥
इंगो—भीतर खोली में सुलकी आयो रोय। अंगान डोडर ओदातांग सुलकी फुलवारी ॥4॥
इंगो—ओरा रीसे दाई मरमा रोय। भीतर खोली में सुलकी सिटकुलिग ॥5॥
इंगो—भीतर खोली में सुलकी आयो रोय। डोंडर ओदातांग सुलकी फुलवारी ॥6॥
इंगो—नना मरमा दाई दाकान रोय। भीतर खोली में सुलकी सिटकुलिग ॥7॥
इंगो—भीतर खोली में सुलकी आयो रोय। डोडर ओदातांग सुलकी फुलवारी ॥8॥
इंगो—निया मरमा नूनी सादू रोय। भीतर खोली में सुलकी सिटकुलिग ॥9॥

अनुवाद

माँ, यह किसका विवाह हो रहा है
घर के भीतर चिटकुल बज रहा है ॥1॥
बेटी, भीतर के कक्ष में चिटकुल नहीं बज रहा है
यह तो नदी के किनारे फुलवारी में बज रहा है ॥2॥
माँ, दूगाल जाति के लड़के का विवाह हो रहा है
भीतर के कक्ष में चिटकुल बज रहा है ॥3॥
बेटी, भीतर के कक्ष में चिटकुल नहीं
यह तो भाभी के किनारे की फुलवारी में बज रहा है ॥4॥
माँ, किसका विवाह हो रहा है
भीतर के कक्ष में चिटकुल बज रहा है ॥5॥
बेटी, भीतर के कक्ष में नहीं
यह तो नदी के किनारे चिटकुल बज रहा है ॥6॥
माँ, मैं विवाह देखने जाऊँगी
भीतर के कक्ष में चिटकुल बज रहा है ॥7॥
बेटी, भीतर के कक्ष में नहीं
यह तो नदी के किनारे फुलवारी में चिटकुल बज रहा है ॥8॥
माँ, विवाह में जाने की मेरी साध है
भीतर कक्ष में चिटकुल बज रहा है ॥9॥

2.5. सुषिर वाद्य

छिद्रों में फूंक मारने से ध्वनित होने वाले वाद्यों का नाम सुषिर वाद्य है। जनजातियों के सुषिर वाद्य दो प्रकार के होते हैं :

(क) वह जिसमें हवा श्वास द्वारा फूँकी जाती है; यथा सुलुड़, अकुम, तोड़ी, मोहरी तथा शंख।

(ख) वह जिसमें हवा कृत्रिम साधन से दी जाती है; यथा जीका।

यहाँ इन दोनों प्रकार के ही सुषिर वाद्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

2. 5. 31. उलुड़ (झो०) या उलुड़ि (अ) या सुलुड़ (मु०) या हुलुड़ (मु०) या ओसोड़ (द०) अर्थात् सुषिर (सं०); अथवा बाँउसी (ह०) अर्थात् बाँसुरी

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि बस्तर की सभी द्रविड़-बोलियों (मुरिया, झोरिया, अबुझमाड़िया, दंडामी माड़िया, तथा दोर्ली) में बाँसुरी के लिए जो विविध परिवर्त्य मिलते हैं, वे संस्कृत के **सुषिर** शब्द के ही अपभ्रंश हैं। इससे हम उस ऐतिहासिक सत्य को खोज सकते हैं, जब संस्कृत में बाँसुरी को **सुषिर** कहा जाता था, किन्तु शास्त्रीय संगीत के विकास के साथ बाँसुरी के लिए 'वंश' शब्द चल पड़ा, किन्तु बस्तर में वह आज भी अपने आर्ष अर्थ में प्रयुक्त होता है। शास्त्रीय संगीत के सम्पर्क के क्रम में हलबी के माध्यम से बाँसुरी शब्द का यहाँ प्रचलन बहुत बाद की घटना प्रतीत होती है। गढ़बंगाल में मुझे एक बाँसुरी-वादक मिला था; अन्यथा मुरियाक्षेत्र में अब इसके कम जानकार हैं।

बाँसुरी फूंक कर बजाए जाने वाले वाद्यों में प्रमुख है। मुरिया जनजाति की सुलुड़ 'सिलैण्डर' की आकृति की एक बाँस की नली है, जिसमें चार से लेकर छह तक तिरछे छिद्र होते हैं। यह लिंगों के अठारह वाद्यों में से एक है। शास्त्रीय संगीत में चार छिद्रों वाली बाँसुरी को 'मुरली' कहा गया है। मुरिया के चार छिद्र वाली सुलुड़ की लम्बाई दो हाथ तक की होती है। इसमें वादन करने के लिए मुखरन्ध्र बने होते हैं तथा स्वरों के लिए चार द्वार होते हैं। नाद रमणीय होता है। यह भी बाँस की ही बनी हुई होती है। बाँसुरी-संगीत आँगादेव को विशेष प्रिय है।

छह छिद्रों वाली सुलुड़ तीन इंच से चौदह इंच तक की लम्बी होती है। निकटस्थ छोर प्राकृतिक गाँठ के माध्यम से बन्द होता है तथा इसी के आर-पार एक गोलाकार छिद्र बना होता है। इसके नीचे पुनः तीन छिद्र होते हैं और फिर कुछ स्थान छोड़कर चार इंच की दूरी पर तीन छिद्रों का दूसरा समुच्चय होता है। बाँसुरी के अन्त में पोले भाग पर कपड़े का एक टुकड़ा लगा होता है और उसके साथ बाँस की छड़ी होती है, जो साफ करने के काम में आती है (द्र० रेखाचित्र क्रमांक–5)।

परजा तथा भतरा नामक सभी जनजातियाँ बाँस की बनी बाँसुरी का ही प्रयोग करती हैं। अबुझमाड़िया बाँस की एक पतली बाँसुरी रखते हैं, एवं जंगल में एकाकी होने की स्थिति में बजाते हैं। अन्य स्थानीय लोगों को इनके बाँसुरी की धुन चिड़ियों के स्वर के समान सुनाई देती है। ये बाँसुरी सदैव निषाद-सुर में ही बजाते हैं। दण्डामी माड़िया वैवाहिक नृत्यों में ढोल के साथ बाँसुरी बजाते हैं।

वंशीवादन का उल्लेख ईसापूर्व की शताब्दियों से मिलने लगता है। सात स्वरों की वंशी शास्त्रीय सगीत में ही मिलती है, जनजातियों में उसका व्यवहार नहीं होता है। जनजातीय बाँसुरी पाँच सुरों वाली है—षड्ज-तार गांधार-मध्यम-पंचम-तार निषाद। इसमें परधाव पाड़ तथा आँगा-कर्सना-पाड़ बजाए जाते हैं।

जिस प्रकार महिलाओं के प्रिय वाद्य 'चिटकुल' पर अनेक गीत मिलते हैं, उसी प्रकार मुरिया क्षेत्र में बाँसुरी को लक्ष्य कर अनेक गीत प्रचलित हैं, उदाहरणस्वरूप यहाँ एक मुरियागीत प्रस्तुत है :

री रे लोयो रे रे लोय।
रेला रे रेलाय ॥टेक॥
इंगो—आवर लोपड़ा केतूदे बोर उदीतोर। बोर उदीतोर बोर उदीतोर ॥1॥
इंगो—आवर लोपड़ा केतूदे माझी उदीतोर। माझी उदीतोर माझी उदीतोर ॥2॥
इंगो—नेकाय सुलुड़ उरमा माझी। जिवरे लागायता जिवरे लागायता ॥3॥
इंगो—नरकोम बेरा आतेक माझी। वायर बेसायता वायर बेसायता ॥4॥
इंगो—नोड़ोल बदुर सुलुड़ उरायतोन माझी। सुलुड़ उरायतोन माझी सुलुड़ उरायतोन ॥5॥

छायाचित्र क्रमांक–3. हकुम बजाता हुआ चेलिक

इंगो—नका सुलुड़ उरमा माझी। जीवा लागायता जीवा लागायता ॥6॥
इंगो—नरका पहर आते माझी। वायर बेसायता वायर बेसायता ॥7॥

अनुवाद

युवती : बाड़ी के भीतर मचान पर कौन बैठा है।
कौन बैठा है, कौन बैठा है ॥1॥
युवक : बाड़ी के भीतर मचान पर माझी बैठा है।
माझी बैठा है, माझी बैठा है ॥2॥
युवती : तीखी बांसुरी न बजा माझी।
हृदय में बिंधती है, हृदय में बिंधती है ॥3॥
युवती : प्रातःकाल मुरली की धुन सुन।
मन तेरे पास आना चाहता है ॥4॥
युवती : नोड़ोल बाँस की बाँसुरी बजाते हो माझी।
मुरली बजाते हो माझी, मुरली बजाते हो ॥5॥
युवती : तेज बाँसुरी मत बजा माझी।
जीव छटपटाता है, छटपटाता है ॥6॥
युवती : प्रातःकाल बजने से माझी।
पास आना चाहती हूँ, पास आना चाहती हूँ ॥7॥

रेखाचित्र क्र० 5. उलुड़

2.5.32. अकुम (अ, द) या हकुम (मु०) या सींगी (ह०) या शृंग (सं०)

यह तुरही-वर्ग का प्राचीन शङ्ख का ही एक रूप है, जिसे हलबी में 'सींगी' कहा जाता है तथा द्रविड़-बोलियों में 'अकुम' अथवा 'हकुम' नाम से सम्बोधित किया जाता है। प्रारम्भ में यह भैंस की सींग से बनाया जाता था। कभी-कभी उसके मूल में साँड़ का आठ अंगुल लम्बा सींग लगाया जाता था। इसके मूल में फूंकने का छिद्र बना रहता है। इसके वादन में "तुथुकार" की ध्वनि उत्पन्न होती है। बस्तर के आदिवासी अंचल में अकुम या सींगी को देवस्थानों में लटका हुआ देखा जा सकता है। उत्सवों में देवताओं के आगमन की सूचना देने के लिए या उत्सव में किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना देने के लिए इसे बजाया जाता है (द्र० रेखाचित्र–6)।

2.5.33. तोड़ी (मु) या टोड़ी (ह०) अर्थात् त्रोटक (सं०)

अकुम की ही प्रकृति की तोड़ी शास्त्रीय संगीत के त्रोटक शब्द का अपभ्रंश है। संस्कृत में इसका दूसरा नाम **नागस्वर** भी मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इसका उद्भव बस्तर में ही हो सकता है, क्योंकि बस्तर में 920 ई० से 1320 ई० के मध्य नागों के शासन के अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं।

तोड़ी मांगलिक अवसरों पर बजाया जाने वाला एक सुषिर वाद्य है। आज यहाँ की जनजातियाँ स्थानीय घसिया नामक जाति के द्वारा बनाई जाने वाली पीतल की तोड़ी का उपयोग करती हैं; किन्तु परजाक्षेत्र के दण्डामी माड़िया इसे ताड़ वृक्ष की पत्तियों से बनाते हैं। यह पोले बाँस से भी बनायी जाती है। इस प्रकार तोड़ी के तीन रूप प्रचलित हैं।
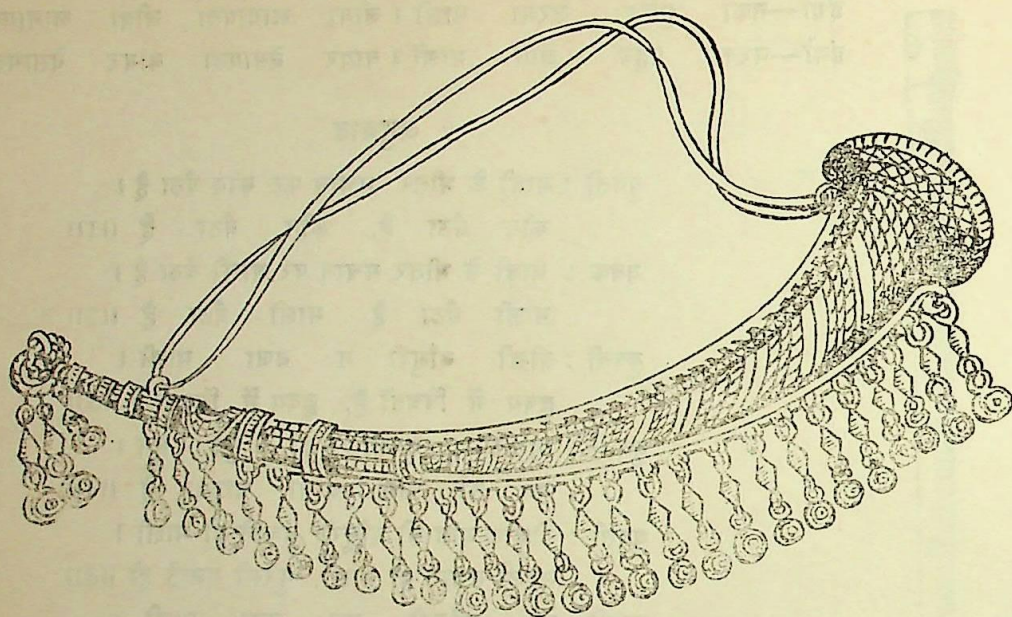
रेखाचित्र क्र० 6. अकुम (सन्दर्भ 2. 5. 32)

2.5 34. मोहरी (ह) अर्थात् मधुकरी (सं०)

नागस्वर या तूर्य या तोड़ी का प्रतिरूप है मोहरी, जो आधुनिक शहनाई-जैसा एक सुषिर वाद्य है और विवाहोत्सव में प्रयोग में आता है। बस्तर में मोहरी बजाने वाले लोगों को मोहरेया कहा जाता है एवं जनगीतों में मोहरिया को लक्ष्य कर अनेक प्रसंग आते हैं।

"मोहरी" के उद्‌गम का ठीक-ठीक इतिहास नहीं मिलता, किन्तु ऐसा अनुमान है कि यह तेरहवीं शताब्दी के "संगीतरत्नाकर" में विवेचित "मधुकरी" नामक वाद्य का ही आदिम प्रतिरूप है।

मोहरी 28 अंगुल लम्बी होती है और इसमें स्वर वाले छह छिद्र ऊपर की ओर होते हैं। ध्वनि में मधुरता लाने के लिए एक छिद्र नीचे की ओर भी होता है। इस वाद्य का आकार धतूरे के फूल-जैसा होता है। मुखरन्ध्र पर चार इंच लम्बी ताँबे की नली होती है, जिसके मुख पर ताड़पत्र या काँसे की पत्ती भिगो कर लगायी जाती है। पीतल की मोहरी घड़वा जाति बनाती है।

2.5.35. शंख (मु०, सं०)

प्रचलित शंख ही है यह, जो हाथ से पकड़ कर पूरी शक्ति के साथ फूंक कर बजाया जाता है। इसमें हुँ, धुँ, तो, दी, इत्यादि पाटाक्षर होते हैं। इसका प्रयोग प्राय: सभ्य क्षेत्र के आदिवासी करते हैं।

2.5·36. अटे (द) या जीका (मु०)

यह एक ऐसा सुषिर वाद्य है, जिसे फूँक कर नहीं बजाया जाता, अपितु उछालकर कृत्रिम धमनियों के माध्यम से बजाया जाता है। मुरियाक्षेत्र के पश्चिमी परगने के झोरिया इसे 'जीका' कहते हैं एवं दण्डामी माड़िया में यह 'अटे' नाम से सम्बोधित होता है। वृषनादक (bull roarer) के समान यह बहुत अधिक शोर मचाने वाला बच्चों का एक खिलौना है। इसका न तो कोई धार्मिक महत्व होता और न ही आभिचारिक। यह मात्र मनोविनोद के लिए प्रयुक्त होता है। इसे बाँस की खपच्चियों से बनाया जाता है। ये खपच्चियाँ 12 इंच से 18 इंच तक लम्बी

एवं $\frac{3}{4}$ इंच से 1 इंच तक चौड़ी होती हैं। इनका एक सिरा दँतीला होता है। कभी-कभी दोनों सिरे नोकदार होते हैं। इसके फलक को हवा में लहरा दिया जाता है, जिससे गर्जन की धुन सुनाई देती है।

टिप्पण

(1) आसना ग्राम (जगदलपुर तहसील) के लूड़ू महरा एवं श्री हरिजोशी ने अधोलिखित वाद्यों को भी दक्षिण बस्तर में प्रचलित माना है—(क) **रामबाजा :** यह एक तंत्री वाद्य है, जिसके ऊपर की ओर गोह का चर्म लगा होता है। खूँटियों में लगे तार को रगड़ने से चमड़े में भी रगड़ होने से एक मिश्रित ध्वनि पैदा होती है। इसे भिखारी प्रयोग में लाते हैं। (ख) **सेंदरी बाजा :** इसे स्थानीय लुहार बनाते थे। यह एक हंडीनुमा वाद्य था तथा हंडी में ताल देने से मधुर ध्वनि निकलती थी। यह अब अल्प प्रचलन में है और यदा-कदा मिरगान या पनका इसे बजाते हैं। (ग) **नवात बाजा :** यह राजप्रासाद में प्रातःकाल चार बजे बजाया जाता था और इससे राजा को बिस्तर से उठने का संकेत मिलता था। यह नगाड़े का ही सरकारीकरण था। (घ) **घुड़की बाजा :** चमड़ा मढ़ा हुआ एक मुखी वाद्य है, जिसके अन्तर्गत तार लगे होते हैं। यह भोपालपटनम क्षेत्र में पहले प्रचलित था। अब दुर्लभ है। (ङ) **रायगिड़ी बाजा :** द्विमुखी यह ढोल केवल दन्तेबाड़ा के मन्दिर में ही मिलता है। यह लगभग 1 फुट लम्बा तथा 18 इंच गोल होता है। छाते के आकार के तिरछे दो दण्डों से इसे बजाया जाता है। यह गोचर्म से बनता है।

(2) बस्तर में उद्घोषणा व चेतावनी देने के लिए राजकीय काल में नगाड़ों का प्रचलन था। बस्तर का सबसे बड़ा नगाड़ा दन्तेवाड़ा के दन्तेश्वरी मन्दिर का था, जो अब भग्नावस्था में है। जिया के साक्ष्य के अनुसार अन्तिम बार 1930 ई० में इसमें जिन्दा भैंसे का चर्म उतारकर चढ़ाया गया था। सम्प्रति लघु नगाड़े केवल दैवत कार्यों की सूचना देने के लिए बजाए जाते हैं।

(3) वाद्य की धुन को सुनकर नृत्य का आभास होता है (सभी सूचक)

(4) टिकनपाल के रायधर को सूचकों ने सर्वोत्कृष्ट बाँसुरी-वादक माना है।

(5) सर्वोत्कृष्ट ढोलवादक मारड़ुम का मड़कामी भीमा है।

(6) सर्वोत्कृष्ट मोहरेया आसना ग्राम का लुड़ू महरा है।

(7) सर्वोत्कृष्ट चिटकुल वादक दन्तेवाड़ा का रामसिंह धाकड़ है।

(8) सर्वोत्कृष्ट सारंगीवादक कंगोली का प्रज्ञाचक्षु लछमन है।

□

3

सांगीतिक प्रबन्ध

3.1. जनगीतों का स्वरूप

विगत अध्याय में वाद्यों का विश्लेषण किया गया था। अब गीतों के सांगीतिक सन्दर्भ पर विचार किया जा रहा है।

संगीत के अन्तर्गत पद (शब्द) की संयोजना गेयकाव्य के रूप में होती है। अतः पद (शब्द) को गीतों का दूसरा महत्वपूर्ण अंग माना गया है—स्वरतालपदात्मकं गीतम्।

जिह्वा और मुख के विभिन्न अवयवों के संस्पर्श द्वारा मानव कंठ-ध्वनि के विविध उच्चारों से विभिन्न स्वनों (आवाज) की उत्पत्ति होती है। यद्यपि वाद्यों में भी स्वनप्रयोग की विभिन्नता से कुछ वर्णों का आभास होता है, किन्तु उनके स्वनरूप की अनुकृति मानव-कंठ से उच्चारण किए जाने वाले वर्णों के आधार पर ही परिकल्पित होती है।

स्वनों के संयोग से ही सार्थक तथा निरर्थक पद बनते हैं। साहित्य में सार्थक पदों का महत्व है, जबकि संगीत में निरर्थक पद "रेलोया रे रेलोया" भी छन्दयोजना व विशेष ध्वनि के संयोग से मन को प्रभावित करने में समक्ष है।

निबद्धगान के स्वर, बिरुद, पद, पाट, तेनक, व ताल नामक छह अंग बताए गए हैं। इनमें से गुण व प्रशंसात्मक सार्थक शब्द बिरुद; अन्य विषयों वाले सार्थक शब्द "पद"; मंगलसूचक-निरर्थक शब्द तेनक; और वाद्य पर बजाए जाने वाले निरर्थक शब्द पाट (पाड़) हैं। इन सभी का प्रयोग मुरिया संगीत में होता है।

3.2. जनगीतों की भाषा

अत्यन्त प्राचीन काल से ही लोकप्रचलित देशी संगीत की गान-विधाओं में जनबोलियों का उपयोग होता आया है। हरिवंशपुराण में रास नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीतों में देश-भाषा के प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

"चक्रुर्हसन्त्यश्च तथैव रासं तद्देशभाषाकृतिवेशयुक्ताः।
सहस्ततालं ललितं सलीलं वारांगना मंगलसमृतांग्यः॥

[हरिवंश, छालिक्यक्रीडा, 89.7]

प्राचीन भारत में देशभाषा या जनभाषा के रूप में प्राकृत भाषाओं का प्रचलन था। चर्चरी-प्रबन्धों की रचना प्राकृत भाषा में ही होती थी (संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबन्धाध्याय, 291)। इससे प्राचीन काल में संगीत की

नृत्यगान-विद्याओं में जनबोलियों के व्यवहार का प्रमाण मिलता है। भरत ने ध्रुवा गीतों की रचना शौरसेनी प्राकृत में करने को कहा था--

भाषां तु शौरसेनीं हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत्।

[नाट्यशास्त्र, 23.383]

सरल और स्वच्छन्द प्रकृति के कारण जनबोलियों के गीतों में भाषा-नियमों का कठोरता से पालन नहीं होता। हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति के लिए बस्तर के मुरियाजन अपने काव्य में संलग्न क्षेत्रों की विविध जन-बोलियों का प्रयोग करते हैं--मुरिया, झोरिया, अबुझमाड़िया, छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी, तथा उड़िया।

इस रूप में मुरिया-संगीत "**बहुभाषी-संगीत**" के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। मुरिया जनजाति के "बहुभाषी संगीत" की चर्चा मेरे ग्रंथ "जनभाषा और साहित्य" (1982) के एकादश अध्याय (पृ० 249-256) में विस्तार के साथ हुई है।

3.3. ध्वनि संकेतों की रचना

आदिम संगीत में ध्वनिसंकेतों का महत्वपूर्ण प्रकार्य है। इन ध्वनिसंकेतों के माध्यम से सांगीतिक भाषा के विकास का भी अध्ययन किया जाता है। तदनुसार यह माना जा सकता है कि ध्वनिसंकेतों में आर्थात्मिक लय पूरी तरह ऐच्छिक न होकर अनुकरणात्मक है। प्रकृति की ध्वनियों के अनुकरण पर जो सांगीतिकता जनभाषाओं में उत्पन्न हुई है, उसे जनजातीय अनुकरणात्मक शब्दों में खोजा जा सकता है; उदाहरण के लिए अनेक पशुओं और पक्षियों के नामकरण उनकी आवाजों के आधार पर ही हुए हैं--लोखड़ली (लोमड़ी), कावरा (कौवा), आदि। इसी प्रकार कुर्रो (मुर्गे की ध्वनि), फूसोड़ (पक्षियों की ध्वनि), चियर-चियर (पक्षियों की ध्वनि), टुकुस-टाकस (बैलों के चलने की ध्वनि), पियोह-पियोह (चूजे की ध्वनि), तथा हुप-हुप (बन्दर की ध्वनि), आदि का उदाहरण दिया जा सकता है।

इन जनबोलियों में दूसरी ओर ऐसे भी अनेक शब्द हैं, जो मानवीय क्रिया के श्रवणात्मक पक्ष से जुड़े हुए हैं; यथा खोयर-खोयर (खाँसने की ध्वनि), घुड़म-घाड़म (बादल की ध्वनि), चर (कपड़ा फटने से उत्पन्न ध्वनि), टिगिन-टिगिन (ढेंकी के चलने की ध्वनि), पिट-पिट (हगने की ध्वनि), फुटपाट (तुपकी की आवाज), फोकफोक (मोटर की ध्वनि), आदि।

शब्दों के तीसरे प्रकार वे हैं, जो अनुकरणात्मक शब्द कहे जा सकते हैं तथा जो संवृत ओष्ठों से उत्पन्न होते हैं; यथा हलबी में पापा (बच्चियों के लिए पुकार), पेप (वन्य पक्षी), बाबा (पिता), बाबू (पुत्र), बूबा (पति का पिता), वैं-वैं-बैं-बैं (सनक), बोबो (उड़द या दाल-चावल का रोट), भभक (आग की लपटें), मोमो (दूध), मर्मर (फुसफुसा-हट), आदि।

भोजन या पान की क्रिया से सम्बद्ध बहुत से अनुकरणात्मक शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है; यथा चड़म-चड़म (खाना खाने से निकलने वाली ध्वनि), डकस-डकस, डकर-डकर (पानी पीने की ध्वनि), सुड़प (द्रव वस्तु को खाने से उत्पन्न ध्वनि)। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि जनबोलियों में सभी अनुकरणात्मक शब्द नियमतः अनुकरणात्मक नहीं होते, किन्तु अनेक उदाहरणों में ऐसे शब्द अनुकरणात्मक होते हैं, जिनमें एक श्रव्य संकेत निहित रहता है। व्युत्पत्ति का यह प्रकार ठाय (बंदूक की ध्वनि), या चाईधत्त (हाथी के लिए), जैसे शब्दों में सीमित रहता है।

जनबोलियों में बहुत सी ध्वनियाँ ऐसी हैं जिन्हें ओठों में अँगुली लगाकर संकेतों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। इन्हें हम विस्मयादिबोधक उच्चारण कह सकते हैं। अयागो (दर्दभरी आवाज), अड़वो (आश्चर्यव्यंजक ध्वनि),

छे-छे, छेता, आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इनमें एक प्रबल मनोभाव विद्यमान रहता है और उसकी प्रबलता अनुकरणात्मक शब्दों से भी अधिक होती है। इन्हें हम श्रव्य संकतों के नाम से भी पुकार सकते हैं। अरुचि, भय, हर्ष, तथा शोक या पीड़ा की आकस्मिक संवेदना न केवल जनजातियों के चेहरे तथा अंगप्रत्यंग में झलकती है, अपितु उसके कारण अदृश्य तौर से उच्चारणात्मक मांसपेशियों पर भी स्पन्दन होता है।

कंठसंगीत के इस अनुकरणात्मक तथा विस्मयादिबोधक विचार के अलावा हावभाव एवं घोषत्व के मध्य भी गहरा सम्बन्ध मिलता है। आदिम संगीत ने अपने को सर्वप्रथम संकेतों के माध्यम से ही व्यक्त किया होगा। अर्थात् सर्वप्रथम अबुझमाड़िया-जन में हाथ, जीभ, ओंठ, एवं जबड़ों के संकतों का विकास हुआ होगा। कालान्तर में जबड़ों तथा मुख के स्पन्दन से शारीरिक संकेत अनुपूरक रूप में आए होंगे। ये ही शारीरिक संकेत पुनः मुखविवर से वायु के उच्छ्वसन के साथ जुड़ गए होंगे। इन जनबोलियों की अनेक ध्वनियों तथा अर्थों के बीच मिलने वाली समानता से उपर्युक्त कल्पना तार्किक लगने लगती है। इस दृष्टि से आदिम संगीत के विकास में सर्वप्रथम नृत्य, द्वितीय गीत तथा तृतीय वाद्यसंगीत का विकासात्मक क्रम निश्चित किया जा सकता है।

3.4. जनगीतों की विषयवस्तु

मुरिया-जनगीतों में विविधता है। वस्तुतत्व की दृष्टि से इन्हें अधोलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) प्रकृति का काव्य

मुरिया जनजाति प्रकृति की ही मोददायिनी गोद में आँखें खोलती है। उसी में वह विकसित, पल्लवित और पुष्पित होती है। प्रकृति के तनुजन्माओं का धर्म भी प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वही उनकी उपास्य है, उसी के विविध तत्व उसके देवता हैं। प्रकृति के साथ मानव का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध शायद ही किसी क्षेत्र में हो। आदिवासियों ने सम्मोहनकारी प्रकृति की सुन्दरता को निहारा ही नहीं अनुभव भी किया और अनुभव ही नहीं किया उसके अदम्य साहस का मोहक वर्णन भी किया है। आदिवासियों में नरकाव्य का उदय तो अवश्य हो चुका है, पर प्राधान्य प्रकृतिकाव्य का ही है; क्योंकि अभी तक भौतिक कृत्रिमता की लौहप्राचीर अपना सिर उठाकर खड़ी नहीं हो पायी है। अतः प्रकृति से आदिम मानव का सीधा सम्बन्ध है। आदिम मानव ने प्रकृति को उद्दीपन के अत्यन्त संकुचित प्रकोष्ठ में बन्दी करने की चेष्टा नहीं की है। यही कारण है कि इनकी कविता में प्रकृति के इतने सुन्दर चित्र उपस्थित हुए हैं कि ये वर्णन आँखों को ही नहीं, मन को भी मुग्ध कर लेते हैं। काल की सतत अविराम गति से उठती हुई धूल जिसके नीचे तब से अब तक न जाने कितने साम्राज्य, नगर, प्रासाद दब गए, इनका स्पर्श तक न कर सकी। इनकी सुन्दरता में सत्य निहित है और सत्य में शिव। प्रकृति में जिस देवता की प्रतिष्ठा इन आदिम चिन्तकों ने की, वह कालान्तर में **बनदेवी** के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इन आदिवासियों की भावुकता स्थान-स्थान पर फूटी पड़ी है, जिसके कारण कमनीय काव्यकला के स्वतः निदर्शन के रूप में एक नहीं, सैकड़ों गीत उपस्थित किए जा सकते हैं। भावप्रकाशन की दृष्टि से ये गीत आदिवासियों के चक्षुओं द्वारा अनुभूत तत्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यंजक हैं। जनजातीय कवि मनोवांछित भावों को थोड़े-से चुने हुए शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है।

प्राकृतिक वर्णनों में सबसे अधिक मनोज्ञ एवं सुकुमार कल्पनाएँ बादल और बिजली को लेकर हैं (मरम-पाटा)। चाबुक से अपने घोड़ों को प्रेरित करता हुआ बादल स्त्री के समान अपने दृष्टिदूतों को प्रकट करता है। जब वह आकाश

को वर्षा से व्याप्त करता है तो दूरस्थ सिंह के समान गर्जन करता हुआ प्रतीत होता है। जब वह पृथ्वी पर रेतस् बरसाता है, तो वायु चलती है, बिजली कड़कती है, वनस्पतियाँ विकसित होती हैं और समस्त संसार में प्रकृति जीवित हो उठती है (तुलनीय ऋग्वेद में पर्जन्य 5,83,1,15 का वर्णन)।

वृक्षों के विवेचन प्रसंग में जनकवि की सर्वाधिक दृष्टि सलफी के वृक्ष की ओर है (द्र० हारगाटा)। उसे पुष्पित वृक्ष काम्य हैं तथा वह सिउना वृक्ष, अमलतास वृक्ष, चार वृक्ष, वंश वृक्ष, डाउड़ वृक्ष एवं कदली वृक्षों पर सम्मोहित है। पर्वतों (रेलापाटा) पर जाकर उसका मन रम जाता है।

वन्य पशु-पक्षियों में पारावत, काक, श्येन, कछुए, तथा भैंसे पर कवि की दृष्टि अधिक है। इस प्रकार के शुद्ध प्रकृति-वर्णन के उत्तमोत्तम चित्रों से जनकवि का प्रकृति-विषयक राग दूर से ही स्पष्ट दिखाई देता हुआ नयनाभिराम झाँकी प्रस्तुत करता है।

(ख) संस्कृति का काव्य

प्रकृति का संस्कृति के समनुरूप प्रतिनिधित्व करने वाली विचार-प्रक्रिया के कारण जनकवि में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त के सम्पूर्ण संस्कार उभर कर सामने आए हैं और घोटुल-संस्कृति के अभाव के कारण प्रणयनिवेदन-परक गीतों की प्रचुरता है। संस्कारगीतों में विवाहगीतों की प्रधानता है तथा गीतों के विषय के रूप में मँगनी, वधूमूल्य, चूलमाटी, कलशस्थापना, चबूतरे का निर्माण, मण्डपाच्छादन, तेल तथा उबटन, स्नान, रतिक्रीड़ा के विविध प्रसंग मिलते हैं। इन वैवाहिक गीतों में घोटुल से बिछुड़ने का दुःख बहुत ही रसावर्जक है।

इन संस्कारगीतों में विविध गोत्रों के प्रसंग बिखरे पड़े हुए हैं, जिनमें मुद्रिका की याचना, पैठू विवाह का आग्रह, लमसेना बनने की इच्छा, तिलोका तथा सिलेदार के मध्य संवाद, भाई-बहन के मध्य वार्तालाप, आदि विवरण बहुत ही रोचक हैं।

जनकवि सांगीतिक वस्तु को अपनी कविता में अनेकशः दुहराता है तथा बाँसुरी को लक्ष्य कर उसके सर्वाधिक गीत हैं (मरम पाटा)। ढोलवादन में करणभूत दण्ड भी प्रचुर मात्रा में गीतों का विषय बना है। इसके अतिरिक्त घोटुल तथा गायता की पदे-पदे चर्चा है। युवति द्वारा नृत्य के लिए अपनी माता से स्वीकृति (डीवाड़-पाटा) के लिए याचनाभरा गीत शृंगाररस से ओतप्रोत है।

जनगीतों में बारहमासी उत्सवों पर भी प्रचुर सामग्री मिलती है; यथा कार्तिक मास में डीवाड़ एन्दाना, पूस मास में डण्डार तथा छेरतानृत्य आदि (हुलकी-पाटा)। नृत्य के समान भोजन-पान से सम्बद्ध विधि-निषेध (कोला-पाटा) भी गीतों के विषय बने हैं। गीतों में आखेट का भी उल्लेख (हुलकी पाटा) है तथा चूड़ी पहनाने वाले पर भी प्रणयदृष्टि है।

युवती के अंग प्रत्यंग पर भी जनकवि की दृष्टि टिकी है। एक गीत (रेलापाटा) में वह युवती के अंग-प्रत्यंग की तुलना विविध फलों से करता है तथा आभूषणों की तुलना एक दूसरे गीत में पुष्पों से करता है। नृत्याभरण के विवरणों से तो शृंगारिक गीत भरे पड़े हैं। इन गीतों की कथावस्तु प्रणयनिवेदन से ही प्रारम्भ होती है।

गीतकार कृषि के भी विविध प्रकारों से परिचित है तथा उसके गीतों में "डिप्पा-खेती" की विशेष चर्चा मिलती है। गीतों में औद्योगिक विकास की "थीम" भी हैं और मोटर, ट्रेक्टर, वायुयान, आदि पर भी गीत मिलते हैं।

(ग) स्तुतिपरक काव्य

जनकविता का सबसे अधिक महत्व इसमें है कि वह आगम तथा पौराणिक आख्यानों का मूल उद्गम है और शिव एवं पार्वती के तांत्रिकीकरण का एक उदाहरण है। जनकविताओं में शिव की 'लिंगो' तथा नदिकेश्वर की

'भीमा' के रूप में स्तुति की गयी है एवं शिव के गण व चौंसठ योगिनियाँ यहाँ भाषान्तरित हो गयी हैं। इनके 'कर्साड़-पाटा' तो एक प्रकार से स्तुतिकाव्य ही हैं। लिंगो, भीमा, भंगाराम, जोगी, ग्रामदेवी, जलदेवी, प्रभृति देवी-देवता गीतों में बार-बार आते हैं। चौंसठ योगिनियों में से कुमारी, जलदेवी, कालिका, कराली, काली, महाकाली, चामुण्डा, अम्बिका, गौरी, तोतला, शाकिनी, डाकिनी, वनदेवी, कापाली, चण्डी, भद्रकाली, शंखिनी, चक्रेश्वरी, कराली, भद्रा, आदि से सम्बद्ध सैकड़ों स्तुतियाँ मिलती हैं।

सृष्टि के विकास को लेकर आदिम कविता में दर्जनों गीत हैं तथा मृत्यु की सार्वभौमिकता से जनकवि परिचित है।

3.5. जनगीतों की रचना व शैली

भारतीय संगीत में प्रबन्धों या गीत-शैलियों के विभिन्न प्रकार समय-समय पर प्रचलित रहे हैं। वैदिक काल के ऋक्, पाणिका और गाथा जैसे गीतों के अनन्तर प्राक्भरतकाल में सप्त गीतियों का प्रचलन हो चुका था (शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, संगीतबोध, पृ० 109)। गीत, वर्ण तथा ताल के विशिष्ट क्रम निर्धारित थे। इन गीतों के खण्डों या विभागों के लिए "वस्तु" संज्ञा थी, जिसे मुरिया में "लेकना" कहा जाता है। गीतों के गायन के पहिले उपोहन नामक अंग होता था। वर्तमान शास्त्रीय संगीत में गीत के पूर्व तनना, तनोम, रेनेना, तोम्, आदि अक्षरों से आरंभिक आलाप किए जाते हैं। यही कार्य "उपोहन" तथा "प्रत्युपोहन" नामक अंगों से किया जाता था। भरतकाल में ध्रुवा का सर्वाधिक महत्व था। इन गीतों में स्वर, पद तथा लय तीनों का यथोचित महत्व था।

मुरिया संगीत का सादृश्य मंगोलियाई संगीत से अधिक है। इनका "रेलो" या "रेला" प्राचीन उपोहन या ध्रुवा के अधिक निकट है, जिसे मुरिया में "रोचे" तथा हलबी-भतरी प्रभृति आर्यबोलियों में "घोषा" या "टेक" कहा जाता है। "टेक" स्थायी पंक्ति है तथा वाद्यों में यही पाटाक्षरसमूह है, जो द्रुत लय में बजाया जाता है। जब पलटों या अलंकारों में से कुछ विशिष्ट बोल चुनकर उनको बार-बार तैयारी के साथ बजाया जाता है, तब उसे "रेला" कहा जाता है। यह प्रायः चौगुन तथा अठगुन लय में बजाया जाता है। इसमें धिरधिर, धेड़नग, किड़नग, धिरकिट, धिनधिन, तिनतिन, धागितिट, धुमकिट, जैसे बोलों की बहुलता रहती है और इन्हीं को बार-बार दुहराया जाता है।

"रेलो" समूहगान का विचित्र आलाप चीनी तथा तिब्बती गीतों का स्मरण कराता है। मंगोलिआई तालों के समान मुरिया के सभी तालों को भी दो या चार में विभाजित किया जा सकता है। मुरिया नामक जनजाति धुनों तथा गीतों के मध्य विभेद विविध "तालों" (लयों) तथा "रोचे" (घोषा) से करती है। इनके गीतों में एक दल शब्दों को क्रमशः चढ़ते स्वरों में गाता है, तो दूसरा दल उन शब्दों को एक ही स्वर पर स्थिर रख कर गाता है। यह प्रतिध्वनीय प्रकृति का गायन होता है।

टेक की धुन

प्रत्यक्ष मौखिक एकस्वरता के बावजूद मुरिया-गीतों की टेक की धुन तथा लय में अतिसूक्ष्म परिवर्तन देखने को मिलता है।

(क) रेलो-अक्षर की विशिष्ट टेक अधोलिखित है :—

(i) रे रे लोयो रे रेला रे रेला रेला।
रे रे लोयो रेरेला रेरे रेला रेला॥

(ii) ओ रे रे लोयो रेला रेला
रे रे लोयो रे रेला ।
रे रे लोयो रेरेला ।
ओ रेरेला रेला रेला रेरेला
रेला रेरेला रेरेला रेला रेरेलो ओय

(iii) रे रेला रे रेला रेला (कोलापाटा)

(iv) रे रे लोयो रेला रेला
री री लोयो रेला रेला
रेला रे रे लोयो रे रेला (मरम-पाटा)

(v) रे रेला रे रे रेला रेला (कोलापाटा)

(vi) रे रे लोयो रेलो रे रेला (कर्सनापाटा)

(vii) रे रे लोयो रे रेला रेला
रे रे लोयो रे रेला रे रेला रेला (कोलापाटा)

(viii) रेलो रेला री रेलो रेला
रेला री रे लोयो रेला (मरम-पाटा)

(ix) रे रे लोयो रेला रे लोयो
रे रेला रेरे लोयो रेला रे रेला (मरम-पाटा)

(x) रे रे ला रेला, रे रे ला रेला
रे रे लोयो रे रे रेला । (कोलापाटा)

(xi) रे रे लोयो रे रेला रे रेला (कर्सनापाटा)

(xii) रे लोयो रेला रे लोयो रे रेला (मरम-पाटा)

(xiii) रे रे लो रे रेलो रेला रेलाय
री री लो री रीलो रे रेला ॥ (मरम-पाटा)

(xiv) रे रे लोयो रेला, रे रेला रे लोयो
रे रेला रे रे लोयो, रेला रे रेला ॥ (हारपाटा)

(xv) र रे लोयो रे रे लो, रेलो री रे लोयो
रे रेलो रेलाय, रे रेलो रेलाय ॥ (मरम-पाटा)

(xvi) रेलो यो रेला रेलो यो रेला रेला ।
रेलो यो रे रेला रेला रेलो यो रे रे लाय (मरम-पाटा)

(xvii) रे रे ला रे रे ला, रे रे लो रे रे लाय । (मरम-पाटा)

(xviii) रे रे लोयो रे रेला रेला रेला रेला
रे रेला रेला रेला रे रेलाय
रे रे लोयो रे रेला रेला रेला रेला
रे रेला रेला रेला रे रेलाय ॥ (मरम-पाटा)

(xix) रे रे लोयो रेला रेला रे रेला रे रेला
रे रे लोयो रेला रेला रे रेला रे रेला ॥ (मरम-पाटा)

(xx) रे रे लोयो रे रेलो रे रेलो यो रेलाय (चिटकुलपाटा)

(xxi) रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ।
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ॥ (कोलापाटा)

(xxii) रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रेलाय रे रेलाय ।
रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रेलो यो रे रेलाय रेला या (मरम-पाटा)

(xxiii) रे रे लोयो रे रे लोयो रेला रेला
रे रे लोयो रे रेला रे रेला रे रे लाय ॥ (कोलापाटा)

(xxiv) रे रेला रे रेला, रीरे लोयो रेला रेलाय (मरम-पाटा)

(xxv) रे रेलो रेला रे रेला, रेलाय रे रे लोय (मरम-पाटा)

(xxvi) रे रे लोयो रेला रेला, रे रे लोयो रे रेला (मरम-पाटा)

(xxvii) रे रे लोयो रेला रेला, रे रे लोयो रे रेला ।
रे रे लोयो रेला रेला, रे रे लोयो रे रेला ॥ (मरम-पाटा)

(xxviii) रेलो यो रे रेला रे रेला रेलोयो रे रेलाय
रेलो यो रेला रे रेला रेलोयो रे रेलाय ॥ (मरम-पाटा)

(xxix) रे रेला रे रेला रेला रे रे लोयो रे रे लाय (मरम-पाटा)

(xxx) रे रे लोयो रेला रेला रे रे लाय रे रे लाय (मरम-पाटा)

(xxxi) रे रे लोयों रेला रेला, रे लोयो रेलाय रेलाय (मरम-पाटा)

(xxxii) रे रे लोयो रे रेला रे रेला, रे रे लोयो रे रेला रेला ।
रे रेला रे रे लोयो रे रेला रेलाया ॥ (कोलापाटा)

(xxxiii) रे रे लो रे रे लो, रेलाय रे रेलाय रेलो रे रेलोय
रेला रेरे लाय रेला रे रे लाय ॥ (मरम-पाटा)

(xxxiv) रे रे लोयो रे रेला रेला रे रे लोयो रे रेला रेलाय ।
रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रे लोयो रे रेला रेलाय ॥ (मरम पाटा)

(xxxv) रे रेला रेला रे रे लाय रे रेला रे रेला रे रे लाय । (मरम-पाटा)

(xxxvi) रे रे लोयो रेला रेलाय, रे रे लोयो रेलो या रे रे लाय । (मरम-पाटा)

(xxxvii) रे रे लोयो रेला रेला, रेला रेरेला रे रे लोयो रेला रेला ।
रेला रे रेला रे रे लोयो, रेला रेला रेला रे रे लाय ॥ (मरम-पाटा)

उपर्युक्त "रेलाक्षरों" की तुलना से एक विशिष्टता यह झलकती है कि टेकाक्षर के आरंभिक अक्षर "रलो" केवल "मरम-पाटा" (विवाह गीत) में ही आते हैं; जब कि "रेरे" आरंभिक अक्षर "मरमपाटा" (विवाहगीत), "कोलापाटा" (डण्डारगीत), "हारपाटा" (वीथीगीत) तथा "कर्सनापाटा" (क्रीडागीत) में आते हैं। इन टेकपंक्तियों को "रेलाक्षर" इसलिए कहा गया है; क्योंकि गीत में "रेला" नामक आक्षरिक संरचना कहीं-न-कहीं अवश्य व्यवहृत होती है।

गीतों में बार-बार दुहरायी जाने वाली पंक्ति या शब्द को हलबी में "टपी" कहा जाता है। "टपी" के प्रयोग के माध्यम से जनगायक उपर्युक्त गीतों के मध्य विभेदकता प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं; उदाहरणार्थ "कोलापाटा" की प्रत्येक पंक्ति "**ओम**" से प्रारम्भ होती है :

ओम–रे रे लोयो रे रेलॉ ।
ओम-रे लोयो रे रेलॉ ।।

इस "ओम" से स्तुतिपरक गीतों का भाव होता है। यही ओंकार जब पंक्ति के अन्त में जुड़ता है, तो क्रीड़ाभिव्यंजना होती है—ओम की अनुकृति के कारण।

इसी प्रकार मुरिया के वीथीनृत्य वाले गीतों (हारपाटा) में रेलाक्षर तो रहता है, किन्तु अन्य गीतरूपों से उसकी अलग पहचान के लिए गीत की प्रत्येक टेकपंक्ति और वस्तुपंक्तियों को "चलो" से प्रारम्भ किया जाता है; यथा

(i) चलो, रे रे ला लोयो रे रेला रे रेला (हारपाटा)
(ii) चलो, रे लोयो रेला, रे लोयो रे रेला रा
चलो, ओरा बोरा मरमा दाई, ओरा बोरा मरमा रोय (हारपाटा)

वैवाहिक गीतों की प्रकृति जब स्त्री-पुरुष के मध्य संवाद की होती है, तो प्रत्येक पंक्ति "इंगो" (हाँ) से शुरू की जाती है; यथा

(i) इंगो–रे रेलो यो रे रे लोयो ।
इंगो–रे रेला यो रे रे लोयो ।। (मरम-पाटा)
(ii) इंगो–रे रे रेलाय रेला रे रे लाय ।
इंगो–री रे लो रेला या रेलाय रे रेलाय ।। (मरम-पाटा)
(iii) इंगो–रे रे लोयो रे रे लोय, रे रेला रेला ।
इंगो–री रे लोयो रे रे लोय, रे रे लाय ।। (मरम-पाटा)

इसी "इंगो" का प्रयोग जब पंक्ति के अन्त में होता है, तो वह संवाद को ध्वनित न करा कर बलवाची अर्थ में प्रयुक्त होता है; यथा

रे रे लोयो रे रे लोय, रे लाय रे रे लाय ।
रे रे लोयो रेलाय रे रे लाय–इंगो ।।

"रेलो" शब्द का प्रभाव मुरियामन पर अनर्थकारी ही रहा है और इसने एक सम्मोहक औषधि के समान मुरिया प्रजाति की काव्य-प्रतिमा का विनाश कर दिया है। यही कारण है कि हलबा तथा भतरा जनजातियों के गीतों की तुलना में मुरिया-गीतों में अन्तः प्रेरणा का अभाव मिलता है।

(ख) **रीलो-अक्षर की टेक :** रेलो-आलाप से रीलो-आलाप इस रूप में भेदक है कि रेलो-आलाप पुरुषों तथा स्त्रियों का सम्मिलित आलाप है, जब कि रीलो-आलाप में या तो आलाप कर्त्री महिला होती है अथवा यह आलाप पुरुषों द्वारा किसी देवी को लक्ष्य कर सम्पन्न किया जाता है। दण्डामी माड़िया तथा हलबी में रीलो स्त्रियों की ही आलप्ति है। "रीलो" अक्षर से आलाप के चार प्रकार मिलते हैं :

(1) री री लोयो से आलाप
(2) री रे लोयो से आलाप
(3) चलो टपीयुक्त आलाप
(4) इंगो–टपीयुक्त आलाप

(1) रीरी लोयो का आलाप "कोलापाटा" (डण्डारगीत), "मरम-पाटा" (विवाह-गीत), "कर्साड़-पाटा" (जात्रा गीत), "डीवाड़-पाटा" (दीवाली गीत) में मिलता है :

(i) री री लोयो री री ले, री री लोयो री रीले । (कोलापाटा)
(ii) री री लोयो री रीलो, रीलाय री री लोयो । (मरम-पाटा)
(iii) री री लोयो री रीलो, री री लोयो री रीलो (मरम-पाटा)
(iv) री री लोयो री री लोयो, री री ला री रीला । (कर्साड़-पाटा)
(v) री री लोयो री री लाया, रीला री री लोयो (डीवाड़-पाटा)
(vi) री री लोयो री री लोय, री री लोयो री री लोय । (मरम-पाटा)
(vii) री री लोयो रीरी लोरी लाय, री री लोयो री री लोरी लाय (मरम-पाटा)
(viii) री री लोयो रेला रेला, री री लोयो रेला रे रेला ।। (मरम-पाटा)
(ix) री री लोय रेला रे लाय, रे लाय रे रे लाय ।। (मरम-पाटा)

(2) "रीरे-लोयो" का आलाप प्रायः विवाह-गीतों में ही मिलता है :

(i) री रे लो रेलोय री रे लोयो रे रे लोय
री रे लो रे लोय (मरम-पाटा)
(ii) री रेलो रेलोय रेलाय रे रेलो रे रे लोय
रे रेलो री रे लोयो रेलाय
रे रेली री रे लोयो रेलाय ।। (मरम-पाटा)
(iii) री रे लोयो री रेला रेला रे रेला ।
री रे लोयो रेला ओ रे रे लोय ।। (मरम-पाटा)
(iv) री रे लोयो रे रेला, री रे लोयो रीरे लो रेला ।
री रे लोयो रे रेला, री रे लोयो रे रे लोय ।। (मरम-पाटा)
(v) री रे लोयो रे रे लोय रेला रे रेला (मरम-पाटा)
(vi) री रे लोयो रेला रे रेला रेलो रेलाय ।
री रे लोयो रेला रे रेला रेलाय ।। (मरम-पाटा)

(3) **"चलो" – टपीयुक्त आलाप** : "चलो" टपी संवादात्मक विवाहगीतों की पहचान है; यथा

(i) चलो—री री लोयो रे लोयो रे रेला ।
रेलो री रेलो रे रेलो री रे लोयो रे रेला ।। (मरम-पाटा)
(ii) चलो—री रेलो रेलो रेलो री रेलो ।
री रेलो रेलो रेलो रेलो री रेलो ।। (मरम–पाटा)

(4) **"इंगो" – टपीयुक्त आलाप** भी संवादात्मक गीतों की पहचान है, किन्तु "चलो" का प्रयोग महिलावर्ग तक सीमित है, "जबकि इंगो" का प्रयोग दोनों ही लिंग कर सकते हैं; यथा

(i) इंगो—री री लोयो री रीला, री री लोयो री री लोयो । (मरम–पाटा)
(ii) इंगो—री री लोयो री री लोयो ।
री री लोयो री री लोयो ।। (मरम-पाटा)

(iii) इंगो—री रे लोयो रेला रेला रे रे लाय ।
रे रेला रेलाय रीरे लोयो रेला रेलाय ॥ (मरम-पाटा)

(iv) इंगो—री रे लोयो रे रे लोयो रे रे रेलाय ।
री रे लोयो रेला रे रे लोयो रे रे लाय ॥ (मरम-पाटा)

(v) इंगो—री रे लोयो रे रे लोय रेला रे रेलाय । (मरम-पाटा)

(vi) इंगो—री रे लो रेला रे रे लाय रेला
रे रे लोयो रेला रे रे लाय ॥ (मरम-पाटा)

(vii) इंगो—री रे लोयो री रे लोयो, रेलो रे रे लाय । (मरम-पाटा)

(viii) इंगो—री री लोयो रेला रे रेला
री रे लोयो रे रेला ॥ (मरम-पाटा)

(ग) "राँ-री" अक्षर की टेक

यह आलाप प्रायः "कोलापाटा" से सम्बद्ध नरबलि के अवसरों पर होता है । अधोलिखित प्रथम आलाप "भंगाराम" की स्तुति में होता है तथा द्वितीय आलाप "वंजारिन माता" की आलप्ति में—

(i) राँ री री
हाँ राँ राँ राँ री री रीँ रा रा ॥

(ii) राँ री री रीँ रा री री राँ राँ राँ ॥

(घ) तेनाक्षरिक टेक

मुरिया-गीतों में एकमात्र हुलकी-गीत ऐसे हैं, जो शास्त्रीय संगीत के "तेनाक्षर" से परिचालित होते हैं और ये सभी गीत अठारह अक्षरों वाले होते हैं । इनके टेक में "रेलाक्षर" या "रीलाक्षर" के समान बहुसंख्यक परिवर्त्य भी नहीं मिलते; उदाहरणार्थ

(i) तेना नामुर नाना लयोर, नाना नामुर नाना ओ ।
तेना नामुर नाना लयोर, नाना नामुर नाना ॥

(ii) तेना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना रे हाँ ।
तेना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना ॥

(iii) तेना नामुर नाना रे, नाना नामुर नाना रे हो ।
तेना नामुर नाना रे, नाना नामुर नाना रे हो ॥

(iv) तेना नामुर नाना नामुर, नाना तेना नामुर
नाना नाना नामुर नाना, नाना नामुर नाना ॥

(ङ) तरीना टेकाक्षर

जिस प्रकार मुरिया-गीतों में "हुलकी" गीतों के आलाप सुविभेदक है, उसी प्रकार "**चैतदांदर**" के आलाप में भी "**तरीना**" की आलप्ति से पृथक् पहचान बनती है—

(i) तरी नारे नारे ना नारे ॥

(ii) तरी नाना ना नारे
नाना तरी नाना रे ॥

(iii) तरी ना हरी ना मोरेय
ननी हरी नना हो ।
ए ना हरी ना मोरेय ना
कन्हइया मोरेय ए ना
हरी ना मोरेय ।।

'चैतदांदर' का एक अन्य आलाप भी है, जो प्रयोग की दृष्टि से बहुत सीमित है—

हुन हुन हुन हुन जाम कुइँ ।

(च) छेरछेर की आलप्ति

''हुलकी'' तथा ''चैंतदांदर'' के गीतों के समान 'छेरतागीतों' की आरंभिक ''छेर-छेर'' का आलाप हलबी-गीतों के ही समान है तथा इन गीतों को मुरिया जनजाति हलबी में ही गाती है । अन्य गीतों के समान 'छेरछेरागीत' मुरिया बोली में नहीं पाया जाता है ।

गीतों के ये विविध टेक ऐसे मार्ग हैं, जिनसे निर्धारित साधन व विधि से गीत विशेष की सिद्धि होती है । गान-प्रस्तुतीकरण के दो प्रमुख भाग हैं । गेयरचना अर्थात् गीत की बन्दिश और उसकी गानशैली अर्थात् गायकी । गेयरचना स्वर-पदतालबद्ध ''बंदिश'' के रूप में होती है और गीत के ''राग'' या ''बंदिश'' के आधार पर गायक-गायिका द्वारा विशिष्ट विधि और स्वकल्पनानुसार प्रत्युत्पन्नमति से किया जाने वाला स्वर, पद, व ताल का विस्तार ''गानशैली'' या गायकी कहलाता है । इसीलिए गीतरचना और गानशैली के आधार पर भारतीय संगीत में गान के ''निबद्ध'' और ''अनिबद्ध'' दो भेद माने गए हैं—

देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम् ।
निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः ।।

(संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबन्धाध्याय)

धातुओं तथा अंगों से सुगठित गान को निबद्ध और तालादि के उपबन्ध से ही अलाप्ति (आलाप) को अनिबद्ध कहा गया है । इस रूप में जनजातियों का गान ''अनिबद्ध'' शैली के ही अधिक निकट है । ये गीत ''उद्ग्राह'' या ''टेक'' से आरंभ होते हैं । स्वर तथा ताल इनका विशेष लक्षण है । स्वर व ताल के साथ बिरुद, पद, तेनक या पाट के रूप में शब्द-संयोजना इस रचना का आवश्यक गुण है । प्राचीन संगीत में जिसे 'धातु' कहा गया है, वह जनजातीय गीतों में ''तुक'' के रूप में विद्यमान है । इनमें तुकों को हम स्थायी तथा अंतरा इन दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं । सभी जनजातीय गीतों में स्थायी का भाग एक ही होता है । अंतरों में विविधता देखने को मिलती है; यथा ''हुलकी'' गीत या ''चैत-दांदर'' के गीत । ''चइतपरब'' गीतों में चार तक के अंतरे देखने को मिलते हैं ।

जनजातीय गीतों में गायकी से सम्बद्ध अधोलिखित विशेषताएँ मिलती हैं—

(क) जनगीतों में काकु-समन्वित ललित व सुकुमार प्रयोग करते हुए जन-मनरंजन किया जाता है ।

(ख) जनगीतों में तारसप्तक अर्थात् ऊँचे स्वरों में लालित्यपूर्ण गमकों का इच्छानुसार प्रयोग करते हुए श्रोताओं का मनोरंजन किया जाता है ।

(ग) मूलतः नृत्याभिनयात्मक गीतविधा होने के कारण जनजातियों की गानशैली भावाभिव्यंजना-प्रधान है ।

(घ) प्रत्येक बार नूतन कल्पनाओं द्वारा नए-नए ढंग से गीत का श्रृंगार करते हुए कलाभिव्यक्ति करना जनगायकी का विशिष्ट गुण है ।

(ङ) जनगायकी में 'राग' के मान्य नियमों का पालन करते हुए अपनी सूझ-बूझ द्वारा नई-नई कल्पनाएँ करते हुए इच्छानुसार कलाभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है।

(च) जनगायकी में बोलों (पाड़ों) का बहुत महत्व है। बोलों के अनुसार ही जनगायन में बोलबनाव द्वारा गीत का विस्तार व श्रृंगार किया जाता है।

(छ) इसमें बोलों के भावानुकूल स्वरसन्निवेशों के प्रयोग से मिलते-जुलते रागों का तिरोभाव व आविर्भाव होता है।

(ज) जनगीतों में टेक की पंक्ति आलाप का कार्य करती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिम अभिनयात्मक नृत्यगीतों की गानशैली जनजातियों में आज भी प्रचलित है।

टिप्पण

(1) प्रायः सभी सूचकों ने यह स्वीकार किया है कि भतरा जाति के लोगों के गीत बहुत मधुर होते हैं और वे गायन में सिद्ध होते हैं।

□

4

जनजातीय नृत्य

4.1. जनजातीय नृत्य का विकास

नृत्य की परम्परा आदिम युग से ही चली आ रही है। जब से आदिम मानव ने अपने भावों को अंग-संचालन द्वारा प्रकट करने का प्रयास किया, तभी से नृत्यकला का सूत्रपात हुआ। भाषा के विकास से पूर्व आदिम मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए सांकेतिक भाषा का उपयोग करता था। जैसे-जैसे वह सभ्यता की ओर पग बढ़ाने लगा, उसकी यह कला निखरती चली गयी। संकेतों का स्थान मुद्राओं ने ले लिया और वह अपने भावों को अंग-प्रत्यंगों के विविध संचालन के द्वारा व्यक्त करने लगा। इस अंग-संचालन में प्रकृति उसकी सहायक रही। उसी के विभिन्न अंगों एवं क्रिया-कलापों से उसने लय तथा भंगिमाएँ सीखीं। मन्द समीर से झूमने वाली लताओं एवं पौधों ने उसको अभिनय की शिक्षा दी। वन के विविध पशुओं की मुद्राओं का उसने अनुकरण किया। भावाभिव्यक्ति के लिए इसी प्रकार का अंग-संचालन करने पर नृत्यकला उत्पन्न हुई।

मन में भाव पैदा होने पर शरीर की किसी-न-किसी क्रिया में साकार हो उठता है और इसी से अभिनय का सूत्रपात होता है। वैदिक युग में नृत्यकला जनता के मनोरंजन का माध्यम थी। नृत्य पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के द्वारा किया जाता था और सभी जन इसमें भाग ले सकते थे। नृत्य खुले प्रांगण में हुआ करते थे—नृत्यमतो अमृता (ऋग्वेद 5.33.61)।

नर्तकियाँ मोहक वेषभूषा से सज्जा करके नृत्य करती थीं। तत्कालीन यज्ञयाज्ञो के अन्तर्गत अवकाश के क्षणों में नृत्य के आयोजन किए जाते थे। इनमें दासी-वर्ग की स्त्रियाँ मस्तक पर कलश लेकर वर्तुलाकार नृत्य करती थीं। ये नृत्य एकल अथवा सामूहिक दोनों रूपों में किए जाते थे। वैदिक साहित्य में दिव्य नर्तकियों के रूप में अप्सराओं का उल्लेख अनेकशः हुआ है।

बस्तर की जनजातियों के नृत्यों पर आगम तथा पुराणों में वर्णित नृत्यों से सादृश्य देखने को मिलता है। आगम तथा पुराणों के अनुसार शिव नृत्य के जन्मदाता हैं, तो मुरियामिथकों के अनुसार 'लिंगो' ने मुरिया प्रजाति को पदसंचालन तथा गीत की शिक्षा दी है—

लिंगो ना वेहले पाटा
लिंगो ना वेहले डाका ॥
"लिंगो के द्वारा सिखाए गए गीत
लिंगों के द्वारा सिखाया गया नृत्य"

आगम और पुराणों की परम्परा का एक ग्रन्थ **गान्धर्व** प्रचलित था, जिसमें शिव-पार्वती के सम्वाद सम्बन्धी 3600 श्लोक थे, किन्तु अब यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ की पुनरंचना जनजातियों में प्रचलित नृत्यों के माध्यम से की जा सकती है (**के० वासुदेवशास्त्री**, संगीत शास्त्र, पृ. 4)।

छायाचित्र क्रमांक–4. तल्लागुड़ा धारण किए हुए दण्डामी माड़िया युवक

वस्तर की सामूहिक नृत्य की विविध शैलियों का विकास वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में देखा जा सकता है। "घोटुल"–जीवन की आह्लादमय तथा जीवन्त विशेषता इन सामूहिक नृत्यों में ही है, जो वर्ष भर आयोजित होते रहते हैं। इनका "घोटुल" एक प्रकार से "यूथविवाह" का केन्द्र है, जिससे मातृसत्ता का जन्म हुआ था। यहाँ एक ऐसा यौनसम्बन्ध होता रहा है, जिसमें कोई बन्धन नहीं होता है। यह सम्बन्ध पहले किन्हीं दो व्यक्तियों में हो सकता था, जो इसकी कामना करते थे। इस कामना पर सामाजिक या व्यक्तिगत रोक कभी नहीं रही। यहाँ पहले गोत्र यौनसम्बन्धी ऐसा संगठन था, जिसके अनुसार सब पत्नियाँ एक-दूसरे के लिए होती थीं। यही "यूथ-विवाह" का स्वरूप है। कालान्तर में गोत्र के लोग "घोटुलों" में साथ-साथ शयन करने के लिए रोक दिए गए।

"घोटुल-विवाह" में एक प्रकार से स्थिर युग्मता देखने को मिलती है। मानों कुछ समय के लिए स्थिर रह कर नर-नारी साथ-साथ एक जोड़े के रूप में रह सकते हैं। जैसे-जैसे गोत्र समुन्नत होकर आगे बढ़े तथा विवाहयोग्य सम्बन्धियों से विवाह करना वर्जित हो गया, तब स्वाभाविक युग्मता की स्थिति आई होगी, जिसके कारण "घोटुल" टूटने लगे। तब "घोटुल-परिवार" ने "जनजातीय परिवार" का स्थान ले लिया। इस अवस्था में एक नारी के साथ एक पुरुष रहता है। पुरुष या नारी तब भी स्वतंत्र हैं और दोनों पक्षों में से कोई एक वैवाहिक सम्बन्ध को सरलता से तोड़ सकता है, किन्तु प्राचीन प्रथा के अनुसार सन्तानें माता की ही होती हैं। विवाह, गोत्र-देवताओं के उत्सव, "मँड़ई-जात्रा" तथा सांस्कारिक नृत्यों के निमित्त वर्ष भर यात्राएँ आयोजित होती रहती हैं। इन यात्राओं में कभी "चेलिक" तथा "मोटियारी" साथ-साथ जाते हैं और कभी अलग-अलग; यद्यपि प्रत्येक नृत्ययात्रा का एक निश्चित निहितार्थ होता है तथा इसका रूपान्तरण युवामन के प्रणयप्रसंग में हो जाता है। इन नृत्ययात्राओं में विविध गाँवों के युवक तथा युवतियाँ परस्पर मिलते हैं तथा मिलन की फलश्रुति प्रणयप्रसंग में होती है। दैनिक जीवन के उबाऊ माहौल से हटकर इन नृत्यायोजनों में "चेलिक" तथा "मोटियारी" आमोद-प्रमोद के लिए स्वच्छन्द विचरण करते हैं—

गुड़दुम गुड़दुम गुड़दुम बाजा बाजीला गोरीलोक।
गुड़दुम गुड़दुम गुड़दुम बाजा बाजीला ॥ 1 ॥
कोन गाइन कोन गाइन धाँगड़ी नाचीला।
गोरी लोक कोन गाइन धाँगड़ी नाचीला ॥ 2 ॥
आचीला कि पाचीला चिहिला सुखीला।
तेबे गोरी लोक चिहिला सुखीला ॥ 3 ॥
लामनीकरिन लामनीकरिन धाँगड़ी नाचीला।
तेबे गोरीलोक लामनीकरिन धाँगड़ी नाचीला ॥ 4 ॥

हिन्दी-अनुवाद

गुड़दुम गुड़दुम की आवाज से वाद्य बजा, गोरी लोक
गुड़दुम-गुड़दुम ध्वनि से बाजा बजा ॥ 1 ॥
किसने गाया किसने गाया, नवयुवती ने नृत्य किया।
गोरी युवतियो, किसने गाया, नवयुवती ने नृत्य किया ॥ 2 ॥
अपरिपक्व था कि परिपक्व, कीचड़ सूखा।
तभी गोरी लोक कीचड़ सूखा ॥ 3 ॥
लामनी गाँव की लामनी गाँव की नवयुवती ने नृत्य किया।
तभी गोरी लोक लामनी गाँव की नवयुवती ने नृत्य किया ॥ 4 ॥

प्रत्येक विवाहोत्सव में निकटवर्ती "घोटुल" के युवाओं का समागम होता है। विवाह के दिन से ही दर्जनों गाँवों के "चेलिक" तथा "मोटियारी" उषाकाल में ही बिस्तर से उठ जाते हैं तथा अपने को सजाते-सँवारते हैं। ढोलों को ठीक करते हैं और आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। जब वे अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं तो सर्व-प्रथम किसी वृक्ष या नदी के किनारे अपना पड़ाव डालते हैं। इसके पश्चात् विवाह में सम्मिलित होने के लिए उनकी आगामी यात्रा प्रारम्भ होती है। ये विवाहस्थल पर जाकर वहाँ मण्डप बनाते हैं। विवाहघर के सामने नाचते हैं तथा "लागिर" (लग्न) उत्सव में भाग लेते हैं। वधू का परिवार भोजन तथा पान से इनका स्वागत करता है। खाली समय में ये साथ-साथ घूमते हैं। खेलते हैं। हँसते हैं। परिहास करते हैं। बतियाते हैं। अपने पड़ाव पर जाकर विश्राम करते हैं। विवाह प्रायः ग्रीष्मकाल में होते हैं, जो पूरे मुरिया-समाज के लिए "पिकनिक" मनाने का अवसर बन जाता है।

आदिम प्रणाली के अनुसार नृत्य यहाँ एक सामूहिक आयोजन है। सामूहिक परिश्रम के रूप में सभी लोग इसमें भाग लेते हैं। उनमें कोई श्रेणीविभाजन अथवा श्रम-विभाजन नहीं होता है। इस नृत्य में किए गए सामूहिक परिश्रम का फल "भोजन तथा पान" है। प्रारंभ में इनमें एक ही गोत्र के लोग भाग लेते हैं। अपने जीवनरक्षा के लिए आदिवासी समूह जिन क्रियाओं को प्रतिदिन करता है, वे ही क्रियाएँ सामूहिक नृत्य हैं। एकता में आबद्ध होकर इन्हें सामूहिक सूत्र में किया जाता है। इस नृत्य की एक विशेषता यह है कि इसको सम्पादित करने वाले आदिम संघ के प्रमुख देवता हैं। इस रूप में यह ज्ञात होता है कि देवता प्राचीन जनवादी आदिम संघ के सदस्य रहे हैं। आदिवासियों ने जब निजी सम्पत्ति, वर्ग और शासन सत्ता को जन्म नहीं दिया था, उस समय तक की उनकी प्राचीन सामूहिक उत्पादन-प्रणाली का नाम "ककसाड़" है और जैसे ही निजी सम्पत्ति, वर्ग और शासनसत्ता का जन्म हो गया, वैसे ही "ककसाड़" का रूप विविध नृत्यों में विकसित हो गया, जो किसी खास लिंग या वय के साथ सम्बद्ध हो गए और इसी के साथ विविध विधि-निषेधों का भी जन्म हो गया।

बस्तर के आदिवासी अपनी प्रत्येक क्रियाशीलता और जीवन के रोम-रोम में साम्य संघ की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। नृत्य करते हुए अथवा सामूहिक रूप में परिश्रम करते हुए, गाते हुए, "सलफी" पीते हुए ये अपने सामूहिक अस्तित्व की भावना और चेतना को विराट् "लिंगो" के रूप में प्रकट करते हैं। यह "लिंगो" वस्तुतः साम्यसंघ को छोड़कर कुछ नहीं होता। विकास की जिस अवस्था में ये जीवन बिता रहे हैं, उस अवस्था में 'लिंगो' एक रहस्य-मय शक्ति लगता है—ऐसी शक्ति नृत्य में जन्म लेकर उसी में वास करती हैं और संगीत में ही वह आती हैं।

गोत्र-देवताओं का भव्य उत्सव इनके मनोरंजन के लिए एक अन्य अवसर है। मुरियामन धर्म को धार्मिकता से मिलाने का भ्रम नहीं पालता है। वह जानता है कि देवता को संतुष्ट करना होगा। उनकी पूजा-अर्चना करनी होगी। इसलिए वह उनको स्नान कराता है। उनको भोग-चढ़ाता है। उन्हें आनन्दित करता है। प्रसन्न करने के लिए भाँति-भाँति के प्रलोभन देता है। उनका ध्यान लगाता है। यह सब कुछ वह इसलिये करता है कि बदले में देवता उसकी मनोकामनाओं को पूरा करेंगे। ऐसे उत्सवों में सैंकड़ों युवक तथा युवतियाँ वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर देव-ताओं की शोभायात्रा में सम्मिलित होती हैं। यहाँ भी अलग-अलग 'घोटुलों' का अलग-अलग वृक्षों के नीचे पड़ाव होता है। "चेलिक" तथा 'मोटियारी' यहाँ साथ-साथ नाचती हैं। विवाहोत्सवों की तुलना में यहाँ दूर-दराज के गाँवों के युवक-युवतियों से मिलने की और उन्हें चुनने की अधिक सम्भावना रहती है।

प्रत्येक युवक अपनी बाहों में शराब की बोतलें छिपाकर लाते हैं क्योंकि यहाँ भी उनका एक निश्चित लक्ष्य है—दूसरे गाँव की युवती से मिलना तथा उसे आकृष्ट करना। काली रातों में टार्च लिए हुए वे अपनी भावी

प्रियतमाओं को खोजते रहते हैं। यहाँ विवाहित पुरुषों को भी यह स्वीकृति है कि वे अपनी नयी प्रणयिनी खोज लें। इतना ही नहीं, "सिरहा" लोगों के द्वारा अगवानी किए जाने वाले देवता भी यहाँ इतने उन्मुक्त हैं कि वे भी रस में सरोबोर होकर युवतियों का पीछा करते हैं। औत्सविक नृत्य रात्रि में करीब नौ बजे प्रारम्भ होता है और उषाकाल तक चलता रहता है। यह एक भव्य तथा हृदयावर्जक दृश्य होता है। चारों तरफ 'कैम्प-फायर' होती है। जैसे-जैसे रात सरकती है, युवक-युवतियाँ जंगल की ओर भाग जाती हैं अथवा आग के पास बैठकर मदिरापान करती हैं और थोड़ी देर के लिए सुस्ताती हैं। अन्त में शुरू होती है नृत्य से परिपूर्ण सांस्कारिक शोभायात्रा।

क्षेत्र से प्राप्त नृत्य-सामग्री के आधार पर मुरिया जनजाति के नृत्यों को अधोलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। विवेच्य नृत्य-शैलियों में हमें वैदिक युग से लेकर पौराणिक युग तक का एक अवस्तल देखने को मिलता है, जो कमोवेश बस्तर की सभी जनजातियों में अनुभव किया जा सकता है—

(क) जात्रा-नृत्य
(ख) रास-नृत्य
(ग) दण्डरास-नृत्य
(घ) क्रीड़ानृत्य

4.2. जात्रानृत्य

"जात्रा"-नृत्य बस्तर की मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया तथा दोर्ला नामक जनजातियों में विशेष रूप से प्रचलित है। मुरिया में इसे "जात्रा" कहा जाता है, जो संस्कृत यात्रा का विकसित रूप है। अबुझमाड़िया में यह "करसाड़", "कगसाड़" तथा "कहसाड़" आदि नामों से जाना जाता है तथा दण्डामी माड़िया में इसे "ककसार" या "पेन-करसीता" या "कर्साड़" रूप में अभिहित किया जाता है। "कर्स" शब्द द्रविड़ोत्पत्ति (डी० ई० डी० 1172) से सम्बद्ध है, जिसका अर्थ है नृत्य। "करसाड़" तथा उसके विविध पर्याय देवताओं के नृत्य के वाचक हैं। इस रूप में यात्रा-नृत्य को धार्मिक नृत्य की भी संज्ञा दी जा सकती है। यह यूथ-विवाह का जीवन्त 'प्रतिरूप' भी है।

यात्रा का भी अर्थ होता है जुलूस (religious procession)। इन "जात्रा"-नृत्यों का सम्बन्ध आज भी जुलूस से ही है। आज ये आदिवासी देवोपासकगण अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय किसी-न-किसी प्रकार का नृत्याभिनय करते हैं और उसी नृत्य विशेष का नाम 'जात्रा' या 'करसाड़' हो गया है। यह स्वाभाविक ही है कि यह नृत्य बहुत संगीतमय होता है।

इस "जात्रा"-नृत्य की उत्पत्ति का इतिहास वैदिक युग से जुड़ा हुआ है। हमारा यह कथन ई० पी० हारविज्त के अधोलिखित निष्कर्ष से भी प्रमाणित होता है—"यहाँ तक कि वैदिक युग भी यात्रा से परिचित था। यात्रा आर्यों की अति प्राचीन पैतृक सम्पत्ति है। ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति संगीतमय जुलूस में हुआ करती थी। सामवेद के कई मंत्र आदिम यात्रानृत्यों के असंस्कृत विनोद की सीमा तक पहुँच जाते थे।" Even the Vedic age knew Jatras: Memorable heirloom of Aryan antiqutiy. The Gods of the Rigveda were hymned in Choral Processions. Some of the Samaveda hymns reached the rude mirth of the primitive Jatra dances. (E. P. Hartwitz : The Indian Theatre, p. 178)। उपर्युक्त उद्धरण में विचारणीय अंश है—The rude mirth of primitive Jatra dances यात्रा के समय जो नृत्य हुआ करते थे, वे वैदिक काल के सुसंस्कृत आर्यों के नृत्य नहीं थे, प्रत्युत यहाँ के मूल निवासियों के असंस्कृत नृत्य थे। सम्भव है कि मूलनिवासियों की यह

नाट्यशैली वैदिक काल के आर्यों ने अपना ली हो और उनके गानों के स्थान पर वेदमंत्रों के गान को संयुक्त करके इसे संस्कृत नाम 'यात्रा' प्रदान कर दिया हो।

डॉ० कीथ का एक उद्धरण है—The dramas of ritual, therefore, are in a sense somewhat out of main line of development of the drama, and the popular side has survived through ages in a rough way in the Jatras, well-known in Bengal while the refined and sacerdotalised Vedic drama passed away without a direct descendant. (A. B. Keith : The Sanskrit Drama, p. 16) इससे प्रमाणित होता है कि वैदिक काल के यज्ञ-सम्बन्धी संवादों से भारतीय नाटक का विकास नहीं हुआ, प्रत्युत् "जात्रा" नामक जननाटकों और नृत्यों के प्रभाव से प्रभावित आर्य विद्वन्मण्डली ने संस्कृत-नाटकों की एक नई शैली निकाली। इस काल में भी मौलिक जननाटक-शैली अबाध गति से अपने स्वाभाविक पथ पर चलती ही रही, जिससे आगे चलकर देशी भाषाओं के नाटक निकले।

इन उद्धरणों से यात्रा की चिरप्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। यात्रानाटक हमारी जनजातियों के धार्मिक नाटक थे, जिन पर समय-समय पर अनेक देवी-देवताओं के महान् क्रिया-कलापों का प्रभाव पड़ता गया। इन्हीं की शैली पर संस्कृत में गीतगोविन्द की रचना हुई, जिसका अभिनय गीतनाट्यों के रूप में शताब्दियों से होता चला आ रहा है। गीतगोविन्द का प्रभाव पुनः समूची जनजातियों पर पड़ा और यही कारण है कि नारायनपुर तथा कोण्डागाँव (बस्तर)-क्षेत्र में नृत्यगीतों को "गीतगोविन्द" के नाम से ही अभिहित किया जाता है। बस्तर से पुरी की निकटता और पुरी से जयदेव का पर्याप्त सम्बन्ध भी इसके बस्तर में आदान का प्रमुख कारण रहा होगा। इन्हीं यात्रानृत्यों का विकास कालांतर में बस्तर की जनजातियों में "स्वांग" तथा "तमासा" जैसे जननाटों में हुआ।

आगामी पृष्ठों में बस्तर की दण्डामी माड़िया, अबुझमाड़िया तथा मुरिया के यात्रानृत्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

4.2.1. दण्डामी माड़िया का पेन-करसीता या कर्साड़

"पेन-करसीता" या "ककसार"-नृत्य बहुत ही क्षिप्र गति का होता है। यहाँ यह पार्श्व पदचालन का नृत्य है, जो बहुत ही आमोदकारक होता है। इसी नृत्य में अपने-अपने देवी-देवताओं के साथ पड़ोसी गाँवों के "सिरहा" सम्मिलित होते हैं। उनके हाथ में साजा वृक्ष की पत्तियों के गुच्छ होते हैं। पाटी पड़े बालों में भी ये गुच्छ खोंसे रहते हैं। ये देवताओं की यात्रा में नृत्यमग्न हो जाते हैं।

4.2.2. अबुझमाड़िया का ककसाड़ नृत्य

"ककसाड़" देवी-देवताओं का नृत्य है, जो बहुत अधिक भड़कीला तथा असम्बद्ध होता है। इस नृत्य की एक विशेषता है कि सभी युवक सम्भ्रान्त जनों-जैसी पोशाक धारण करते हैं। इस नृत्य में लड़कियाँ भाग नहीं लेतीं।

रात्रि में किसी पास के गाँव में नवयुवक तथा नवयुवतियाँ विशेष तरीके से नाचती हैं। ये भड़कीला परिधान पहने रहते हैं तथा इनका नृत्य बहुत ही कामुक प्रकृति का होता है, जिसमें अनेक लैंगिक प्रतीक होते हैं। नृत्य लयात्मक तथा क्रमबद्ध होता है। नृत्य में गाए जाने वाले गीत देवताओं के सम्मान में होते हैं, जिनका संग्रह मेरी पुस्तक "रेलोया रे रेलोया" (1982) में है। नृत्य रात्रि भर चलता रहता है। कभी-कभी नाचते हुए जोड़े जंगल की ओर भाग जाते हैं और कुछ ही क्षण बाद वापस आ जाते हैं। ये कामसंबंध बाद में विवाह में परिणत हो जाते हैं। अबुझमाड़ में दूसरे गाँव की किसी युवती से विवाह के लिए भी "ककसाड़" एक उचित साधन है। ककसाड़ में विविध गाँवों की

चित्र क्रमांक-6 "ओरछा-ककसाड़ नृत्य में सहभागी विविध ग्राम"
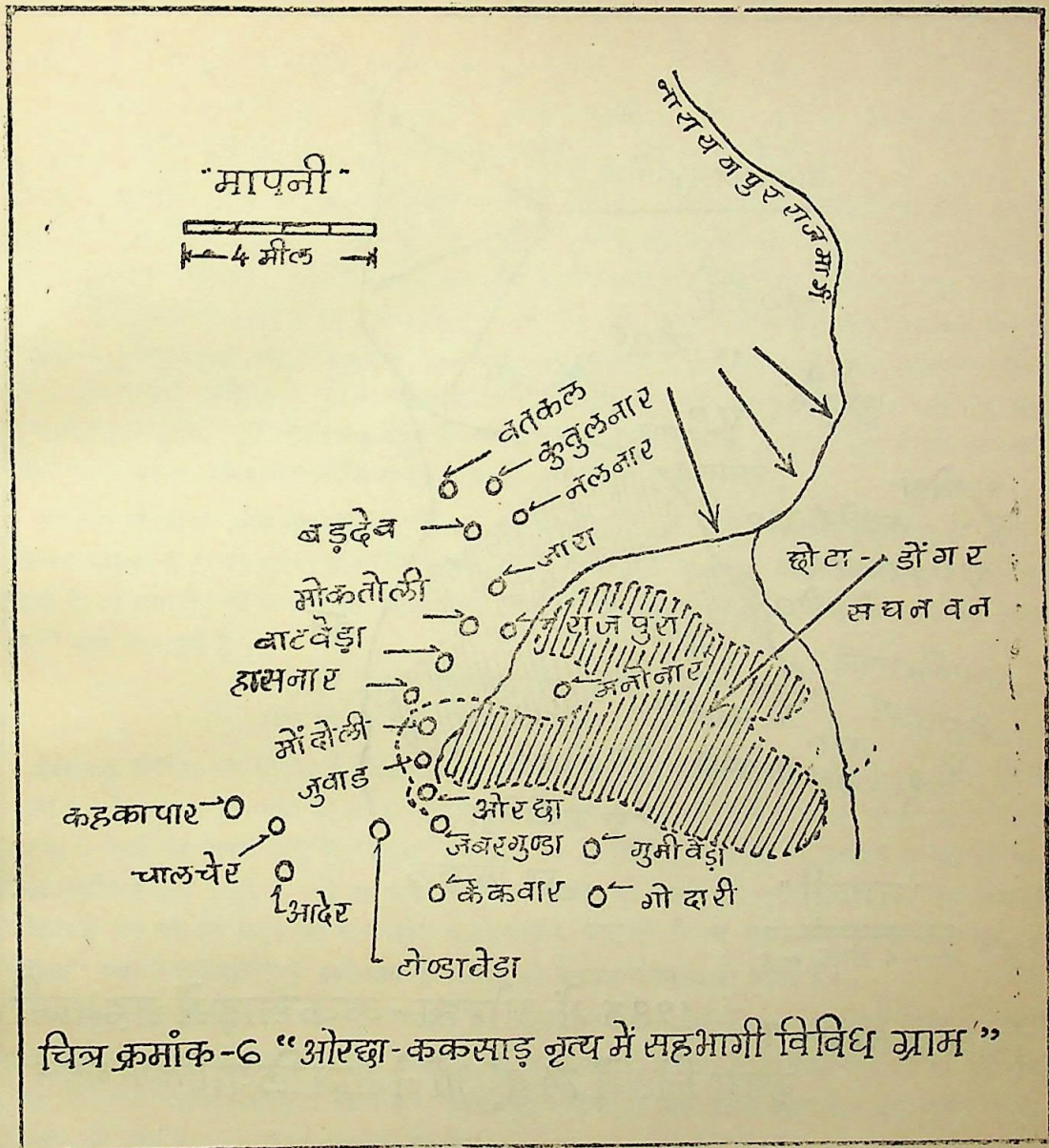
युवतियाँ सम्मिलित होती हैं। यहाँ युवक-युवतियाँ मदिरा पीकर नृत्यमग्न होती हैं। इसी बीच मनपसन्द जोड़ा नृत्य-वृत्त से बाहर निकल कर घने जंगलों के बीच से होता हुआ सुहानी घाटियों की किसी मादक छाँह में जा छिपता है और दोनों में से कोई अपने गाँव नहीं लौटता। "ककसाड़" में सम्मिलित होने वाली युवती जब निश्चित समय के पश्चात् भी घर नहीं लौटती, तब उसके अभिभावक उसकी खोज करते हैं। तथ्यों की जानकारी होती है। युवती के पालक युवक के पालक से मिलते हैं और दोनों का विधिपूर्वक विवाह कर दिया जाता है। किन्तु यदि युवती पूर्व विवाहिता हुई, तो ऐसी स्थिति में उसके पूर्व पति को मुआवजा देकर विवाहिता युवती से विवाह किया जाता है। इसका भार "ककसाड़" उत्सव में मिले हुए "नए" पति को उठाना पड़ता है (द्र० मानचित्र क्रमांक 6-7)।

चित्र क्रमांक-7 1983 में ओरछा-ककसाड़ में सहभागी ग्राम जिसमें 74 वधुओं ने भाग लिया [संदर्भ-४.२.२]
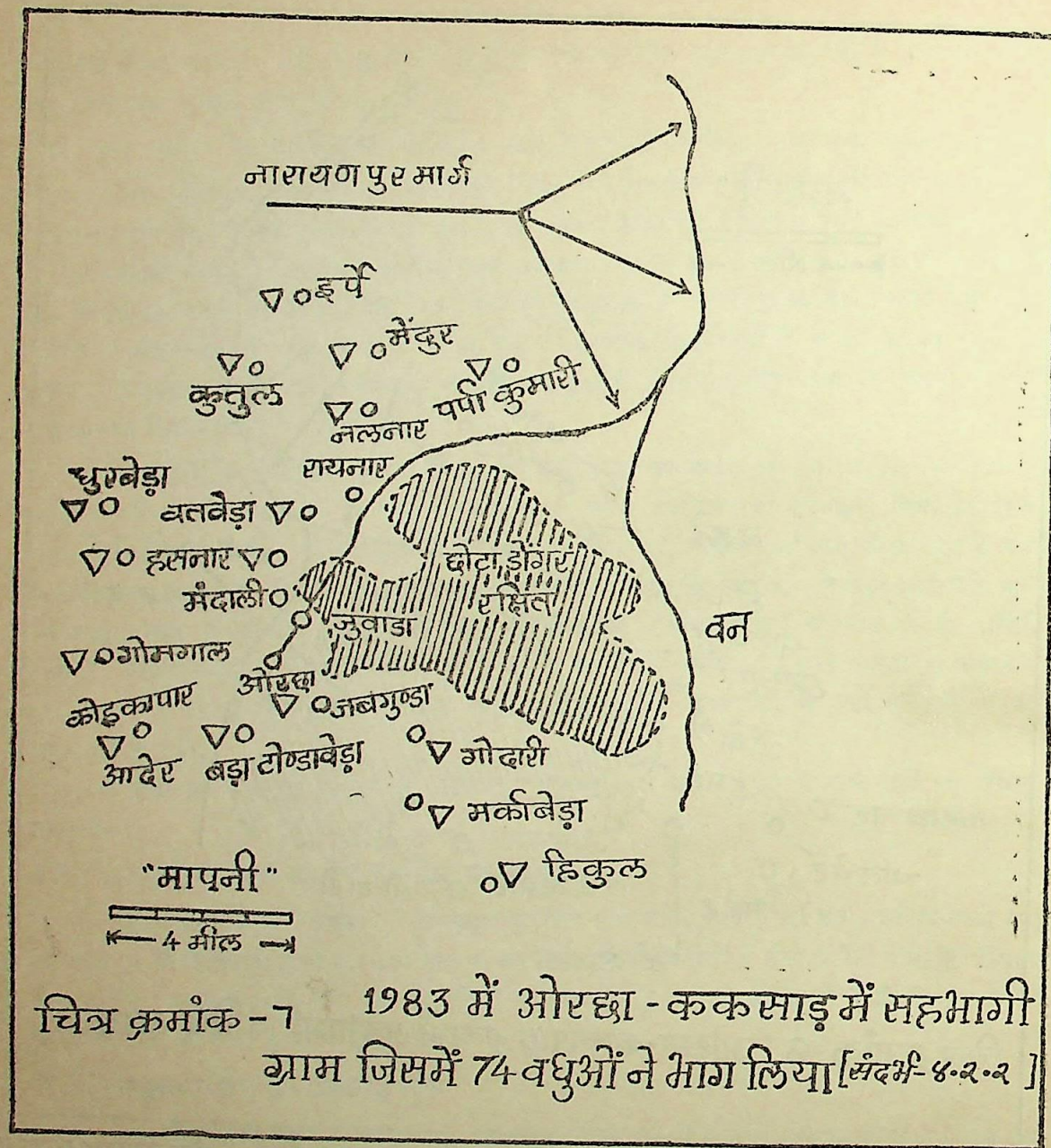
4.2.3. मुरिया का जात्रा-नृत्य

मुरिया "चेलिक" तथा "मोटियारी" भव्य गोत्रोत्सवों में नाचते हैं, गाँव के सामान्य संस्कारों में नृत्य करते हैं, तथा "पूस-कोलांग" एवं अन्य यात्राओं में नृत्य करते हैं। आमतौर पर इनके प्रमुख नृत्य यात्रापरक ही होते हैं। ये गोत्रदेवता के सम्मान में नाचते हैं, ग्राम-देवताओं के सम्मान में नृत्य करते हैं और इनका नृत्य "घोटुल" के देवता के उपलक्ष्य में होता है। "घोटुल" के नृत्य एक प्रकार से "दण्डरास" (दण्डार) प्रकृति के हैं। अतएव उनका पृथक् से विश्लेषण किया गया है। यहाँ हम धार्मिक नृत्य की चर्चा कर रहे हैं, जिन्हें मुरिया में "जात्रा" कहा जाता है।

दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पूर्व के जात्रा-नृत्य बहुत ही विभेदक होते हैं। छोटा डोंगर, कड़ंगाल, मर्दापाल, तथा चालका परगनों व उनसे संलग्न गाँवों के मुरिया अबुझमाड़ी शैली में नृत्य करते हैं, जबकि अन्य परगनों की नृत्यशैली में मुरियापन विद्यमान रहता है। यहाँ सर्वप्रथम विशुद्ध मुरिया-नृत्य की चर्चा है।

उत्तरी तथा पूर्वी मुरिया का उत्सवधर्मी नृत्य परिष्कृत नहीं है। बलि की वेदिका के निकट अपने कन्धों पर ढोल लटकाए 'चेलिकों' की एक पंक्ति खड़ी रहती है। दाहिने हाथ में दण्ड पकड़ कर तेजी के साथ ढोल बजाते हुए 'चेलिक' इधर-उधर हिलते-डुलते हैं। जैसे ही वे अपने गति की चरमावस्था में पहुँचते हैं, विशिष्ट तीव्रता के साथ ढोल बजाते हुए तीखी आवाज करते हैं। यदा-कदा पंक्ति कुछ दूरी तक आगे बढ़ती है, फिर गोलाकार घूम कर पीछे जाती है। इसी समय युवकों का एक समूह 'तुड़बुड़ी' वाद्य के साथ बहुत तेजी से ढोल बजाते हुए त्वरित आवर्त्तन के साथ एक घेरे में नाचता है। 'मोटियारी' भी दो पंक्तियाँ बना कर इधर-उधर पदसंचारण करती हैं। इस नृत्य में कोई दर्शनीय घटना नहीं होती। हाँ, ढोलवादन बहुत ही प्रभावोत्पादक होता है। जब ढोल के साथ बाँसुरी के स्वर भी मिल जाते हैं, तो समूचा मुरियाक्षेत्र संगीतमय हो जाता है।

माड़िया-मुरिया के भव्य उत्सवधर्मी नृत्यों पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो बात कुछ और ही होती है। कथा ही बदल जाती है। जब दर्जनों गाँवों के 'चेलिक' और 'मोटियारी' अपने पूर्ण नृत्य-परिधान में एक स्थान पर एकत्र होते हैं, तो समारोह की भव्यता बढ़ जाती है और वह दर्शनीय हो उठता है। इस नृत्य के समुचित मूल्यांकन के लिए दो बातें महत्वपूर्ण हैं—

(क) इसे समूह में सम्पादित होना चाहिए। और

(ख) इसे रात्रिपर्यन्त चलना चाहिए।

प्रदर्शन के निमित्त जब कतिपय माड़िया-मुरियों का समूह कहीं एकत्र होकर नाच करता है, तो उसमें नीरसता बनी रहती है; किन्तु जब चार-पाँच सौ नर्तक एक क्षेत्र में आकर इकट्ठे हो जाते हैं और 'टार्च' की रोशनी में मण्डलाकृति में उनके पैर थिरक उठते हैं, "हकुम" बजना प्रारंभ हो जाता है, घुँघरुओं की आवाजें सुनायी देने लगती हैं, असंख्य कलगियाँ हिल उठती हैं; तो उस समय धरती भी सजीव हो उठती है। नृत्य का यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक हम मधुर लय से मदहोश न हो जायँ। उषा की किरण फूटने तक दर्शक अथक नृत्य करते हुए "चेलिक" तथा "मोटियारी" के हर्षोन्माद व उल्लास को देखकर मंत्रमुग्ध हो जाता है।

यहाँ नृत्य की संरचना के दो प्रमुख आधार हैं। द्वितीय आधार प्रथम संरचना से ही विकसित होता है। आभ्यन्तरमुखी युवकों तथा युवतियों की पंक्ति एक-दूसरे के दाएँ हाथ को पड़ोसी के कन्धे या कटि पर रखे हुए मण्डल के अन्तर्गत धीरे-धीरे चतुर्दिक् आवर्त्तन करती है। यह आवर्तन दोनों ही दिशाओं में बढ़ता है। इसी समय पंक्ति से दो या तीन युवक निकलकर गाना प्रारम्भ कर देते हैं—

री री लोयो री री लोयो री री ला रीरीला।
री री लोयो री री लोयो री री ला रीरीला ॥। घोषा।
अदु बोदु यायाल गो ये आया।
अदु बोदु यायाल गो ये आया ॥ 1 ॥
बिंजुल करियो आयाल गो ये आया।
बारांग बिचार वायो गो ये आया ॥ 2 ॥
नियर वेहले वेहले पाटा गो आया।
करसी पाटा आयो करसी पाटा ॥ 3 ॥

बारांग बिचार वायो गो ये आया।
बारांग ब्रिचार वायो गो ये आया ।। 4 ।।
डाका बिचार वायो गो ये आया।
डाका बिचार वायो गो ये आया ।। 5 ।।
बारांग सिल्लेर इत्ते गो आया।
बारांग सिल्लेर इत्ते गो आया ।। 6 ।।
लयोर सिल्लेर इत्तेक गो ये आया।
लयोर सिल्लेर इत्तेक गो ये आया ।। 7 ।।
हीमा करे लयोर गो ये आया।
बारांग सिलेर इत्तेक गो ये आया ।। 8 ।।
लयास्क सिलेर इत्तेक गो ये आया।
पोड़ेर पुंगारु लयास्क इत्तेक गो ये आया ।। 9 ।।
बारांग सिलेर इत्तेक गो ये आया।
अग्गा सिलेर इत्तेक गो ये आया ।। 10 ।।
हिर्रीमर्रा अग्गा गो ये आया।
हिर्रीमर्रा अग्गा गो ये आया ।। 11 ।।
अग्गा पोर्रो बारांग गो ये आया।
अग्गा पोर्रो बारांग गो ये आया ।। 12 ।।

हिन्दी-अनुवाद

वह कौन माता है, वह कौन-सी माता है ।। 1 ।।
बिजली गाँव की माता है,
हमारे गाने से क्या आप भावोन्मत्त नहीं होतीं, हे माता ।। 2 ।।
तुम्हारे द्वारा बार-बार दुहराया गया गीत माता
यात्रा गीत माता, हाँ यह तो जात्रा गीत है माँ ।। 3 ।।
हमारे गाने से आप भावोन्मत्त नहीं होतीं, माँ ।। 4 ।।
हमारे कदम मिलाकर चलने से त्रुटि से शायद
आपको गीत पसंद नहीं आया माँ ।। 5 ।।
क्या पूजा चाहिए ! इस त्रुटि के लिए ! अभी हे माँ ।। 6 ।।
युवकों की पूजा चाहिए अभी हे माँ।
चेलिकों की पूजा ।। 7 ।।
युवक हीं पूजा करेंगे माँ,
क्या पूजा चाहिए माता ! ।। 8 ।।
मोटियारी की पूजा चाहिए माँ
पोड़ेर फूल-जैसी सुकुमार युवती की पूजा ।। 9 ।।

क्या पूजा वांछित है मां,
वहाँ की पूजा अभी होगी माँ ॥ 10 ॥
शीघ्र करेंगे पूजा वहाँ माँ ॥ 11 ॥
वहाँ की पूजा कैसी हो माँ ॥ 12 ॥

इस नृत्यमय गीत में पदसंचार की संरचना अधोलिखित रीति से बहुत सरल होती है—
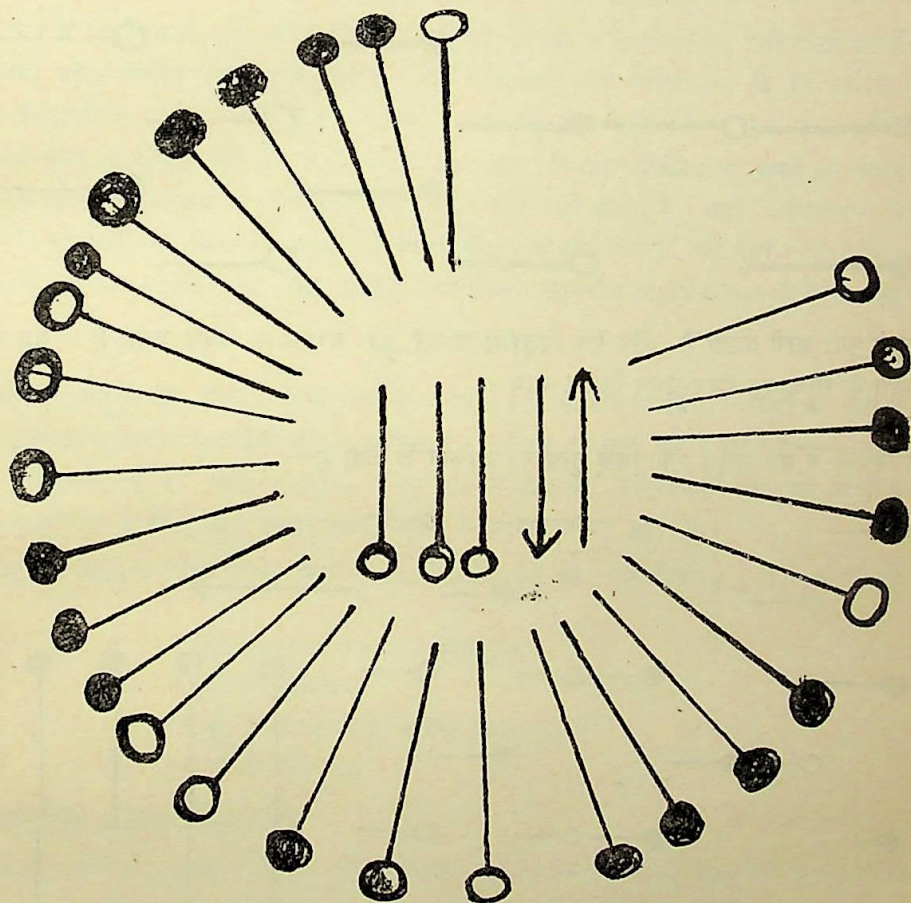
प्रत्येक नर्तक मुख्य पंक्ति में दायीं ओर अपना दायां पैर धीरे से रखता है और अपने अँगूठे के बल तीन बार खड़ा होता है। फिर बाएँ पैर को दाएँ पैर के पास ले जाता है और फिर से अँगूठों के बल खड़ा हो जाता है तथा एक बार उसी स्थिति में दायीं ओर मुड़ता है। इस क्रिया को करते समय वह अपने कूल्हे में बँधी हुई घण्टियों पर आघात करता है। मध्य-स्थिति में रहने वाले गायक केवल आगे की ओर बढ़ते हैं—प्रत्येक 'डाका' (पदचाप) पर थोड़ा रुकते हुए।

अब मण्डल के बीचोंबीच गायकों की संख्या बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में युवकों की एक पंक्ति तथा युवतियों की दूसरी पंक्ति तैयार हो जाती है और पूरा नृत्य शीघ्र ही एक जुलूस में बदल जाता है तथा मण्डल टूट जाता है—
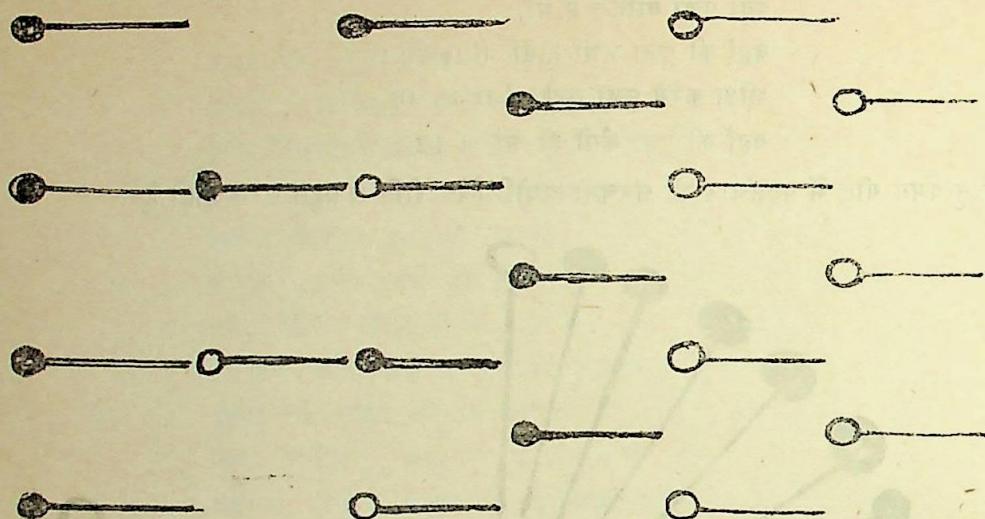
यह जुलूश पुन: आगे बढ़ता है और एक दिशा में जाकर पुन: मण्डल में बदल जाता है। यह भी सम्भव है कि एक प्रत्यावर्तन के साथ यह इधर-उधर बिखर जाय।

अग्रिम स्थिति में यह जुलूस एक पृथक् नृत्य का आकार ले लेता है—
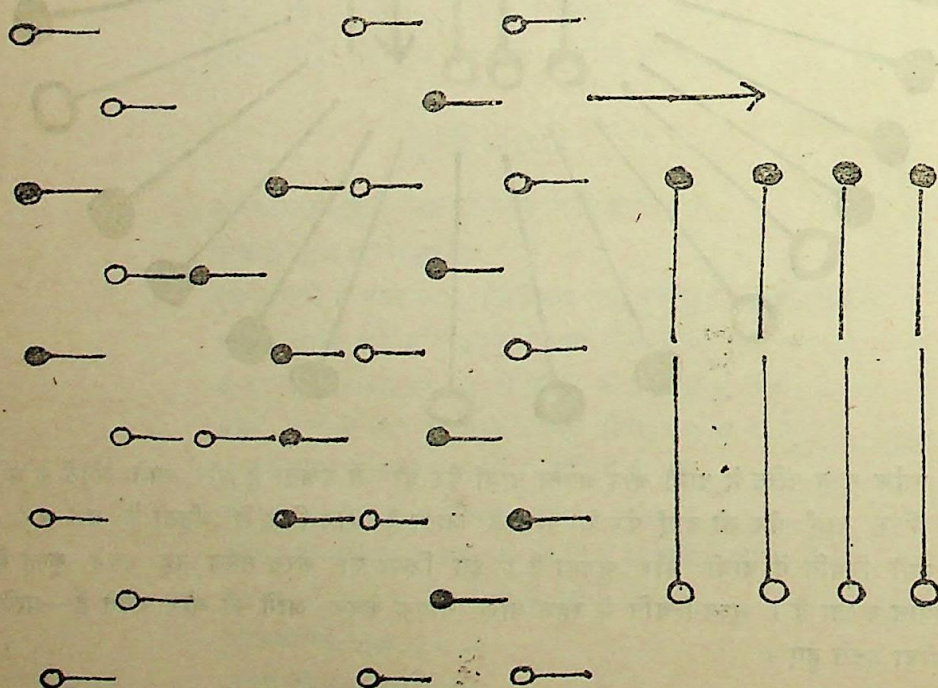
"चेलिक" तथा "मोटियारी" को इसी विधि से नाचते हुए मैंने देखा है। ये घोटुल के "रवा" (रथ्या) में अभ्यास के लिए इसी क्रम से नृत्य करते हैं।

एक तीसरे प्रकार का उत्सववर्धी नृत्य "तुड़बुड़ी" के माध्यम से होता है। युवकों की एक पंक्ति ढोल के साथ युवतियों के सामने खड़ी रहती है। युवक वेग गति तथा पूरी शक्ति के साथ "डाका" (पदचाप) भरते हुए इधर-उधर दौड़ते हैं। ये बहुत ही तीक्ष्ण सुर में ढोल बजाते हैं तथा युवतियाँ गीत गाती हैं।

माड़िया-मुरिया तथा झोरिया के इन महान् उत्सवों के समय बड़े-बड़े ढोलों को बजाते हुए युवकों की पंक्तियाँ मिलती हैं। ये अपने ढोलों को नीचे की ओर झुकाए रखते हैं तथा दाएँ हाथ के दण्ड से उसे पीटते हैं।

इस क्षेत्र में किसी भव्य जुलूस को न देखने का अर्थ है कालिदास के शब्दों में "लोचनैर्वंचितोऽसि"। यह एक हृदयावर्जक तथा अविस्मरणीय उत्सव-नृत्य होता है। यहाँ "चेलिक" तथा 'मोटियारी' के औपचारिक नृत्यों के अतिरिक्त विविध देवताओं के भी नृत्य होते हैं। "कोकटी" घोड़े भी नाच करते हैं। ये हवा में उछलते हैं। भूमि पर लुढ़कते हैं। एक दूसरे से युद्धरत होते हैं। यहाँ आपको एक ऐसा "सिरहा" दिखेगा जो अपने को दैवीशक्तियों से युक्त मानता है तथा कवच के माध्यम से विविध आघातों से अपनी रक्षा करता है। यहाँ "आँगापेन" भी होता है जो "मोटियारियों" की पंक्ति को विभाजित करने की क्रिया में दर्शकों को लोटपोट कर देगा। यहाँ ऐसे भी देवता होते हैं जो वैमनस्य के कारण एक दूसरे का पीछा करते हैं तथा जिनके भागदौड़ से दर्शक आनन्द-विभोर हो उठते हैं।

4.3. रासनृत्य

बस्तर के रासनृत्य की शैली अति प्राचीन है तथा अपनी भौगोलिक विशिष्टताओं के कारण यह आज भी जीवित है। रासनृत्य वृत्ताकार नृत्यशैली पर आधारित है। मुरिया का नृत्य संसार की प्रजनन-क्रियाओं तथा निर्माण के तत्वों को सम्पूर्णता देने की चेष्टा करता है। इस नृत्य में हाथ का परिचालन एक-दूसरे के विपरीत होता है। चाक्रिक आन्दोलन गति होती है और पदसंचालन ताण्डव के अधिक निकट होता है।

मुरिया का रासनृत्य "लिंगो" या शिव नामक आराध्य देव की रासलीला है। ये रासलीलाएँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं—

(क) हर-एन्दाना अर्थात् वीथीनृत्य
(ख) हुलकी-नृत्य
(ग) डीवाड़-एन्दाना अर्थात् दीवालीनृत्य
(घ) माँदरी-नृत्य

4.3.1. हर एन्दाना अर्थात् वीथी-नृत्य

"हार-एन्दाना" से अबुझमाड़ के नृत्य और गीत का स्मरण होता है। यह थका देने वाला अरुचिकर नृत्य है। नर्तक किसी भी प्रकार की सजावट नहीं करते। उनके कूल्हों पर घण्टियाँ नहीं होती हैं, जिनके आघात से वातावरण मधुर हो जाता है। यह धीमी गति के गायन तथा नीरस पदचाप से भरा हुआ नृत्य होता है। मुरिया इसे अपना आदिम नृत्य मानते हैं। सम्भवतः उन्होंने इसे बहुत पहले अबुझमाड़िया से सीखा होगा।

युवकों तथा युवतियों का एक बहुत बड़ा घेरा होता है, जिसमें कुछ एक दूसरे के हाथ को पकड़े रहते हैं तथा कुछ के हाथ साथी की कटि पर होते हैं। नृत्य की संरचना व्याप्ति और संकुचित मण्डल के आकार में होती है, जो धीरे-धीरे घेरे की ओर बढ़ती है। पहले वे एक दिशा में बढ़ते हैं फिर दूसरी दिशा में। नर्तक पहले आगे की ओर दो डग भरते हैं, फिर दो डग पीछे आ जाते हैं। उनकी यह क्रिया जारी रहती है। प्रत्येक बार वे थोड़ा बाएँ से दाएँ मुड़ते हैं। उनका शरीर थोड़ा-सा हिलता है और एक जोड़े हाथ हवा में लहराने लगते हैं। यहाँ समय की मात्रा के पालन का कोई प्रयास नहीं होता और न ही लय का अनुवर्तन होता। गायन भी बहुत धीमा और नीरस होता है।

"हर-एन्दाना" नृत्य विवाह-मण्डप के चतुर्दिक सम्पन्न होता है, दीवाली-यात्रा में युवक तथा युवतियों द्वारा सम्पादित होता है और खाली वक्त "घोटुलों" में किया जाता है।

"हर-नृत्य" कभी-कभी हाथ से हाथ मिलाकर नहीं किया जाता, अपितु प्रत्येक नर्तक अपना बायाँ हाथ बाजू के साथी के बाएँ कन्धे पर रख लेता है और उसका दायाँ हाथ झूलता रहता है।

इस नृत्य में सम्मिलित होने वाला प्रत्येक सदस्य गाता है। गीत का प्रारम्भ "लिंगो" के मंगलाचरण से होता है। इसमें "लिंगो", पूर्वजों तथा राजा के पराक्रमों की चर्चा होती है। यदा-कदा गायन में अर्थवत्ता की खोज कठिन होती है।

"हार-एन्दाना" की संरचना अधोलिखित क्रम में होती है—
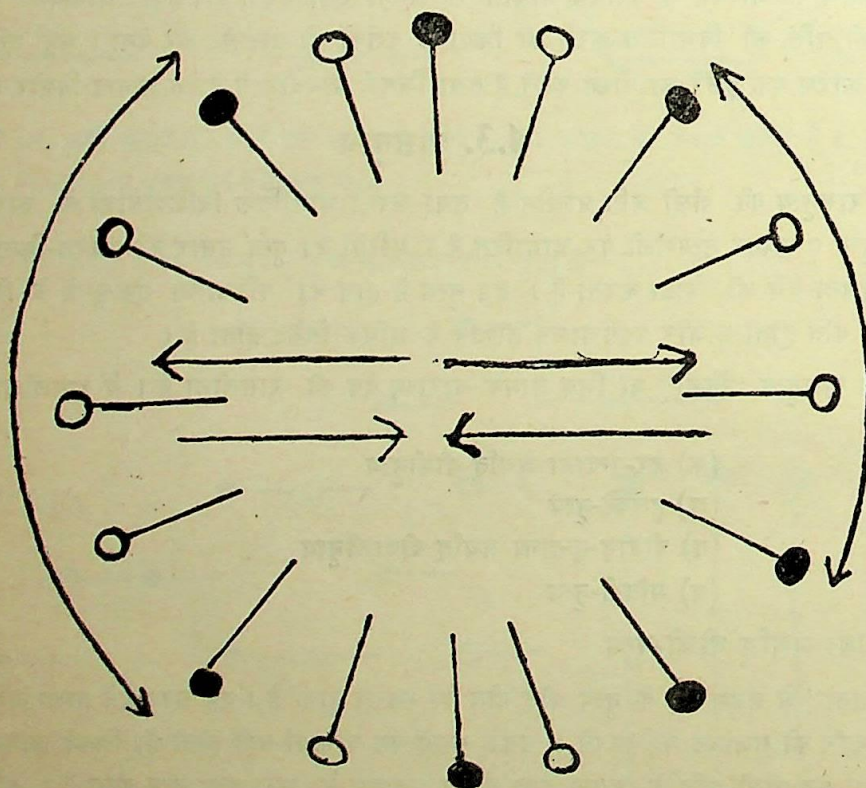
यहाँ वीथीनृत्य के तीन गीत प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

रे रे लोयो रेला रे लोयो।
रे रेला रे रे लोयो रेला रे रेला ।। घोषा ।।
चलो, बातीर मरातंग पिलांग रेहेराड़।
ई दीवान तड़युनीन साजेन दादा ।। 1 ।।
चलो, पिलांग रेहची बारा केवेरोड़।
ई दीवान तड़युनीन साजेन दादा

आयो, पिलांग रेहची पोसे केवेरोड़ ।
ई दीवान तड़युनीन साजेन दादा ॥ 4 ॥
रे रे लोयो रेला रे रेला रे लोयो ।
रे रेला रे रे लोयो रेला रे रेला ।।

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत में पक्षियों के बच्चों का वर्णन है। चूंकि गाँव के लोग विविध प्रकार के पशु-पक्षियों से परिचित हैं, एवं वन्य पशु तथा पक्षियों को पालने में शौकीन होते हैं; इसलिए प्रस्तुत गीत सन्दर्भित है।

हे साजन भैय्या, हम किस वृक्ष से पक्षी के बच्चे को उतारेंगे ।
पक्षी के बच्चे को उतार कर क्या करेंगे ॥ 1 ॥
महुए के वृक्ष से हम पक्षी के बच्चे को उतारेंगे ॥ 2 ॥
पक्षी के बच्चे को उतार कर क्या खिलाएँगे ॥ 3 ॥
पक्षी के बच्चे को उतार कर मेंढक और गिरगिट खिलाएँगे ॥ 4 ॥

हार-पाटा-क्रमांक-2

चलो, रे रे ला लोयो रे रेला रे रेला रेला रेला
रे रेलोयो रे रेला ॥ घोषा ॥
अआलेर मेले हनेराड़, आलेर मेले हनेराड़
ए मरयून आलेर मेले हनेराड़ ॥ 1 ॥
आयो, दोड़ीर बूमी हनेराड़, दोड़ीर बूमी हनेराड़
ए मरयून दोड़ीर बूमी हनेराड़ ॥ 2 ॥
चलो, हकेडाह बारांग तवेराड़, हकेडाह बारांग तवेराड़ ।
ए मरयून हकेडाह बारांग तवेराड़ ॥ 3 ॥
आयो, गुरगर पड़ेम तवेराड़, गुरगर पड़ेम तवेराड़
ए मरयून गुरगर पड़ेम तवेराड़ ॥ 4 ॥
चलो, गोटुल मुनके उरसेराड़, गोटुल मुनके उरसेराड
आयो, लयोर गुरगांग, इनेराड़; लयोर गुरगांग इनेराड़
ए मरयुन लयोर गुरगांग इनेराड़ ॥ 5 ॥

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत में यात्रा का वर्णन किया गया है। जब कोई व्यक्ति यात्रा समाप्त कर वापस आ जाता है, तो उसके पास याददाश्त की कोई वस्तु अवश्य होती है। अधोलिखित गीत में इसी भाव की अभिव्यक्ति है।

हे समधी हम यात्रा के लिए निकलेंगे ॥ 1 ॥
समधी हम पश्चिम दिशा की ओर जाएँगे ॥ 2 ॥
समधी हम वहाँ से क्या ला सकेंगे ॥ 3 ॥
समधी इस स्थान से हम सलफी का बीज लेकर आएँगे ॥ 4 ॥

समधी हम उसे घोटुल के सामने लगाएँगे ।
उस सलफी वृक्ष को लयोर गुरगांग कहेंगे ।। 5 ।।

हारपाटा क्रमांक-3

रे लोयो रे लो, रे लोयो रे रेला रा ।। घोषा ।।
चलो, ओरा वोरा मरमा दाई, ओरा बोरा मरमा रोय ।।
चलो, जोड़ा कोन्दांग जोड़े मासोर, पोर्रो बूम चले मासोम ।
डिण्डा लयान हर वितसोर ।। 1 ।।
आयो, केड़ीर आकी दोड़ी रेलो, केड़ी आकी दोड़ी रोय ।
जोड़े कोन्दांग जोड़े माखोर पोर्रो बूम चले मासोम ।
डिण्डा लयान हर वितसोर ।। 2 ।।
आयो, दोड़ीर बूमतोर बातोर हेलो, दोड़ी बूमतोर बातोर रोय
चलो, जोड़े कोदांग जोड़े मासोर पोर्रो बूम चले मासोर
डिण्डा लयान हर वितसोर ।। 3 ।।
रे लोयो रेला रेला, रे लोयो रे रेला ।।

हिन्दी-अनुवाद

लोकगीत में वैवाहिक जीवन को गाड़ी के दो पहियों के रूप में देखा गया है ।
हे माता किसका विवाह हो रहा है ।
जिस प्रकार गाड़ी चलने के लिए एक जोड़ी बैल की आवश्यकता होती है
उसी प्रकार पारिवारिक जीवन के लिए विवाह की ।। 1 ।।
बहन केले के पत्ते नीचे की ओर झुक जाते हैं
विवाह भी केले के पत्ते के समान है ।। 2 ।।
बहन विवाह करने के लिए पश्चिम दिशा से आए हैं ।। 3 ।।

4.3.2. हल्लीसक या छालिक्य अथवा हुल्की-नृत्य : युवतियों तथा युवकों का नृत्य

शारदातनय के अनुसार जो सुकुमार प्रयोग होता है, उसे "लास्य" कहा जाता है । लास्य रासक के नाम से जाना जाता है । रास का सर्व प्राचीन उल्लेख हरिवंश, विष्णु, ब्रह्मवैवर्त तथा भागवत पुराणों में मिलता है । हरिवंशपुराण में इसे "हल्लीसक" या "छालिक्य गन्धर्व" कहा गया है, तथा मुरिया-नृत्य "हुल्की" इसी का अपभ्रंश प्रतीत होता है । यह नृत्य सामूहिक रूप में गीत और वाद्य सहित एक मंडल (घेरे) में किया जाता था ।

संस्कृत-नाटकों और जैन-साहित्य में भी रास का उल्लेख मिलता है । मुनि जिनविजय के अनुसार प्रारंभ में रास या रासक ग्रंथों की रचना पढ़ने-सुनने की अपेक्षा नृत्यगान के लिए हुई थी । उस समय रास लोकनृत्य एवं लोकगीतों के रूप में साहित्य में आया था (प्रभुदयाल मीतल : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 169) ।

हरिवंशपुराण में "हल्लीसक नृत्य" का विकसित रूप भागवतपुराण में मिलता है । इसके दशम स्कन्ध के 29 से 33 तक के पाँच अध्यायों में रास का वर्णन "रासपंचाध्यायी" के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें रास और गोपियों द्वारा कृष्ण की विविध लीलाओं के अनुकरण करने का उल्लेख है ।

इस रासलीला का विस्तार उड़ीसा से बस्तर में भी हुआ। वर्तमान "हुल्की" नृत्य और ब्रज में प्रचलित रासलीला की अनेक बातों में समानता मिलती है।

हरिवंशपुराण के विष्णुपर्व में "छालिक्यक्रीड़ा"-वर्णन नामक अध्याय के अन्तर्गत "रास" और "हल्लीसक" दोनों का उल्लेख मंडली-मृत्य के रूप में मिलता है (श्लोक संख्या 7, 24, 30, 68)। दोनों के लक्षण परस्पर बहुत समान हैं और दोनों का उल्लेख "छालिक्यक्रीड़ा" के अन्तर्गत किया गया है। भोज ने भी विशेष तालबन्धयुक्त "हल्लीसक" को ही रास कहा है—

तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते

(सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० 264)।

इससे स्पष्ट है कि रास नृत्य "हल्लीसक" का ही एक भेद था। संभव है कि पहले दोनों के स्वरूप में कुछ भेद रहा हो, तो भी वह इतना नगण्य था कि आगे चलकर "हल्लीसक" और "रास" को एक ही समझा जाने लगा और दोनों का अन्तर्भाव रास के अन्तर्गत ही हो गया।

जैसे ही हम मुरियाक्षेत्र के पूर्व में बढ़ते हैं, युवतियों में "दीवाली-नृत्य" की परम्परा शिथिल हो जाती है। ऐसा इसलिए कि "दीवाली-नृत्य" का "पूस-कोलांग" के ही साथ अवसान हो जाता है। यह भिन्न बात है कि कोण्डागांव के सुरमा जैसे अलग-थलग गाँव में वह अब तक अवशिष्ट है। जहाँ यह मृतप्राय है, उसका स्थान "हुल्की" ने ले लिया है। जिस प्रकार से "पूस-कोलांग" का स्थान "चैत-दाँदर" ने ले लिया है, उसी प्रकार "दीवाली-नृत्य" का स्थान "हुलकी नृत्य" ने ले लिया है, जिसमें युवतियाँ ही नहीं युवक भी नृत्ययात्रा में जाते हैं। यदा-कदा "हुलकी"-यात्राएँ सामान्य रूप से होती हैं तथा युवक और युवतियाँ एक सप्ताह के लिए बाहर जाती हैं। कभी-कभी वे बाहर के गाँव में एक दिन के लिए जाते हैं तथा रात्रि में अपने गाँव वापस आ जाते हैं। इस नृत्य के लिए कोई खास पोशाक या अलंकरण नहीं होता। केवल इतना कि युवक अपने साथ मौजूद सारे वस्त्र पहिनते हैं तथा युवतियाँ सारे आभूषण।

यात्रा आरम्भ करने से पूर्व नर्तक वे ही संस्कार करते हैं, जो अब तक अन्य नृत्यों में जाने से पूर्व करते हैं। मुँदरी की एक रेखा बना दी जाती है और गायक नर्तकदल के सुरक्षित वापस आ जाने की मनौती माँगता है। "गाइन" नामक नृत्यदल का मुखिया भी प्रार्थना करता है—"हमारे नृत्य और गीत सुमधुर हों। लय कालबद्ध हो। स्वर विकृत न हों। अभिचार हमारा अहित न करें। अरजटा-परजटा का हम पर आक्रमण न हो। भूत, मसान, चुड़ैलिन, मिरचुक, मटिया आदि देवयोनियों के प्रकोप से हम बचे रहें। यात्रा करने वाले गाँवों के देवता हम से रुष्ट न हों।"

यात्रादल सामान्यतौर पर नृत्य करता है तथा प्रत्येक घर से भोजन और मदिरा जुटाता है। उसके इस कार्य में उस गाँव के युवक तथा युवतियाँ उसके सहायक होती हैं। आथितेय एक पंक्ति में नाचते हैं तथा अतिथि दूसरी पंक्ति में। भण्डारसिवनी में वे "लिंगो" के सम्मान में गीत गाते हैं।

प्रायः दो "घोटुलो" के सदस्य एक साथ नृत्य करते हैं। वास्तविक नृत्य जिसे "हुलकी" या "कोकटी" कहा जाता है, एक प्रकार की सर्पाकार शोभायात्रा है जिसमें युवक तथा युवतियाँ एक दूसरे की भुजाओं पर परिरंभण करते हैं तथा हँसीमजाक के साथ एक लयात्मक स्थिति में रहते हैं। यह क्षिप्रतापूर्ण परिहासप्रधान नृत्य है, देखने में सुखद और कामोत्तेजक।

एक ही ओर मुंह करके युवक तथा युवतियाँ एक लम्बी पंक्ति बना लेते हैं। दाहिनी भुजा दाएँ पड़ोसी के कूल्हे में रखते हैं तथा बायाँ हाथ बाएँ पड़ोसी की दाहिनी भुजा पर रखते हैं तथा नृत्य प्रथमतः युवक प्रारंभ करते हैं। युवतियाँ युवकों की भुजाओं के बीच शिर डाल कर खोज-बीन की मुद्रा में रहती हैं।

पंक्ति बगल से क्षिप्र पदचालन के साथ बहुत ही सादगी से दाएँ या बाएँ मुड़ती है। नर्तकों के पदचाप बहुत ही सधे हुए होते हैं तथा एक साथ सभी टाँगें सामने आ जाती हैं। पंक्ति "जै केंवरा जै मोंगरा" की ध्वनि के साथ विपरीत दिशा की ओर मुड़ती है।

"हुलकी-नृत्य" तथा गीतों में आपस में कोई सामंजस्य नहीं होता। पहले घोषा की पंक्तियाँ—"सिलीप रेले रोले रोले"—आदि होती हैं तथा गीत का अवसान होता है—अरे तिना नामुर नना रे"—आदि पंक्तियों से।

हुलकी पाटा-1

तेना नामुर नाना नामुर,
नाना तेना नामुर, नाना नाना नामुर नाना। 1।
दसरा नेलेंज ताह्चीर बारांग रोले मासोर।
दसरा नेलेंज ताह्चीर राजाल रोले मासोर। 2।
तेना नामुर नाना नामुर
नाना तेना नामुर, नाना नाना नामुर नाना। 3।
डिवाड़ नेलेंज तोह्चीर बारांग रोले मासोर
डिवाड़ नेलेंज ताह्चीर, लयास्क ले मासोर। 4।
तेना नामुर नाना नामुर
नाना तेना नामुर, नाना नाना नामुर नाना। 5।
पूस नेलेंज तोह्चीर, बारांग रोले मासोर
पूस नेलेंज तोह्चीर, लयोर रोले मासोर। 6।
तेना नामुर नाना नामुर नाना
तेना नामुर नाना नाना नामुर नाना। 6।

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत हुलकी पाटा के नाम से संबोधित होता है। इसे हुलकी-नृत्य के समय युवक-युवतियाँ अलग-अलग टोलियों में गाती हैं। उपर्युक्तपंक्तियों से ज्ञात होता है कि लोकगीत में प्रत्येक माह के अन्तर्गत आने वाले तीज-त्योहारों का वर्णन किया गया है। प्रथम पंक्ति में प्रश्न पूछा गया है तथा द्वितीय पंक्ति में उसका प्रत्युत्तर है।

स्वरालाप................................ .... । 1 ।

उक्त पंक्ति में युवक प्रश्न पूछते हैं—

कुँवार मास के आते ही कौन खुश होते हैं
(अर्थात् इस मास के अन्तर्गत कौन-सा पर्व होता है।)

द्वितीय पंक्ति में प्रत्युत्तर है—

कुँवार मास के आते ही राजा खुश होता है।

छायाचित्र क्र० ·5. चीतल·बारहसिंगा के शृंगालंकरण से सुसज्जित कोण्टा तहसील का दोर्ला-माड़िया

चूँकि इस मास में दशहरा का पर्व मनाया जाता है जो राजा का प्रमुख त्यौहार है। इस पर्व के उपलक्ष में राजा को रथ पर बैठने का अवसर प्राप्त होता है एवं राजा जनता से मुलाकात कर अपने आपको आह्लादित महसूस करता है। 2।

युवक—कार्तिक मास के आते ही कौन खुश होता है
(कौन सा पर्व आता है)

कार्तिक मास की पूर्णिमा के समय गोंड़ युवतियाँ एक सप्ताह के लिए "डिवाड़एन्दाना" में बाहर जाती हैं, अतएव वे खुश होती है। 4।

युवक—पूस मास के आते ही कौन खुश होता है
(अर्थात् पौष मास के आते ही कौन-सा पर्व आता है)। 5।

प्रत्युत्तर—पौषमास के आते ही युवक खुश होते हैं
चूंकि इस मास के अन्तर्गत डंडा नाच व छेरछेरा पर्व मनाया जाता है। 6।

हुलकी पाटा-2

तैना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना रे हाँ
तैना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना। 1।
गुप सुरसुर मिरी मरा बारांग गुरीलात रे हाँ
गुप सुरसुर मिरी मरा टिराल गुरीलात। 2।
गुप सुर सुर मिरी मरा टिराल गुरी लात रेहो
गुप सुर सुर मरा टिराल गुरी लात। 2।
गुरा लड़ियो टिरादी, मिरी बने मावा रेहो
गुरा वड़ियो टिरदी, मिरा बने मावा। 4।
गुप सुर सुर बलेक मरा बारांग गुरी लात रेहो।
गुप सुर सुर बलेक मरा बारांग गुरी लात। 5।
गुप सुर सुर बलेक काकाड़ गुरी लात रहो
गुप सुर सुर बलेक मरा, काकाड़ गुरी लात। 6।
गुरा लड़ियो काकाड़ ती बलेक बने माता रहो।
गुरा लड़ियो काकाड़ ती बलेक बने माता। 6।
तेना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना रे हो।
तेना नामुर नाना नारे, नाना नामुर नाना। 8।

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत में विविध पक्षियों और वृक्षों का वर्णन है।

युवक—जो मिर्च का पौधा है, वह पत्तों से ढका है उस पौधे में बैठ कर कौन-सा पक्षी बोलता है। 2।

प्रत्युत्तर—पत्तों से ढके हुए मिर्च के पौधे में लिटी नामक पक्षी बैठ कर बोलती है। 3।

लिटी के प्रति—तुम सभी प्रकार सम्पन्न हो एवं मिर्च जैसे पौधे में बैठकर बोल सकती हो, यह जो मिर्च का पौधा है, तुम्हारे लिए ही है। 4।

युवक—सेलम का वृक्ष पत्तों से ढका हुआ है व उस वृक्ष में कौन-सा पक्षी बैठा हुआ है । 5 ।
प्रत्युत्तर—पत्तों से ढके हुए सेमल के वृक्ष में कौआ बैठ कर बोलता है । 6 ।
कौए के प्रति—कौआ सभी प्रकार से सम्पन्न है । 6 ।
अर्थात् सेमल-जैसे वृक्ष कौओ के लिए ही हैं ।

हुलकी पाटा (लेंगना) पाटा-3

तैंना नामुर नाना लयोर, नाना नामुर नाना ओ ।
तैंना नामुर नाना लयोर, नाना नामुर नाना । 1 ।
पहलीर पाटा बोना लयोर, पहलीर पाटा बोनाओ ।
पहलीर पाटा बोना लयोर, पहलीर पाटा बोना । 2 ।
लिंगोना आयो बोना लयोर, पहलीर पाटा बोना
मरिया पाटा बोना लयोर, मरिया पाटा बोना ओ । 3 ।
लयोरा आयो बोरा लयोर, लयोरा आयो बोरा वो ।
लयोरा आयो बोरा लयोर, लयोरा आयो बोरा । 4 ।
अठरा बाजांग लिंगोन लयोर, बारा बाजांग राजान वो ।
अठरा बाजांग लिंगोन लयोर, बारा बाजांग राजान । 5 ।
लिंगो तिचाल पूजा लयोर, राजाल तिंदवाल वोझा वो । 6 ।
रुम मरा सरंगीड़ लयोर, इमरु मरा सरंगीड़ वो ।
नन्नी तेने पराय लयोर, इरुम मरा सरंगीड़ । 6 ।
नन्नी तेने पराय लयोर, कादेन इचो सिड़ंगो
हट्टा तेने डोली लयोर, मुंडा तेने कुहुर वो । 8 ।
इल्वी तेने उलूड़ लयोर, मासो टेने जीका वो ।
इल्वी तेने उलूड़ लयोर, मासो टेने जीका । 9 ।
बिड़सी पाटा ओतोम बाई, बिड़सी डाका ओतोम ।
लिंगोन वेहले पाटा बाई, लिंगोन वेहला डाका वो । 10 ।
लिंगोन वेहले पाटा बाई, लिंगोन वेहला डाका ।
बिड़सी कोऊमा कितोम बाई, बिड़सी कोयमा कितोम बाई । 11 ।
बिड़सी कोयमा कितोम बाई, बिड़सी कोयमा कितोम ।
कोयमा गड्दा पोलोय बाई, कोयमा गढ दा पोलोम बाई वो । 12 ।
कोयमा गढ या पोलोय बाई, कोयमा गढ दा पोलोम ।
बोरे सूडी करवाड़ बाई, बोरे कुंजाड़ पायवाड़ वो । 13 ।
बोरे सुडी करवाड़ बाई, बोरे कुजाड़ पायवाड़
लिंगोन जोहार लागी लयोर, मुच्चा जोहार लागी वो । 14 ।
लिंगोन जोहार लागी लयोर, मुच्चा जोहार लागी ।
लयोन जोहार लागी बाई, लयोन जोहार लागी वो । 15 ।
लयोन जोहार लागी बाई,

करने लयोर लेंगीट गाई, करने लयास्क लेंगीट वो ।
करने लयोर लंटी लेंगीट, करने लयास्क लेंगीट । 16 ।
तैना नामुर नाना लयोर, नानानामुर नाना वो ।
तैरा नामुर लयोर, नाना नामुर नाना । 17 ।

हिन्दी अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत हुलकी-पाटा का अन्तिम गीत है; अतएव इसे "लेंगता-पाटा" या विसर्जन गीत भी कह सकते हैं । उक्त लोकगीत में गोंड़ों के प्रमुख आराध्य "लिंगो" देवता का वर्णन है ।

तेना नामुर .... नामुर नाना
स्वरालाप .... । 1 ।
पहलीर पाटा .... आया बोना ।।

प्रथम पंक्ति में युवक पूछते हैं—हे युवकगण, प्रथम गीत किसका है ? अर्थात् सर्वप्रथम किसने गाना गाया । इनके उत्तर में द्वितीय पंक्ति में युवक कहते हैं—प्रथम गीत "लिंगो" देवता का है अर्थात् गोंड़ी-गीतों को प्रारंभ करने का श्रेय लिंगो देवता को है ।

मरिया पाटा .... लयोरा आयो गोरा ।।

प्रथम पंक्ति में युवक कहते हैं—मध्य का गीत किसका है, अर्थात् प्रथम लिंगो देवता के पश्चात् गाने में किसका स्थान है । द्वितीय पंक्ति में युवक कहते हैं मध्य का गीत युवकों का है, अर्थात् "लिंगो" देवता के पश्चात् गोंड़ी गीतों में द्वितीय स्थान युवकों का है ।

अठरा बाजांग .... तिवार ओझा

उपर्युक्त पंक्तियों में "लिंगो" देवता और राजा का उल्लेख है । प्रथम पंक्ति में युवक कहते हैं कि 18 प्रकार के बाजाओं का वर्णन "लिंगो" के लिए किया गया है और 12 प्रकार के बाजाओं का वर्णन राजा के लिए किया गया है । अर्थात् नृत्य के समय लिंगो 18 प्रकार के बाजाओं के साथ नृत्य करता है । "लिंगो" का भोजन बलि है तथा राजा का भोजन कर । "लिंगो" देवता बलि लेता है, राजा जनता से कर लेता है ।

हरुम मरा .... सरंगीड

उक्त पंक्ति में "लिंगो" देवता के साहस का वर्णन है । कहते हैं—महुए का जो झाड़ है, वह "लिंगो" देवता के लिए सरगड़ है

नन्ही तेने .... कुडुरका ।

ऊपर की पंक्तियों में विभिन्न प्रकार के बाजाओं का उल्लेख किया गया है । युवक कहते हैं—कमर में माँदर, पैर में पयड़ी, ओंठ में बाँसुरी, नाक में जीका, कंधों में पालकी, घुटने में कुडुरका नामक बाजाओं को धारण कर लिंगो नृत्य करता है ।

बिड़सी .... लोताम

युवक कहते हैं; युवतियो हमने तुमसे बढ़ कर गाना गाया व नृत्य किया ।

लिंगोन .... वेहले डाका ।

युवक कहते हैं, गीत और नृत्य दोनों को ही हमने लिंगो देवता से सीखा है ।

बिड़सी कोयमा .... गढ का पोलोय

युवक कहते हैं—हम लोगों ने बहुत हँसी-मजाक किया तथा यह हँसी-मजाक कोयमागढ नामक स्थान में हुई

बोरे सूड़ी ………………… बोरे कुंजाड पायवाड़

हम न तो चूड़ी ही पहनते हैं और न जूड़ा ही बाँधते हैं। अर्थात् हम लड़कियाँ नहीं, सब लड़के हैं।

लिंगोन जोहार ……………… जोहार लागी

लिंगो देवता को नमस्कार पहुँचे

लयोन बोहार ………………लयान जोहार लागी।

युवक और युवतियों को नमस्कार पहुँचे

करने ………………… लयास्क लेंगीटा

अब नाच गाना बंद किया जावे तथा लड़के-लड़कियाँ नृत्य से बिसर्जन करें अर्थात् नाचगाने का उपक्रम बंद किया जावे।

हुलकी पाटा-4

तैंना नामुर नाना रे नाना नामुर नाना रे हो।
तैंना नामुर नाना रे नाना नामुर नाना रे हो। घोषा।
लय्यास्क लय्योर जुहे माँदुर, वारांग बिचार केंदुर।
लय्यास्क लय्योर जुहे माँदुर, वारांग बिचार केंदुर। 1।
बोद मट्टा ते दाकड़ लय्योर, बोद मट्टा ते हन्वाड़।
बोद मट्टा ते दाकड़ लय्योर, बोद मट्टा ते हन्वाड़। 2।
टेका-डोडा कोंगल मट्टा, हव्वार चल्ले माँदुर।
टेका डोडा कोंगल, हव्वार चल्ले माँदुर। 3।
उन्दीय कोण्डातोर कोसा लय्योर, ओरे मोल्लोल ओहदूर।
उन्दीय कोण्डातोर कोसा लय्योर, ओरे मोल्लोल ओहदूर। 4।
हव्वार मंदूर नेताम, लयोर, नइदुनचुचाह केंदूर।
हव्वार मंदूर नेताम लयोर, नइदुन चुचाह केंदूर। 5।
हव्वार मंदूर दर्रो लयोर, दर्दरा आनहक हींदूर।
हव्वार मंदूर दर्रो लयोर, दर्दरा आनहक हींदूर। 6।
हव्वार मंदूर पट्टाव लयोर, पट्ने अन्नाहक हींदूर।
हव्वार मंदूर पट्टाव लयोर, पट्ने अन्नाहक हींदूर। 7।

हिन्दी अनुवाद

आखेट पर आधारित युवक-युवतियों का सामूहिक गीत।

मोटियारी-चेलिक एकत्र हुए, क्या विचार किया। 1।
किस पहाड़ में जायँगे चेलिक, किस पहाड़ में नहीं जाएँगे। 2।
नाला और पहाड़ के आगे वे चलते गए। 3।
एक आँख वाले एक चेलिक ने वहाँ खरगोश देखा। 4।

उसके आगे नेताम नाम का लड़का कुत्ते को भगा रहा था । 5 ।
उसके आगे था दर्री नाम का चेलिक जिसने खरगोश को खून से लथपथ कर दिया ।6।
आगे पहावी लड़के ने खरगोश की बोटी काट डाली । 7 ।

4.3.3. डीवाड़-एन्दाना अर्थात् दीवाली नृत्य : युवतियों का नृत्य

मुरिया-समाज में रोमाण्टिक अभियान के निमित्त अपने युवकों तथा युवतियों को जो अवसर प्रदान किए हैं, उनमें युवतियों का "दीवाली-नृत्य" सर्वाधिक उद्दीपनकारक है । "डीवाड़" या "दीवाली" शब्द से यहाँ केवल एक विशिष्ट तिथि का संकेत मिलता है; यह बहु प्रचलित दीवाली पर्व से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है । मुरिया-समाज में "दीवाड़-नृत्य" अक्टूबर-नवम्बर के महीनों में आयोजित होता है ।

इस अवसर पर "मोटियारी" एक गाँव से दूसरे गाँव गीत गाती हुई तथा नाचती हुई पहुँचती हैं । कोण्डागाँव से जगदलपुर के प्रमुख राजमार्ग के पूर्व में "दीवाली-नृत्य" कुछ ही गाँवों में आयोजित होते हैं तथा कोण्डागाँव के दक्षिण में लोगों को यह अज्ञात है । यहाँ युवक तथा युवतियाँ "हुलकी-नृत्य" के लिए साथ-साथ जाती हैं ।

कभी-कभी किसी "स्कैण्डल" या आभिचारिक खतरों के कारण भी "दीवाड़-नृत्य" की वर्जना मिलती है। तालबेड़ा की युवतियाँ आभिचारिक शक्तियों के भय के कारण "दीवाड़-नृत्य" में नहीं जातीं ।

इन साहसिक अभियानों के मूल में न तो कोई विशेष धार्मिक लक्ष्य होता और न ही आभिचारिक। यह अभियान केवल आनन्द तथा कामुक साहस के निमित्त होता है। इसमें "बेलोसा" के नेतृत्व में केवल युवतियाँ ही नृत्य के लिए जाती हैं । जब ये किसी गाँव की यात्रा करती हैं, तो इनके स्वागत-सत्कार के लिए केवल वहाँ के युवक ही उपस्थित रह सकते हैं। यात्रा करने वाली युवतियाँ सर्वप्रथम "गायता" के घर के सामने नृत्य करती हैं। तदनन्तर गाँव के प्रत्येक घर में नाचती हुई "घोटुल" में डेरा डालती हैं। स्थानीय युवक इनके लिए भोजन की व्यवस्था करने के साथ इनका मनोरंजन करते हैं । सायंकाल यात्रा करने वाली युवतियाँ तथा स्थानीय गाँव के युवक एक साथ नृत्य करते हैं व विविध कामकेलियाँ करते हैं। उनका यह नृत्य रात्रि भर चलता रहता है । इस अवधि में प्रत्येक यात्री युवती क्षण भर के लिए स्थानीय युवक के साथ जंगल की ओर जाती है । अति लावण्यवती युवतियों को विविध युवकों के साथ अनेकशः जंगल की ओर क्षण भर के लिए जाना पड़ता है। सायंकाल केलिक्रीड़ा का काल है, जिसमें स्थानीय चेलिक अपनी प्रियतमाओं से उन्मुक्त विलास करते हैं । मर्काबेड़ा के युवक का कथन है कि वह अपनी वर्तमान पत्नी से पहले प्रणयिनी के रूप में तीन बार आरण्यक सहवास किया था ।

"घोटुल" में बहुत दिनों की चर्चा के पश्चात् युवतियों के "दीवाली-नृत्य" का कार्यक्रम निश्चित होता है। कुछ युवतियों के मन में कतिपय निश्चित गाँवों की यात्रा का भाव होता है; क्योंकि पिछली यात्रा में वे वहाँ प्रणय-सूत्र में बँधी थीं । कुछ किसी विशेष गाँव के ढोलवादक तथा गायक की स्मृति में खो जाती हैं। गाँवों के चेलिक "मोटियारी" के आवभगत तथा सुस्वादु भोजन की चिन्ता में रहते हैं । "मोटियारी" भी उन गाँवों की याद करती हैं, जहाँ उन्हें सुस्वादु भोजन मिला था । युवतियों की स्मृतियाँ तरह-तरह की होती हैं। उन्हें यात्रा किए जाने वाले गाँव के गोत्रों पर भी विचार करना पड़ता है तथा गोत्रभूमि पर भी विचार-विमर्श करना होता है। अन्त में आम सहमति से कार्यक्रम निश्चित हो जाता है । युवतियों को सात गाँवों की यात्रा करनी होती है तथा आठवें दिन उन्हें वापस गाँव लौटना पड़ता है ।

यात्रा के शुभारम्भ के दिन प्रातःकाल युवतियाँ "गाँवदेई" के मन्दिर में जाती हैं, जहाँ "गायता" धूप और नैवेद्य चढ़ाता है और युवतियों की सकुशल वापसी पर अन्न की बलि देने की प्रतिश्रुति करता है। युवतियों की

सरदारनी अपने कन्धे पर अलंकृत 'टँगेया' रखती है तथा "गाँवदेई" के मन्दिर में "बेंठ" से आग प्रज्वलित करती है। सम्पूर्ण यात्रा की अवधि में यह आग नहीं बुझनी चाहिए। "टँगेया" और "अग्नि" रखने वाली युवतियों को अन्य युवतियाँ इसलिए संस्पर्श नहीं करतीं कि इन्हें "गाँवदेई" का प्रतिरूप माना जाता है। "गायता" गाँव की सीमा तक यात्रादल को ले जाकर सीमोल्लंघन का संस्कार करता है। युवतियाँ सीमोल्लंघन करके विना पीछे देखे आगे बढ़ जाती हैं।

अपनी यात्रा के कार्यक्रम के अनुसार ये पूर्व निर्धारित गाँव पहुँचती हैं। सर्वप्रथम "गायता" के घर जाती हुई एक वृक्ष के नीचे अपनी सामग्री रखती हैं। तदनन्तर नृत्य में मग्न हो जाती हैं।

"दीवाड़-नृत्य" की विविध शैलियाँ होती हैं। प्रथम मन्दगति वाला एक नीरस नृत्य है जो वलयाकार होता है तथा जिसमें हस्तताल के साथ "रेलो" गीत चलते हैं। द्वितीय प्रकार के नृत्य में युवतियाँ अपने को दो पंक्तियों में विभाजित कर लेती हैं और वलयाकृति में चार कदम आगे की ओर बढ़ती हैं तथा दो कदम पीछे जाती हैं। पुनः चार कदम दायीं ओर जाती हैं।

सिधवण्ड में युवतियाँ दो पंक्तियों में एक-दूसरे का सामना करते हुए नाचती हैं। प्रत्येक युवती का बायाँ हाथ उसकी पड़ोसी लड़की के कन्धे पर होता है और उसका दायाँ हाथ सीधे नीचे की ओर लटकता रहता है। ये दो कदम दाएँ, फिर दाएँ, फिर बाएँ, फिर दाएँ रखती हुई बाएँ पैर को धरती के साथ फिसलाती हुई चलती हैं—

ठाकुर घर कोन आय रे भाई राम। 1।
जोड़ा कुकुर भूके रे भाई राम ॥
तेही ठाकुर घर रे भाई राम। 2।
ठाकुर बेटा कोन आय भाई राम।
जोड़ा करधन पहिरे रे भाई राम।
तेही ठाकुर बेटा रे भाई राम। 3।
ठाकुर बोहारी कोन आय रे भाई राम
जोड़ा सूता पहिरे रे भाई राम।
तेही ठाकुर बोहारी रे भाई राम। 4।

(छत्तीसगढ़ी)

अनुवाद

भाइयो, ठाकुर का घर कौन है। 1।
जहाँ एक जोड़ा कुत्ते भूक रहे हैं।
वही ठाकुर का घर है। 2।
ठाकुर का बेटा कौन है भाइयो ?
जो एक जोड़ी करधन पहिने है भाइयो
वही ठाकुर का पुत्र है। 3।
ठाकुर-बहू कौन है भाइयो
जो एक जोड़ी सूता पहिने है
वही ठाकुर की बहू है भाइयो। 4।

एक भीड़ इसी समय जमा हो जाती है। उसे नृत्य को देखने की उतनी उतावली नहीं है, जितनी यह जानने की कि नृत्य में कौन-कौन युवतियाँ भाग ले रही हैं। स्थानीय "चेलिकों" में इस समय बहुत अधिक उत्तेजना फैल जाती है तथा वे तुमुल कोलाहल के साथ इधर-उधर व्यवस्था करने में लग जाते हैं। वे अपने घोटुल की "मोटि-यारी" को घोटुल की सफाई करने के लिए भेजते हैं और जब "घोटुल" की सफाई हो जाती है तो स्थानीय युवतियों को "घोटुलों" में नहीं जाने दिया जाता। उनकी "मोटियारी" भी दो दिनों के लिए बाहर जाने का कार्यक्रम बना लेती हैं, जिससे नई "मोटियारी" से मिलने में स्थानीय "चेलिकों" को कोई संकोच न हो।

मर्कावेड़ा में जब युवतियाँ रेमावण्ड से आईं, तो रेमावण्ड के "चेलिकों" ने गाँव से चावल, दाल तथा नमक का संग्रह किया था तथा उसे "गायता" के घर के पास पकाया था। जब युवतियों का गायन समाप्त हुआ तो उन्होंने "घोटुल" में पड़ाव डाला था। उनमें से कुछ शीघ्र ही यात्राजन्य थकावट के कारण सो गयीं। जब भोजन तैयार हुआ तो युवक भोजन "घोटुल" में ले आए तथा पत्तल में सभी युवतियों को भोजन कराया। वहाँ लगभग एक दर्जन यात्री युवतियाँ थीं तथा सत्कार करने वाले "चेलिक" दर्जनों की संख्या में थे।

व्यालू के बाद "घोटुल" की "रथ्या" (रचा) में आग जलायी गयी तो कुछ युवतियाँ नृत्य करने लगीं। उनके साथ स्थानीय युवकों की भी एक पंक्ति थी। यह नृत्य बहुत ही मन्द गति का एक नीरस नृत्य था। वृद्धजनों में से कोई भी नृत्य देखने नहीं आया। यह घड़ी भर का समय केवल युवकों के लिए ही सुरक्षित था। अब तक युवतियाँ नृत्य से क्लान्त हो चुकी थीं। इसलिए कुछ क्षण के पश्चात् आग के पास अर्द्धगोलाकार बैठ गयीं। उन्हीं के सामने अर्द्धगोलाकृति में स्थानीय युवक बैठे थे। दोनों ही वर्ग आपस में बहुत ही सौजन्य के साथ बातचीत करने लगे। युवतियाँ प्रत्येक युवक से उसका "गोत्र" पूछ रहीं थी और युवक भी युवतियों के गोत्र की सूचना प्राप्त कर रहे थे। और गोत्रनाम पूछना यहाँ साभिप्राय था, जो बाद में आकर्षण तथा सम्भोगसूत्र में बँधने का कारण बना। दोनों ही वर्ग एक-दूसरे के घर का नाम, घोटुल की उपाधि पूछते हैं। इसी के साथ प्रणययाचना का सुअवसर उपस्थित हो जाता है—

री री लोयो री री लोयो
रीला री री लोयो ॥ घोष ॥
जय जोति-पुंगार गो याया
जय जोति-पुंगार गो याया ॥1॥
पुंगार मिहचिन दाकान गो याया
पुंगार मिहचिन दाकन गो याया ॥2॥
निम्मा रीसे हन्मा नूनी
निम्मा रीसे हन्मा नूनी ॥3॥
बोना सुदा दाकीन गो नूनी,
बोना सुदा दाकीन गो नूनी ॥4॥
मामन मर्री मन्तोर गो याया, मन्तुर गो याया,
मामन मर्री मन्तोर गो याया, मन्तुर गो याया ॥5॥
ओना सुदा दाकान गो याया, ओना सुदा दाकान
ओना सुदा दाकान गो याया, ओना सुदा दाकान ॥6॥

निम्मा रीसे हन्मा नूनी
काया कोमका दोसनूर, नूनी दोसनूर ॥6॥
दोसवाल इच्चो आया दोसिर
हन्वा लेवा तासोन गो याया ॥8॥
ऊवा जिट्टींग आवर गो याया
आवर डेयसी वायका आया, आवर डेयसी वायका गो याया ॥9॥

हिन्दी-अनुवाद

हे माँ, जय हो ज्योति-पुष्प की
जय हो ज्योति-पुष्प की ॥1॥
पुष्प तोड़कर जाएँगे माँ
हम पुष्प तोड़कर जाएँगी ॥2॥
तू नृत्य के लिए मत जा, लवण्यवती
तू नृत्य के लिए मत जा ॥3॥
किसके साथ जावोगी, लावण्यवती
किसके साथ जावोगी ॥4॥
मामा का पुत्र है हे माता, हे माता
मामा का पुत्र है ॥5॥
उसके साथ मैं जाऊँगी माता, उसके साथ जाऊँगी
उसके साथ मैं जाऊँगी ॥6॥
तू नृत्य के लिए मत जा, लावण्यवती
कच्ची हल्दी डालेंगे, लावण्यवती लगाएँगे ॥7॥
हल्दी लगाने वाले को लगाने दे माता
मैं तो बिना गए न मानूँगी माता ॥8॥
खड़ी हुई झाटियों की बाड़ी है मार्ग में, माँ
बाड़ी को कूदकर जाऊँगी, माता
बाड़ी को कूदकर जाऊँगी, माता ॥9॥

नृत्य में सचमुच समय-समय पर युवतियाँ कूद कर "घोटुल" में सोने के लिए चली जाती हैं, किन्तु युवक उतनी ही तेजी से कूद कर उन्हें पकड़ लाते है। नृत्य रात्रि भर चलता रहता है और उसी के बीच आमोदप्रमोदयुक्त बातचीत। एक युवक बीच में एक युवती का हाथ पकड़ कर उसे खेत की ओर ले जाता है। इस पर किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं होता। हाँ, उनके लौटने पर थोड़ा हँसी का फव्वारा छूटता है। युवतियाँ बारी-बारी से सोती भी रहती हैं।

प्रातःकाल युवतियाँ "गायता" के घर के सामने गाती हैं और युवक टोकनियाँ लेकर घर-घर मे चावल आदि भोज्य सामग्री का संचय करते हैं। वे पड़ाव के अन्तिम दिन अपना भोजन गाँव से दूर किसी नदी के किनारे करती हैं। अगले गाँव में पुनः वही संस्कार होता है और अन्त में आठवें दिन युवतियाँ अपने गाँव वापस पहुँच जाती हैं। गाँव लौटने पर युवतियों का शुद्धीकरण (बोहरानी)-संस्कार होता है।

4. 3. 4. माँदरी-नृत्य और विवाह गीत

अब मैं यहाँ ऐसे नृत्यों की चर्चा कर रहा हूँ, जिनमें "माँदरी" नामक ढोल का उपयोग होता है; फिर चाहे ढोल लकड़ी का बना हो या मृत्पिण्ड का; चाहे वह "पराई" ढोल हो या लकड़ी का "टुँडरा"। ये नृत्य प्रायः शासकीय अधिकारियों के निमित्त आयोजित होते हैं।

"माँदरी"–नृत्य के लिए कोई विशेष 'यूनीफार्म' नहीं है। यदा-कदा बालक लकड़ी की रंग-बिरंगी कुल्हाड़ी अपने कन्धों पर रखते हैं। लड़के और लड़कियाँ दोनों ही अपने चेहरों को श्वेत बिन्दुओं से सजाते हैं, चाहे वे रेखा के रूप में हों या तारक चिह्नों के रूप में। इनके बीच एक लड़का ऐसा अवश्य होता है, जो मयूर-परिधान या कौड़ी लगी हुई "जाकिट" पहने रहता है। नृत्य का समूचा आकर्षण लड़कों के लिए होता है, लड़कियाँ "रेलो" से गाती हुई दूसरे छोर पर खड़ी रहती हैं।

"माँदरी" नृत्य के पादाभिनय में विविधता मिलती है। मैं यहाँ कतिपय पादाभिनयों का उल्लेख कर रहा हूँ।

नृत्य के प्रारम्भ में सदैव प्रस्तावना या मंगलाचरण होता है, फिर चाहे वह नृत्य विवाहमण्डप के पास "चेलिकों" के द्वारा लकड़ी ले जाते समय का हो या गाँव में वर की अगवानी के अवसर पर हो या "लागिर" समारोह में दूल्हा-दुलहिन की सहयात्रा के क्षण हो। इस प्रस्तावना की संरचना बहुत सरल होती है।

लड़कियों की दो पंक्तियों के सम्मुख लड़के दुहरी पंक्ति बनाते हैं—
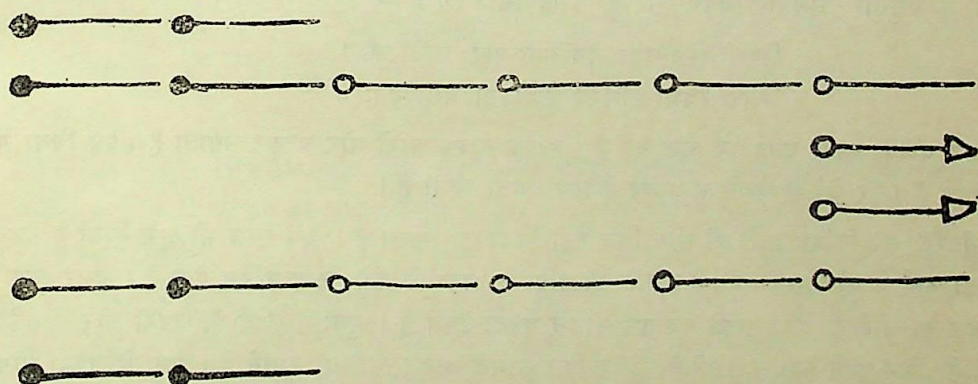
यह जनयात्रा कुछ कदम आगे बढ़ती है, कुछ क्षण विश्राम करती है और पुनः आगे बढ़ती है। यदा-कदा यह हड़बड़ी के साथ आगे बढ़ती है, रुकती है और मण्डलाकार घूमती है और पुनः हड़बड़ी के साथ पीछे की ओर लौटती है और फिर आगे बढ़ती है। जब ये अपने गन्तव्य तक पहुँच जाते हैं तो ये भूमि पर नतमस्तक हो जाते हैं और एकाएक एकसाथ उठकर विश्राम की स्थिति में आ जाते हैं। कहीं-कहीं लड़के सर्पाकार कालम में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक चार पद (डाका) पर घुटनों के बल झुकते हैं और तब केंकड़े की आकृति में बगल में मुड़ते हैं, घुटनों के बल होते हैं, पीछे जाते हैं, और पुनः आगे आते हैं। घुटनों के बल ही ये इधर-उधर घूमते हैं। यदा-कदा मृदङ्गवादकों की पंक्ति पालथी मार कर बैठ जाती है और आगे की ओर कूदती है और इस क्षण वह उत्साहपूर्ण ढंग से ढोल बजाती है। जब मृदङ्गवादक नृत्यमण्डली के अन्दर आ चुके होते हैं तो ये "भीमुल" या "लिंगो" की उपासना करते हैं। यही इनका मंगलाचरण है।

इस क्रिया के पश्चात् अगला पादाभिनय प्रारम्भ होता है, जो बहुत ही सरल होता है। वे एक मण्डलाकृति में चारों ओर घूमते हैं। ऐसा करते समय वे द्रुतगति से सीधे बढ़ते हैं और उनके घुटने थोड़ा झुके रहते हैं। यदि इनके

बीच लकड़ी के "कुटोर्का" या "टुडरा" ढोल लिए हुए कोई लड़का होता है, तो वह घेरे के अन्दर हो जाता है। थोड़ी दूर पर लड़कियाँ दो पंक्तियाँ बना लेती हैं तथा एक "रेलो" का तान छेड़ती है। यह "रेलो" समय या ढोलक की लय से किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं रखता। "रेलो" की यह सुरलहरी लड़कों के पदसंचारण से भी संश्लिष्ट नहीं रहती है। चूंकि लड़कियों के नृत्य पूरी तरह उन्मुक्त होते हैं, अतएव उनकी चर्चा मैं पृथक परिच्छेद में करूँगा।

नृत्य के तीसरे चरण में पदसंचारण या पादाभिनय का कोई क्रम सुनिश्चित नहीं होता। कुछ समय के पश्चात् मृदङ्गवादकों का मण्डल अपने "माँदरी-गुरु" के आदेश पर या तो पुनः चारों ओर घूम जाता है या विपरीत दिशा की ओर चला जाता है या मुड़ जाता है।

"माँदरी-गुरु" के ही आदेश से प्रत्येक वादक घूम जाता है और वह युग्म में होकर चक्कर लगाने लगता है। यदा-कदा इनमें से प्रत्येक अपने साथी के कन्धे पर हाथ रख लेता है। इसे "समधी-जोहार" कहा जाता है।

पुनः यह मण्डलाकृति सामान्य स्थिति में आजाती है। बांडोपाल के "माँदरी" नृत्य की एक विशेषता यह है कि यहाँ यह आवर्ती मण्डल होता है, जिसका प्रत्येक सदस्य अपने पड़ोसी सदस्य का चक्कर लगाता है। यह मण्डल लयात्मकता के साथ संकुचित तथा विस्तृत होता है; क्योंकि चक्कर लगाने की प्रक्रिया में प्रत्येक वादक बाहर और भीतर कुछ पदचाप भरता रहता है। फिर से इन नृत्यक्रिया में परिवर्तन होता है। अब दो मण्डल विपरीत दिशाओं में चक्कर लगाते हुए सामने आते हैं। इसे "समिलहा" कहा जाता है; जो नृत्याध्याय (अशोकमल्लविरचित, श्लोक 356) के अनुसार "समपादाभियय" का ही आदिवासीकरण है—

स्थितो स्थितस्वभावेन समः पादः प्रकीर्तितः।
स्थिरः स्वभावाभिनये रेचकेऽसौ चलो मतः॥

पुनः ये वादक ऊपरी सतह पर ताल देते हैं। प्रत्येक वादक चारों ओर चक्कर लगाता है। इस क्रिया में उसके घुटने झुके रहते हैं। पूरे घेरे के घूमने से प्रत्येक सदस्य घूमता रहता है।

"माँदरी" की विविधताओं को सीमांकित नहीं किया जा सकता है। एक ऐसा भी क्षण आता है, जब नर्तक एक घेरे में हो जाते हैं और प्रत्येक नर्तक सामने की पंक्ति के वादक के कंधे पर हाथ रख देता है। दूसरे क्षण वे एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं और ताली बजाकर सामने घुटना टेकते हैं। पुनः वे कूदते हैं, चारों ओर घूमते हैं, घेरे को तोड़ देते हैं, फिर घुटने के बल झुकते हैं, और फिर सामने आकर तालियाँ बजाते हैं। पुनः वे अपना हाथ अपने चूतड़ों पर रख कर उन्हें अपने पैरों तथा झुलाते हैं। कभी-कभी वे ढोल के साथ चक्कर लगाते हैं, दोनों के बीच निकल जाते हैं। दायाँ हाथ दाएँ टाँग के नीचे रहता है और फिर ढोल को ऊपर नीचे उछाला जाता है। इस प्रकार की वादन की स्थिति में पहले हाथों से छाती का स्पर्श किया जाता है, फिर कूल्हों को हाथों से संस्पर्श करते हैं और तब ढोल पीटते हैं।

यदा-कदा ये मेढकों-जैसा कूदते हैं तो थोड़ी देर के लिए घेरा टूट-सा जाता है। तब ये ढोलों के साथ भूमि पर छुकते हैं और प्रत्येक युवक पारी-पारी से एक-दूसरे को छलागता हुआ निकल जाता है। इस क्रिया के पश्चात् ये पुनः घेरे में आ जाते हैं, घुटने के बल झुकते हैं तथा आगे की ओर कूदते हुए निकल जाते हैं।

एक दूसरे नृत्यसंचरण में लड़के घुटनों के बल एक घेरे में बिखर जाते हैं तथा इनका मुँह एक दूसरे के सामने होता है। तब ये घुटनों के बल पर पैरों को तेजी के साथ घसीटते हैं और सीधे हो जाते हैं। पुनः ये अपनी एँड़ियों के बल पीछे की ओर झुकते हैं। एक पैर एक तरफ तथा दूसरा पैर दूसरी तरफ। घुटनों के बल ये पीछे से चक्कर लगाते हैं, जैसे कि लँगड़ों की एक पंक्ति हो। तब फिर पीछे की ओर झुकते हुए पश्चापसरण करते हैं और इस क्रिया

में एक हाथ से शरीर को सम्हालते हैं और दूसरे हाथ से ढोल बजाते हैं। फिर ये आगे बढ़ते हैं। चारों ओर घूमते हैं और विकल्प से तीव्रता के साथ ढोल बजाते हैं।

जब ये इस क्रिया से पूरी तरह थक जाते हैं, तो एक लम्बायमान पंक्ति में ढोलों के ऊपर बैठ जाते हैं, जैसे कि घोड़ों पर सवार हों। पुनः ये भीतर की ओर मुड़ते हैं और फिर केन्द्र की ओर बढ़ते हैं—सावधानी के साथ ढोलों को अपनी ओर खींचते हुए। पुनः उसी गति का प्रत्यावर्तन करते हैं। अब ये अपने-अपने ढोलों को छोड़कर घेरे के चारों ओर नाचते हैं—एक दूसरे के हाथों से ताली बजाते हुए। कभी-कभी एक दूसरे के ढोल पर बैठ कर ये उसे बजाते हैं और पुनः चक्कर लगाते हैं, उछलते हैं और चक्राकार गति में विविध हावभाव करते हैं।

सर्वोत्कृष्ट "माँदरी"-नृत्य मुझे खूँटागाँव में देखने को मिला है। काले कोट पहने हुए पच्चीस लड़कों की एक टोली "घोटुल" में प्रवेश करती है। इनमें से अनेक के पास चाँदी के गलपट्ट थे, जो कन्धों पर झूल रहे थे। कुछ के गलों पर मालाएँ लटक रहीं थीं। इन्होंने सिल्क की "पगड़ियाँ" पहन रखी थीं। सस्ते आभूषण पहने थे तथा इनके पास "पर्राङ्ग" वाद्य थे। इनका प्रवेश हुआ। चुपचाप बिना किसी आहट के ये आकर खड़े हो गए। दोनों हाथों से इन्होंने संकेत किया और शीघ्र गतिशील घेरे में बँध कर दूर चले गए। कुछ समय बाद लड़के तेजी से आगे बढ़े। दो बार तालियाँ बजायीं, मुड़े और बारी-बारी से ढोल बजाया, फिर रुके, निर्देश दिया, संकेत किया और पुनः ढोल बजाया। दो बार तालियाँ बजायीं। नीचे की ओर झुके। तेजी के साथ चिल्लाया। मुद्रांकित किया और पुनः चक्कर लगाया। दोनों हाथों से दो बार तालियाँ बजायीं, दो बार ढोल बजाया और एक साथ चक्कर काटने लगे। फिर हवा में एक साथ संकेत उभरे। चीख की आवाज सुनाई दी। आकाश में उछले। हाथों से पुनः दो बार तालियाँ बजायीं। ढोलों को पुनः दो बार बजाया। फिर चक्राकार घूमे। एक दूसरे के सामने आ गए। पुनः ताली बजाकर ढोल पीटने लगे।

इसके पश्चात् नृत्य में परिवर्तन होता है। जैसे ही वे चक्राकार गति से आगे बढ़ते हैं, ढोलवादक बाएँ पैर से तीन डग भरते हैं। भीतर की ओर मुड़ते हैं और निस्तब्ध खड़े हो जाते हैं। फिर कुछ देर के लिए चुप्पी साध लेते हैं। फिर संकेत पाकर तीखी ध्वनि करते हैं। एक दूसरे के सामने आते हैं। चिल्लाते हैं। दाएँ मुड़ते हैं और एक हाथ के बहुत व्यापक संचालन के साथ चक्राकार गति में ढोल बजाने लगते हैं। गति आती है। बायाँ पैर आगे रखते है, दाएँ पैर से लत्ती जैसा मारते हैं। फिर बाएँ से लत्ती-जैसी मारते हैं। पुनः रुक कर पीछे की ओर मुड़त हैं—चक्राकार गति में। समूची शक्ति से ढोल बजाते हुए अन्त में घेरे में एक दूसरे के सम्मुख आकर रुकते हैं। आकाश की ओर संकेत करते हैं। तेजी के साथ चिल्लाते हैं और पंक्ति को तोड़ देते हैं।

इस भव्य यात्रा के दौरान "मोटियारी" भी नृत्यमग्न रहती हैं—एक कोने में लज्जाशील और अभिभूत। अपने सौन्दर्य को छिपाने के लिए वे मस्तक को नीचे झुकाए रहती हैं, शरीर भी झुका रहता है। अब तक उन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। सभी की आँखें लड़कों पर टिकी हुई थीं।

लड़कियों के नृत्य रुचिकर और आह्लादमय होते हैं। आभ्यन्तरमुखी होकर ये लड़कियाँ दो पंक्तियों में खड़ी हो जाती हैं। सीधी खड़ी होकर प्रतितान पूर्वक गाती हुई अपना नृत्य प्रारम्भ करती हैं। ऐसा करते समय ये अपना "झांझ" बजाती हैं या तालियाँ। ये एक दूसरे को पकड़ती नहीं हैं। इसी समय एक पंक्ति आगे की ओर झुकती है, जब कि दूसरी पंक्ति सीधी खड़ी रहती है, आगे की ओर झुकने वाली पंक्ति दोनों टाँगों के बीच से हस्तताल देती है या "झांझ" बजाती है। अब दोनों पक्तियाँ घेरे में हो जाती हैं और आदर्श स्थिति यह है कि वे केन्द्राभिमुख झुकें और दुहरी रेखा को बनाए रखें—
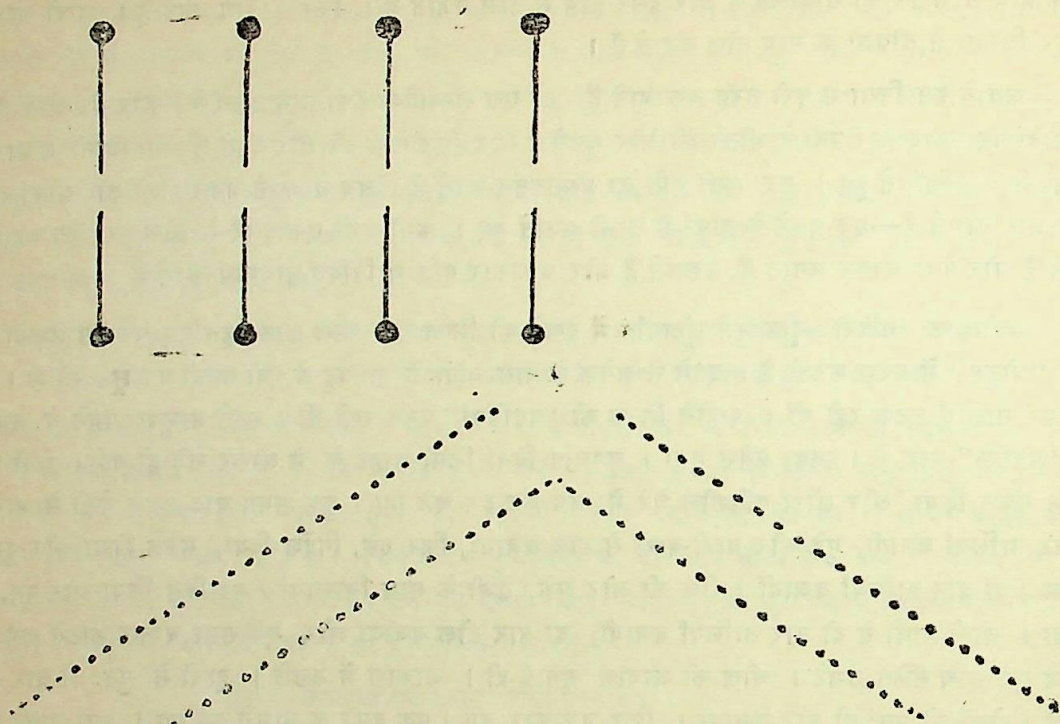
आमतौर पर वे दो भागों में बँट कर एक अर्द्धवृत्त बनाती हैं—

गति का एक विकल्प यह भी है कि लड़कियाँ दो पक्तियाँ बना लेती हैं। एक पंक्ति जब आगे नीचे की ओर झुकती है तो दूसरी पंक्ति चारों ओर घूमती है और फिर निम्नाभिमुख हो जाती हैं। ''झाँझ'' के प्रत्येक चार ताल के साथ वे चारों ओर झूलती हैं और अपनी स्थिति बदल देती हैं। यदा-कदा दोनों पंक्तियों की पीठ एक-दूसरे की ओर हो जाती है। यहाँ ये झूलने का अभिनय करती हुई घेरे के अन्तर्गत आ जाती हैं। ''मोटियारी'' पहले घड़ी की सुइयों के समान चारों ओर घूमती हैं तथा उस मण्डलाकृति आवर्तन में अपना ''झाँझ'' लिए रहती हैं। तदनन्तर प्रत्येक ''मोटियारी'' दाएँ घूम कर तीन कदम आगे बढ़कर झुकती है, ''झाँझ'' के तीन आघात करती हैं, सीधे खड़ी हो जाती हैं, फिर आवर्तन क्रम में तीन चरण आगे बढ़ती हैं, नीचे की ओर झुकती हैं। यह क्रिया चलती रहती है। इस रीति से विकल्प से कभी घेरा आभ्यन्तरमुखी होता है और कभी बहिर्मुखी। इस प्रकार यह नृत्य बहुत ही उत्तेजक हो जाता है। भानपुरी में प्रत्येक लड़की ने अपनी बायीं टाँग को दायीं लड़की के दोनों टाँगों के बीच में रख लिया था और धीरे-धीरे घूम रही थी—अपने-अपने झाँझों पर आघात देते हुए इधर-उधर झूलते हुए।

चाँदवेड़ा में ''कर्से-पाटा'' बहुत ही अधिक द्रुतगति का था। लड़कियाँ अपने कटि से दूसरी लड़की की कटि पर प्रहार कर रही थीं और बाएँ से दाएँ जा रही थी। इनका दायाँ पैर दूसरे पैर के पीछे था और इनके गीत में एक पृथक् पहचान उभर रही थी।

विवाह के अनेक गीत ''मोटियारी'' अर्द्धमण्डलाकार-स्थिति में गाती हैं। दूल्हा-दुल्हन की ''पाटी'' पारते हुए या ''टीका'' करते हुए या नहलाते हुए या दोनों को सजाते हुए। स्पष्टतः ये लड़कियाँ पूरे घेरे में न रहकर अर्द्ध-मण्डल में रहती हैं। ऐसी स्थिति में इन्होंने खड़े रहने वाली मुद्रा में एक ऐसे नृत्य का आविष्कार किया है, जो हाथों के अभिनय और शरीर के संचालन से प्रभावोत्पादक बन गया है और शायद यही कारण है कि लड़कियों के नृत्य

लड़कों के वादन से सामंजस्य नहीं रखते और न ही एक ही काल और लय का अनुगमन करते हैं। दोनों में समय का अन्तराल आ ही जाता है। लड़कियों के लिए विशेष सामाजिक कर्तव्य हैं और उन्हें अपने गीतों का अनुकूलन करना ही पड़ता है, किन्तु लड़के स्वतंत्र हैं तथा उन पर काल की बंदिश नहीं होती।
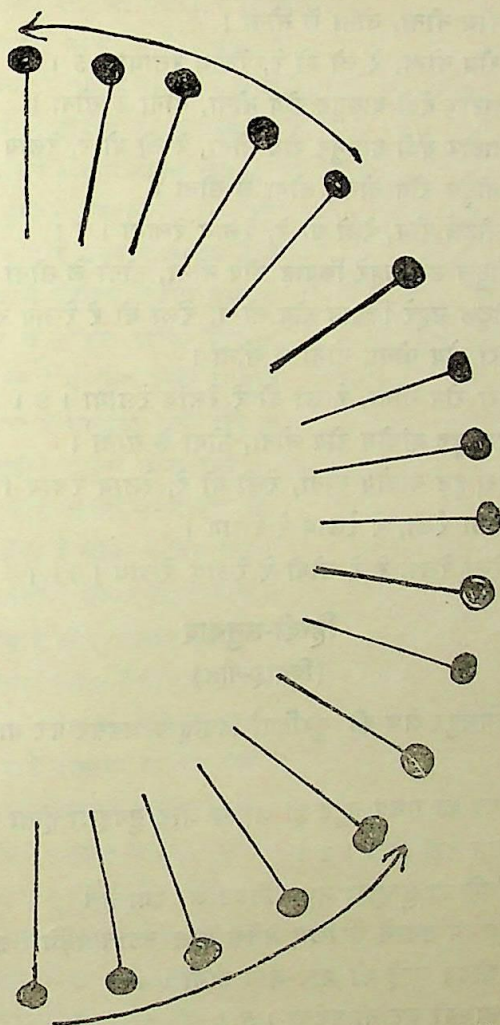
"मांदरी"-नृत्य की सभी शैलियाँ प्रकारान्तर से वैवाहिक गीत के रूप में होती हैं, जिन्हें मुरिया में "मरम-पाटा" या "रेलापाटा" कहा जाता है। यहाँ पाँच मुरिया-विवाहगीतों का संकलन है—

मरम पाटा-1

रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रेलाय रे रेलाय।
रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रेलो यो रे रेलाय रेला या। 1।
डिंडा राजू राजू रोय नोना, नोना ले सोना।
डिंडा राजू राजू रोय नोना, रे रेलाय रेलाया। 2।
अदे राजू अवित रोय नोना, नोना ले सोना।

अदे राजू अवित रोय नोना, रेला यो रे रेलाय रेलाया । 3 ।
ओयदेल किसता राजू रोय नोना, नोना ले सोना ।
ओयदेल किसता राजू रोय, नोना, रेलोयो रे, रेलाय रेलाया । 4 ।
इदे राजू पूटो रोय नोना, नोना ले सोना ।
इदे राजू पूटो रोय नोना, रे लो यो रे, रेलाय रेलाया । 5 ।
नाटोर येंदी दायनुर रोय नोना, नोना ले सोना ।
नाटोर येंदी दायनुर रोय नोना, रे लो यो रे, रेलाय रेलाया । 6 ।
परमांग कोरी गोटुल रोय नोना, नोना ले सोना ।
परमांग कोरी गोटुल रोय, रेलो यो रे, रेलाय रेलाया । 7 ।
गोटुल उसे उहरे किदाड़ रोय नोना, नोना ले सोना
गोटुल उहरे किदाड़ रोय नोना, रेलो यो रे रेलाय रेलाया । 8 ।
निया हुंजना डेरा रोय नोना, नोना ले सोना ।
निया हुंजना डेरा रोय नोना, रे लो यो रे रेलाय रेलाया । 9 ।
डेरा हुड़ बांदोम रोय नोना, नोना ले सोना ।
डेरा हुड़ बांदोम नोना, रेलो यो रे, रेलाय रेलाय । 10 ।
रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रेलाय रे रेलाय ।
रे रे लोयो रे रेला रेला, रे रे लोयो रे रेलाय रेलाय । 11 ।

हिन्दी-अनुवाद

(विवाह-गीत)

प्रस्तुत लोकगीत को नारायणपुर क्षेत्र की युवतियाँ विवाह के अवसर पर गाती हैं । लोकगीत में विलाप भी है और उल्लास भी ।

हे युवक, बालापन का समय बहुत ही अमूल्य और सुनहला होता है ।
यह बार-बार प्राप्त नहीं होता । 2 ।
अब विवाह के बंधन में बँधने का तुम्हारा समय निकट आ गया है ।
पारिवारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए अनेक बोझ उठाने पड़ेंगे । 3 ।
विवाह के समय तुम्हारा जीवन चूल्हे की आग-जैसा होगा । 4 ।
आपको भोजन-सामग्री जुटाना पड़ेगा । 5 ।
गाँव के सभी युवक-युवतियाँ नाचने जाएँगी
(अर्थात् अवसर नहीं मिलेगा) । 6 ।

''घोटुल''–परम्परा से प्राप्त एक सामाजिक संस्था है जहाँ युवक-युवतियाँ नाचते गाते हैं, सामाजिक जीवन में प्रवेश का अनुभव प्राप्त करते हैं । 7 ।

हम ''घोटुल'' बड़े शौक से जाती हैं—युवावस्था में घोटुल जाना पसंद करती हैं । 8 ।
उस स्थान को हम भूल नहीं सकतीं, जहाँ हम सोती थीं ।
हमारे सोने के स्थान हमारी स्मृति में रहेंगे । 9 ।
जिस स्थान पर हम सोती थीं, उस स्थान को ''घोटुल'' आने पर अवश्य देखती थीं । 10 ।

मरम पाटा-2

रे रे रेलाय रेला रे रे लाय
रीरेलो रेला या रेलाय रे रेलाय ।।
इंगो—आवाटा लालूर वाजिरे बूबा
आवाटा लालूर वाजिरे बूबा ।।
इंगो—वाजिरे बोड़ोन बोड़तन बूबा ।
बाजिरे बोड़ोन बोड़ते रोय ।।
दाड़ंगो रे उनवान आतेक बूबा
दाड़ंगो रे उनवान आतेक रोय ।।
जूरे ले उड़फूल दाड़ंगो बूबा
जूरे ले उड़फूल दाड़ंगो रोय ।।
बारा रे भाटीना फूली रा बूबा
बारा रे भाटीना फूली रोय ।।
वहसीरे दाड़ंगो उनेन बूबा
वहसीरे दाड़ंगो उनेन रोय ।।
दाड़ंगो रे जीवा केतीर बूबा ।
वाड़ंगो रे जीवा केतीर रोय ।।
मीयाड़े जीवा केतीर बूबा ।
मीयाड़े जीवा केतीर रोय ।।
बारारे गानाना गोडाल बूबा
बारारे गानाना गोडाल रोय ।।
इंगो—लामूरे पेयवाल आतेक बूबा
लामेरे पेयवाल आतेक रोय ।।
इंगो—गोडाह मुनेह केवीन बूबा ।
गोडाल मुनेह केवीन रोय ।।
इंगो—हाड़ेरे जीवा केवीन बूबा
हाड़ेरे जीवा केवीन रोय
मीयाड़े जीवा केतीर बूबा
मीयाड़े जीवा केतीर रोय ।।

हिन्दी-अनुवाद

हे पिताजी, जिस प्रकार बगीचे की लालभाजी
बड़ी-बड़ी हो गई है, उसी प्रकार
में भी जवान हो गई हूँ ।
और अब मेरे लिए माहला (मंगनी) पीने का समय आ गया है
यदि तुम किसी के यहाँ से आने वाले माहला को

पीने वाले हो तो पानी के समान
मदिरा मत पीना
माहला पीने से पूर्व मदिरा को देवी के
लिए अवश्यमेव अर्पित करना ।
ऐसा लगता है पिता जी कि आपको माहला पीना
अच्छा नहीं लगा और आपने माहला
पीना छोड़कर मुझे गले लगा लिया है
आप मुझे अपने घर से अलग नहीं
करना चाहते ।
हे पिता जी, यदि आप लमसेना की खोज में हो
तो पिता जी बारह सेर वाली कुल्हाड़ी
लेकर दामाद को साथ में लाना
पर पिता जी आपको लमसेना
भी अच्छा नहीं लगा और आपने मुझे
गले से लगा लिया है । मैं आपको
अधिक प्रिय हूँ ।

रेला पाटा-3

रे रे लोयो रेला रेला
रि री रे लोयो रेला रेला
रेला रे रे लोयो रे रेला ।। 1 ।।
चलो, ओनीर बोनीर सुलुड़
ओनीर बोनीर सुलुड़ नेलता ।। 2 ।।
सुलुड़ सुलुड़ लहरी नेलता ।। 3 ।।
आयो, मनीजर दादा ना सुलुड़ डेलीरा ।। 4 ।।
मनीजर दादाना सुलुड़ नेलता
सुलुड़ सुलुड़ लहरी नेलता ।। 5 ।।
नवका सुलुड़ अरमा मनीजर
जीवर लागयता वायरा बसयता ।। 6 ।।
वातेल इचो वायली लहरी
नाले वायकीन
लहरी नाले वायकीन ।। 7 ।।
नन्ना रीसे इत्तो वायेना मनीजर
परे गुचायतोनम मनीजर
परे गुचायतोन ।। 8 ।।
नन्ना रीसे गुचोन लहरी

छायाचित्र क्रमांक–6. काष्ठश्रृंगालंकृत नेतानार का धुरबा नर्तक

जंगोर गुचायता लहरी
जंगोर गुचायता ।। 9 ।।
रे रे लोयो रेला रेला
रि री रे लोयो लो रे रेला
रेला रे रेतके लोयो रे रेला ।। 10 ।।

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत "रेला" गीत के नाम से सम्बोधित है । इसे नारायणपुर क्षेत्र की युवक-युवतियाँ विवाह के अवसर पर गाती हैं ।

यह गीत प्रश्नोत्तर शैली में गाया गया है । प्रथम पद केवल तर्ज के रूप में है। लोकगीत में मनीजर और लहरी नामक पात्रों का वर्णन है ।

युवतियाँ– यह किसकी बाँसुरी
यह किसकी बाँसुरी बज रही है ।। 2 ।।
युवक – (यह) बाँसुरी (यह) बाँसुरी लहरी, बज रही है ।। 3 ।।
(मनीजर दादा की है)
युवतियाँ– मत (बजाओ) मनीजर दादा अपनी बाँसुरी, ए ।।
युवक – मनीजर दादा की बाँसुरी बज रही है
बाँसुरी बाँसुरी, लहरी, बज रही है ।।
युवती – तुम्हारी बाँसुरी मेरे हृदय को तरंगित कर रही है, मनीजर
प्राण चाहते हैं तुम्हारे पास चले आने को ।। 6 ।।
युवक – अगर (तम्हारी) इच्छा है, चली आना, लहरी
मेरे पास चली आना ।। 7 ।।
युवती – मैं क्या आपके पास आऊँगी मनीजर
स्वयं पीछे हट रहे हो मनीजर
पीछे हट रहे हो ।। 8 ।।
युवक – मैं पीछे नहीं हट रहा हूँ, लहरी
(मेरी) परछाईं पीछे हट रही है लहरी
परछाईं पीछे हट रही है ।। 9 ।।

मरम पाटा-4

रेला रे रे लोय रेला रेला रे रे लाय ओ
रेला रे रे लोय रेला ।।
तोरोन मंडा रोय अंगै, तोरोन मंडा रोय
तोरोन मंडा रोय अंगै, तोरोन मंडा रोय ।।
इंगो—मंडार तिरी सोर अंगै मंडार अंगै ले ।
मंडार तिरी सोर अंगै, मंडार अंगै ले ।।

इंगो—वान्दूर अंगै लेयोर वान्दूर अंगै ले ।
बोरतीर लेयोर अंगै, वान्दूर अंगै ले ।।
इंगो—कारयाले अंगै लेयोर अंगै ले ।
कारयाले अंगै लेयोर अंगै ले ।।
इंगो—करउल कायार अंगै डण्डार अंगै ले ।
करउल कायार अंगै डण्डार अंगै ले ।।
इंगो—तपने डण्डार अंगै पयण्डूर अंगै ले ।
तपनेर डण्डार अंगै पयण्डूर ले ।।
इंगो—गुच्छर दंगड़ा अंगै इन्दान अंगै ले
गुच्छर दँगड़ा अंगै इन्दान अंगै ले ।।
इंगो—किलसोरे अंगै हन्दूर अंगै ले ।
किलसोरे अंगै हन्दूर अंगै ले ।।
इंगो—वाय दगड़ार अंगै इन्दान अंगै ले ।
वाय दगड़ार अंगै इन्दान अंगै ले ।।
इंगो—कवसोरे अंगै वान्डूर अंगै ले ।
कवसोरे अंगै वाण्डूर अंगै ले ।।

हिन्दी अनुवाद

कच्चे धागों में आम के पत्तों को पिरो कर विवाह मण्डप सजाया गया है और इसी मंडप के नीचे एक युवती गीत गाते हुए अपनी भाभी से कह रही है—

हे भाभी इस शादी के मंडप के नीचे जब मै
गाना गा-गाकर नाच रही थी, उस समय
मेरे गाने की आवाज को सुनकर एक
नवयुवक चेलिक मेरे पास आया और
उसने मेरी कोमल बाँह को झट से पकड़ लिया
जैसे ही उसने मेरी कोमल बाँह को पकड़ा
मैने उसे "चल हट" कहा और
वह चेलिक रोते हुए बाहर जाने लगा ।
उस चेलिक का रोना मुझे अच्छा नहीं लगा
और मैंने उसे अपने पास बुलाया । वह
हँसता हुआ मेरे निकट आ गया और
मेरे ओंठ चूमने लगा ।

मरमी-पाटा-5

रे रे लोयो रेला रेला रे रे लोयो रे रेला । घोषा ।
डींडा राजु पुट्टो रोय हेलो, अद्दे राजु ।।1।।
इर्राड़ आकीना मुराड़िंग हेलो, जोड़-जोड़ पुंगारिंग ।।2।।

एन्दीर दाकाड़ इंदार हेलो, हन्वा विचार गुंचिग आदड़ हेलो ।।3।।
दायना विचार आतेक रोय, मुन्ने तियार आँदाड़ रोय ।।4।।
लयोर एँदी दानुर रोय हेलो, लयोर एँदी दामुर रोय हेलो ।। 5।।
नन्नर वायकान इंदेक रोय, नीक्के आयोन इंदानूर रोय ।। 6 ।।
नीक्के हिद्दे राजु पुट्टे रोय हेलो, नीक्के हिद्दे राजु पुट्टे रोय हेलो ।।7।।
घोटुलदाना आतेक रोय, संग जोड़ ते हंदाड़ रोय ।।8।।

हिन्दी अनुवाद

युवकों का साम्राज्य घोटुल छूटा, यह अंतिम आगमन है । 1 ।
यह जानकर युवती के आँखों से फूल-जैसे आँसू गिर रहे हैं । 2 ।
सोचते थे कि वर्ष में सप्ताह भर घोटुल में साथ-साथ नाचेंगे । 3 ।
नाचना नहीं चाहते थे तो घोटुल ही नहीं जाते थे । 3 ।
यदि घोटुल से जाने का विचार होता तो पहले ही मनः स्थिति बना लेते । 4 ।
अब मैं चेलिकों के साथ नाचने नहीं जा सकती, नहीं जा सकती । 5 ।
मैं जब उनसे घोटुल साथ-साथ जाने को कहूँगी, तो वे मुझे नहीं ले जाएँगे । 6 ।
कहेंगे साथ-साथ तुम्हें नहीं ले जाएंगे, नहीं ले जाएँगे । 7 ।
अब हमारा साथ-साथ घोटुल जाना छूट गया, छूट गया । 8 ।

4.4. दण्डरास

रासनृत्य का अपर रूप 'दण्डरास' है, जिसमें दण्ड लेकर नृत्य किया जाता है। मुरिया तथा बस्तर की अन्य द्रविड़-बोलियों में "कोला" शब्द दण्ड का उपलक्षक है। अतएव द्रविड़ बोलियों में दण्डरास को "कोलांग" कहा जाता है। हलबी, भतरी तथा छत्तीसगढ़ी बोलियों में इसे "डंडार", "डण्डहार, या दाँदर कहा जाता है, जो स्पष्टतः "दण्डरास" से ही व्युत्पन्न है। मुरियाक्षेत्र में दण्डरास के प्रमुख चार भेद मिलते हैं—

(क) पूस-कोलांगनृत्य
(ख) पेन-कोलांगनृत्य
(ग) चैत-दाँदरनृत्य
(घ) छेरतानृत्य

4.4.1. पूस-कोलांग

"पूस-कोलांग" यात्रा पोष मास में प्रारम्भ होती है। यह "घोटुल" का एक महत्वपूर्ण वार्षिक आयोजन है। विशेष पोशाकों को पहिने हुए "चेलिक" "लिंगो" के सम्मान में नाचते तथा गाते हुए अनेक गाँवों की यात्रा करते हैं। ऐसा माना जाता है कि इस परम्परा को "लिंगो" ने ही जन्म दिया था। इसीलिए "पूस-कोलांग" विधि-निषेधों से युक्त होता है। "चेलिक" समूची यात्रा में अपने साथ "यज्ञ की अग्नि" तथा एक "देवता" रखते हैं। युवतियों के "दीवाली-नृत्य" के असमान इस यात्रा में किसी वासनापूर्ति का लक्ष्य नहीं होता। सच तो यह है कि इसके साथ बहुत कठोर "टैबू" जुड़ा रहता है और उसका पालन न करने से दैवी विपत्तियों की आशंका बनी रहती है। प्रत्येक युवक को बहुत सावधान रहना पड़ता है तथा नियम को भंग करने से कठोर यंत्रणा का भय बना रहता

है। "पूस-कोलांग" नृत्य देवताओं को लक्ष्य करके होते हैं और ऐसी मान्यता है कि यदि इस दरम्यान किसी के मन में काम का उदय होता है, तो उसकी मृत्यु निश्चित है।

पूस की सर्द हवाओं का मौसम जैसे ही आता है, "घोटुल" के नेतागण "गायता" (प्राचीन सामवेदी उद्‌गाता) से यात्रा के मूहूर्त तथा दिशा आदि पर विचार करते हैं। ये ऐसे भी गाँवों का स्मरण करते हैं, जहाँ विगत वर्ष उनकी आवभगत हुई थी। ये उन यात्राओं की अवधि में परोसे जाने वाले भोजन की भी याद करते हैं और स्मरण करते हैं उन शकुनों की, जिनको इन्होंने देखा था। पूस के कृष्णपक्ष के उत्तरार्द्ध से ये अभ्यास प्रारम्भ कर देते हैं। ये नृत्य बहुत ही श्रमसाध्य होते हैं तथा अभ्यास नवयुवकों को बहुत ही सावधानी के साथ कराया जाता है; क्योंकि नृत्य में पदसंचार (डाका) आदि में थोड़ी-सी भी भूल बहुत अधिक घातक हो सकती है। "चेलिक" अपना वस्त्र, मुखौटा, तथा खिलौना तैयार करते हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-10)। महीनों वे दण्डों की लय को सीखने में बिता देते हैं। पदसंचार का अभ्यास करते हैं। उनकी यह अभ्यास-क्रिया "घोटुल" की सीमा से बाहर होती है।

निश्चित तिथि को "अग्नि-प्रज्ज्वलित" कर "चेलिक" उसके चतुर्दिक नृत्य करते हैं। प्रातःकाल "नृत्याग्नि की राख" की परीक्षा करते हैं। यदि राख अविकीर्ण है या उस पर चीते, कुत्ते या बैल के पैरों के निशान पाए जाते हैं, तो यात्रा शुभसूचक मानी जाती है, किन्तु यदि राख पर किसी व्यक्ति के पैरों के निशान हों या बिल्ली अथवा मुर्गे के पैर के चिह्न हों, तो यात्रा अशुभसूचक मानी जाती हैं तथा यह समझा जाता है कि "लिंगो" निषेध कर रहे हैं। कुछ गाँवों में यह मान्यता है कि राख का संस्पर्श किसी जीव के द्वारा नहीं होना चाहिए। इन गाँवों में कोई भी निशान खतरे का सूचक माना जाता है। खतरे की सूचना पर युवक "सिरहा" से विचार-विमर्श करते हैं। "सिरहा" यदा-कदा यात्रा का निषेध कर देता है तो कभी-कभी कतिपय शर्तों के साथ यात्रा की स्वीकृति देता है। ये लोग दूसरे और तीसरे दिन पुनः राख का निरीक्षण करते हैं और तीसरे दिन यदि राख में शुभ-संकेत मिलते हैं, तो ये यात्रा की तैयारी करने लगते हैं।

इस अवधि में "चेलिक" यात्रादल में "गाइन" तथा "जोक्ता" बनने वाले युवकों का भी चयन कर लेते हैं। "गाइन" तथा "जोक्ता" दोनों ही गायन का नेतृत्व करते हैं। अब तक ये "लिंगो-सिंगार" को भी सुव्यवस्थित कर लेते हैं। अपना-अपना परिधान चुन लेते हैं। इनके परिधानों तथा आभूषणों में स्त्रैण तत्व भी मिलते है। युवक "स्कर्ट" पहिनते हैं तथा "मोटियारी" से उधार ली गयी कण्ठ की मालाएँ व हार धारण करते हैं। इसके पीछे सम्भवतः अधिकाधिक अलंकृत होने की भावना रहती है।

जब "लिंगो" ने सर्वप्रथम "पूस-कोलांग" यात्रा आरम्भ की थी, तो वे अपने साथ एक "चीता" ले गए थे। इस स्मृति में आज अनेक गाँवों के युवक अपने साथ "कुत्ते" ले जाते हैं और यही कारण है कि "पूस-कोलांग" नृत्य को "नेई-कोलांग" या "कुकुर-कोलांग" भी कहा जाता है।

"पूस कोलांग"—यात्रा में कुत्ता सुभग तथा शकुन माना जाता है। "चेलिक" "गाँव-देई" (ग्रामदेवी) के मन्दिर से संस्कारपूर्वक एक घण्टी निकालते हैं तथा "लिंगो" के नाम से उसे कुत्ते के गले में लटका देते हैं। जब वे मण्डल में नाचते हैं, तो उसके मध्य भाग में कुत्ते को बैठे रहना चाहिए। भोजन के समय "गाइन" किसी को भोजन कराने से पूर्व सर्वप्रथम कुत्ते को तीन मुट्ठी चावल खाने के लिए देता है।

जब यह नृत्यमण्डली किसी गाँव में प्रवेश करती है, तो सर्वप्रथम "चेलिक" वहाँ कुत्ते की गतिविधि का निरीक्षण करते हैं। यदि शुभ संकेत है तो कुत्ता शान्त बैठ जाता है। उसके बाद सभी लोग बैठ जाते हैं। यदि कुत्ता इधर-उधर भटकते हुए किसी के घर में घुस जाता है, तो यह माना जाता है कि यात्रादल के किसी सदस्य की मृत्यु

सन्निकट है। यदि कुत्ता गाँव के खेतों की ओर भाग जाता है तो "चेलिक" यह समझते हैं कि उस गाँव से शीघ्र ही कूच कर जाना चाहिए। यदि वह गाँव के किसी अन्य कुत्ते से लड़ता है तो यह मान्यता है कि किसी की मृत्यु होने वाली है। यदि कुत्ता नृत्यमण्डली को छोड़कर अपने गाँव लौट जाता है, तो इसे खतरे की घण्टी माना जाता है।

जब "चेलिक" "पूस-कोलांग" यात्रा से अपने गाँव वापस लौटते हैं तो वे कुत्ते के लिए दो चूजों की बलि देते हैं। वे कुत्ते के गले से घण्टी निकाल लेते हैं तथा पुनः उसे "गाँवदेई" के मन्दिर में स्थापित कर देते हैं। कुत्ते के गले में लटकायी जाने वाली घण्टी के समय से लेकर घण्टी उतारने के समय तक कोई भी नृत्यमण्डली का सदस्य संभोगक्रिया नहीं कर सकता। जैसे ही कुत्ते के गले से घण्टी उतार दी जाती है, सभी युवक विविध विधि-निषेधों से मुक्त हो जाते हैं।

नृत्य की पूरी तैयारी "छेरता-पुन्नी" से एक सप्ताह पहले ही हो जाती है। उसी के साथ "चेलिक" परिधान से सुसज्जित होकर दिनभर नृत्य करते हैं। वे इस नृत्य के प्रति इतने सत्यनिष्ठ होते हैं कि उस अवधि में न तो किसी से बातचीत करते हैं और न ही युवतियों के प्रति उनके मन में कोई अनुदात्त भावना पैदा होती है। दूसरे दिन प्रातः-काल "गाइन" या "गीतकुरया" उन्हें "गाँवदेई" के मन्दिर में ले जाता है, जहाँ वे "माड़िया-पेन' के भाले को स्थापित करते हैं। ये सीधी पंक्ति में मन्दिर के सम्मुख नृत्य करते हैं; घेरे में मन्दिर के सामने कभी नहीं नाचते। यहाँ ये "लिंगो-पाड़' बजाते हैं। "गायता" अपने घर से "बेंठ" (धान की रस्सी) में आग लगा कर लाता है और इसी के सहारे वह "मातादेई" को धूप की आहुति देते हुए कहता है—ये नवयुवक नृत्य के लिए जा रहे हैं। मार्ग में इन पर किसी भी प्रकार के रोग का आक्रमण न हो। इन्हें सुरक्षित घर वापस पहुँचा देना। भाला उनका सहायक तथा रक्षक बना रहे तथा माड़िया-पेन सदैव उनका साथ दे। यदि वे सुरक्षापूर्वक वापस आ जाते हैं तो मैं अन्न की बलि दूंगा।" वह भाले की नोक से "बेंठ" की आग को संस्पर्श कराता है और प्रत्यावर्तित हो जाता है।

अब "चेलिक" "गायता" के घर के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं और "गाइन" अपने हाथ में भाला लिए रहता है। यहाँ "चेलिक" प्रथम बार दण्ड से नृत्य (डण्डार नृत्य) करते हैं। इसके पश्चात् वे "घोटुल" में नाचते हैं। "गायता" तथा "सिरहा" मार्ग तक उन्हें छोड़ने जाते हैं। जब वे गाँव की सीमा में पहुँचते हैं तो "गायता" सीमा पर एक रेखा खींच देता है और उस पर आँवले की सात पत्तियाँ रख देता है। उसके साथ लौह अयस्क के सात टुकड़े तथा चावल के सात ढेर होते हैं। "गायता" तथा "सिरहा" मार्ग के परिपार्श्व में पालथी मार कर बैठ जाते हैं तथा युवक खींची गयी रेखा पर पदचाप रख कर एक-एक करके उसे पार करते हुए आह्वान करते हैं—"हमें सुरक्षित वापस बुलाले।" यदि कहीं आभिचारिक या आधिभौतिक आपत्ति का संकेत होता है, तो "सिरहा" ध्याना-वस्थित होकर सब कुछ समझ लेता है।

जब एक बार ये युवक रेखा को पार कर जाते हैं तो वे अपने भौतिक जीवन से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। तब उनका समर्पण "लिंगोपेन" के लिए हो जाता है और अपनी दैवी यात्रा के अतिरिक्त इनके मन में कोई भी विचार नहीं आता। अब इनमें आत्मिक शक्ति जागृत हो उठती है तथा ये ब्रह्मानन्द की स्थिति में रहते हैं। अब यात्रा में नियमों तथा निषेधों का कठोरता के साथ पालन किया जाता है। इन नियमों में संभोग की वर्जना सबसे कठोर है, जिससे ये अपरिचित गाँवों में दैवी आपत्ति के शिकार न बन जायें।

आत्मसंयम का नियम अब इतना कठोर हो जाता है कि ये किसी "घोटुल" की सीमा तक में प्रवेश नहीं करते। यहाँ तक कि "घोटुल" के बाड़े तक को भी नहीं छूते। छह युवकों को छोड़कर शेष युवक "मोटियारी" के साथ नृत्य तो कर सकते हैं, किन्तु उनका स्पर्श नहीं कर सकते। ये पृथक् पंक्ति में ही नाचते हैं। किसी घर के

"दीवाली-अलंकरण" के पास से भी ये नहीं गुजरते; क्योंकि आदिवासी पर्यावरण में दीवाली दीप का नहीं, अपितु काम का प्रतीक माना जाता है। युवक गाँव के किसी व्यक्ति के न तो द्वार में प्रवेश कर सकते, न ही उसे स्पर्श कर सकते। वे विवाहित स्त्री के हाथों का बनाया हुआ भोजन भी नहीं कर सकते। किसी मासिकधर्मवाली महिला की छाया भी इन पर नहीं पड़नी चाहिए। इन नियमों के पालन के माध्यम से कुछ अवधि के लिए ये युवक अपने को भौतिक जीवन से पूरी तरह असम्पृक्त कर लेते हैं।

अपरिचित गाँव की छूत से बचने के लिए ये वहाँ से आग तक भी नहीं लेते और "अरणि-विधि" से भाले की नोंक से खुद आग पैदा कर लेते हैं। इन्हें यह छूट है कि ये गाँव की किसी "मोटियारी" के हाथों से पकाया गया भोजन ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु शर्त यह है कि भोजन "मोटियारी" न परोसे अपितु यात्रादल के युवक ही भोजन परोसें। दो युवकों को भोजन पकाने के लिए नियुक्त किया जाता है। एक चावल पकाता है तो दूसरा दाल। सोने के लिए ये 'घोटुल" नहीं जाते; अपितु "घोटुल" के पास किसी वृक्ष के नीचे आग जलाकर सोते हैं। यहाँ पर भी आग "अरणि-विधि" से उत्पन्न की जाती है।

ये किसी गिरे हुए वृक्ष को लाँघ नहीं सकते। इन्हें उसी क्रम तथा युग्म में रहना पड़ता है, जिस क्रम और युग्म में इन्होंने यात्रा प्रारम्भ की थी। नृत्य के प्रथम दिन "गायता" चिल्लाता है—"अपनी-अपनी जोड़ी बनाओ।" इसके पश्चात् यात्रा के दौरान ये अपनी जोड़ी नहीं बदल सकते। इन्हें नृत्य भी उसी क्रम में करना होता है। इसी प्रकार एक युवक अपने जोड़ीदार युवक के साथ ही सो सकता है, वह किसी अन्य युवक के साथ नहीं सो सकता। इस नियम को भंग करने पर इनकी मृत्यु सुनिश्चित मानी जाती है। इस सम्बन्ध में ये अनेक व्यक्तिवृत्तों को भी सुनाते हैं। यदि जोड़ी का एक सदस्य मर जाता है, तो दूसरे की मृत्यु भी अपरिहार्य है। नृत्य की तकनीकी पूर्णता के लिए सम्भवतः इस प्रकार के "टैबू" विकसित हुए हैं।

नाचते समय या दण्ड को बजाते समय किसी भी प्रकार की त्रुटि अप्रत्याशित खतरों का निमंत्रण है। यदि किसी ने पदसंचार या दण्डप्रहार में किंचित् भूल भी कर दी तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता है। यदि जोड़ी में से कोई एक युवक भूल कर बैठता है तो उस गाँव का "गायता" "गाइन" की "पगड़ी" को उतार देता है तथा दण्ड के रूप में यात्रादल को शराब की दो बोतलें "गायता" को देनी पड़ती हैं तथा उस गाँव से वापस लौट जाना होता है। यदि किसी युवक का दण्ड गिर जाता है या उसकी धोती ढीली हो जाती है तो भी उसे इसी प्रकार का दण्ड दिया जाता है। यदि नृत्य करते समय कोई वस्तु हाथ से नीचे भूमि पर गिर जाती है तो उसे हाथ से नहीं अपितु दाँतों से उठाया जाता है।

नृत्यमण्डली का नेतृत्व करने वाले "गाइन" तथा "जोक्ता" (संस्कृत योक्ता) अथवा "रोचे-सेला" के लिए सदाचरण के विशेष नियमों का पालन करना पड़ता है। वे किसी से बातचीत नहीं कर सकते। "मोटियारी" के साथ नृत्य नहीं कर सकते। वे केवल "पूस-कोलांग" गीत को ही गाते हैं—

कोला पाटा (डण्डारी) नृत्य गीत

रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला।
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ।।1।।

बातीर मरातंग कोलांग रा पेकोरीर।
बातीर मरातंग कोलांग रा पेकोरीर ।।2।।

इतुल मरातंग कोलांग रा पेकोरीर।
इतुल मरातंग कोलांग रा पेकोरीर ।।3।।

रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला।
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ॥4॥
गायतान लोनु बोदु रा पेकोरीर।
गायतान लोनु बोदु रा पेकोरीर ॥5॥
जिवुड़ जावुड़ लोनु रा पेकोरीर।
जिवुड़ जावुड़ लोनु रा पेकोरीर ॥6॥
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला।
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ॥7॥
लयोर गोटुल बोदु रा पेकोरीर।
लयोर गोटुल बोदु रा पेकोरीर ॥8॥
डेंगाल मरा बिती रा पेकोरीर।
डेंगाल मरा बिती रा पेकोरीर ॥9॥
रे रे लोयो रे रेला, रे रेलोयो रे रेला।
रे रे लोयो रे रेला, रे रे लोयो रे रेला ॥10॥

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत को नारायनपुर क्षेत्र के गोंड जनजाति के युवक डंडा-नृत्य के समय गाते हैं। यह डण्डानृत्य का प्रथम गीत है, जो पौष पूर्णिमा के अवसर पर गाया जाता है। डण्डा-गीत प्रनोत्तर रूप में गाए जाते हैं।

हे युवको, डण्डे (कोला) किस वृक्ष की लकड़ी से बने हुए हैं।2।
ये युवको, डण्डे डाऊड वृक्ष के वने हुए हैं।3।
हे बालकों, गायता (पुजारी) का घर कहाँ है।5।
हे बालकों, लताच्छादित घर पुजारी का है।6।
हे बालकों, चेलिकों का घोटुल कौन-सा है।8।
हे बालकों, सबसे ऊँचे झाड़ वाला घर घोटुल है।9।

युवक यह गीत एक मण्डलाकार डण्डार-नृत्य के साथ इस प्रकार गाते हैं कि मानो उनके शब्दों में एक गहन आध्यात्मिक अर्थ छिपा है। गीत बहुत ही मन्दगति से किन्तु भक्तिभावपूर्ण होता है। इसी समय दो युवक टोकनी लेकर घरों से चावल, दाल तथा नमक माँगते हैं और दूसरे नृत्य के कार्यक्रम की तैयारी में लग जाते हैं।

"पूस-कोलांग" नृत्य को शौकिया तौर पर किसी बाहरी व्यक्ति के सम्मुख प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। "पूसकोलांग"-नृत्य की चार सुविभेदक शैलियाँ देखी जा सकती हैं।

प्रथम विशुद्ध रूप से डण्डार-नृत्य की शैली है। धरती पर पवित्र भाले को चुभा दिया जाता है और युवक बहुत ही गंभीरता के साथ मण्डल में नाचते हैं। प्रत्येक युवक अपने दण्ड के माध्यम से पास वाले युवक से जुड़ा रहता है।

इसके पश्चात् नृत्य में परिवर्तन आता है। युवक एक दूसरे का सामना करते हुए वलयाकृति में आ जाते हैं। दोनों शृंखलाएँ प्रतिरोधी रूप में एक आवर्तन करती हैं तथा उसी समय वलय के अन्तर्गत युवक कूद-कूद कर स्थान बदल लेते हैं और डण्डे से तीन वार करते हैं—बाहर की ओर। यह नृत्य क्रमिक रूप से चलता रहता है, जिससे दोनों घेरे निरन्तर गति में रहते हैं और विकल्प से एक दूसरे के सम्मुख नृत्य करते हुए आते हैं। इस समय दण्ड का उत्थान और पतन बहुत ही आकर्षक होता है। वातावरण सुमधुर धुन से भर जाता है।

डण्डार-नृत्य की एक विशेष शैली "कापू-डाका" है। "कापू" एक पक्षी (कप्पे, दण्डामीमाड़िया) का नाम है तथा डाका" का अर्थ है पदसंचार। इस रूप में इस नृत्य में "कापू" पक्षी के पदसंचार का अनुकरण होता है। इसमें पदसंचार बहुत ही जीवन्त होता है तथा गति यदा-कदा बहुत क्षिप्र होती है। युवक अपने नितम्बों को हिलाते हैं और पूरी ताकत के साथ घण्टियाँ बजाते हैं। उनके गायन में तन्मयता होती है और दण्डों के आघात भी बहुत लयपूर्ण होते हैं। इस समय गाया जाने वाला गीत बहुत लंबा तथा उबाऊ होता है।

एक अन्य नृत्य "लिंगो-एन्दाना" लिंगो-नृत्य है, जिसे "पेन-एन्दाना" भी कहा जाता है। इस नृत्य में युवक अन्तर्मुखी होकर दो पंक्तियाँ बना लेते हैं। पंक्ति के प्रारम्भ में दो युवक अन्तराल से दण्ड धारण किए रहते हैं। नेता दण्ड के पीछे खड़े होकर उन पर आघात करता है। युवक धीरे-धीरे गाते हुए आगे और पीछे की ओर बढ़ते हैं। कुछ समय बाद बैठ जाते हैं। ये अनेकशः इस क्रिया को दुहराते हैं, किन्तु हिलते-डुलते नहीं हैं। पुनः उठते हैं तथा पंक्ति अपने आप आगे बढ़ जाती है। नेता डण्डों पर झुक-झुक करके आघात करता है। इस गति से किये जाने वाले दण्डप्रहारयुक्त गीत को "हिचलेहार-पाटा" कहा जाता है। गाया जाने वाला गीत पारम्परिक प्रकृति का होता है, जिसमें "लिंगो" तथा उसके सम्बन्धियों का वर्णन मिलता है।

पूपगाँव में मैंने इससे भिन्न पदसंचार का क्रम देखा था, जो अधोलिखित रेखाचित्र के माध्यम से दिखाया गया है—
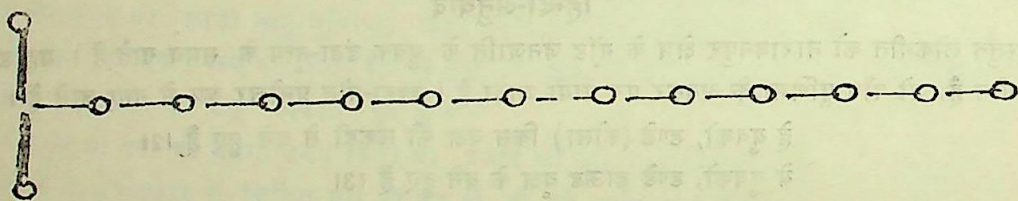
"गाइन" तथा "जोक्ता" नामक दो नेता हाथ में दण्ड लिए हुए एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं। "घोटुल" के "माझी" के नेतृत्व में युवकों की एक सीधी कतार बन जाती है। वे चुपचाप खड़े होकर अवसादपूर्ण स्थिति में गाते हैं। "माझी" दण्डों से आघात करता है। अन्त में नृत्य में प्रयुक्त होने वाले दण्डों को पवित्र भाले के चारों ओर रख दिया जाता है।

"वानर-नृत्य" के लिए तीन या चार छोटे लड़के अपने से बड़े लड़कों के कन्धों पर सवार हो जाते हैं। बड़े लड़के वलयाकृति में रहते हैं। ये बड़े लड़के मुँह से सीटियाँ बजाते हुए छोटे लड़कों को ऊपर की ओर उछालते हैं। धीरे-धीरे यह "पिरामिड" वलयित होता जाता है तथा अन्य लड़के एक शोभायात्रा बनाकर उसके चारों तरफ नाचते हुए गीत गाते हैं, जिसमें वानर का कथ्य प्रमुख रूप से होता है। गीत की टेक अधोलिखित होती है—

रे रेलोयो रे रेला रे रेला रेला रे, रेलोया रायरेला रे रेला रेला ॥

अन्तिम नृत्य "कोकोटार-डाका-एन्दाना" कहा जाता है। इसमें 'चेलिक' एक पंक्ति बना लेते हैं। प्रत्येक लड़का सामने वाले लड़के के दण्ड को पकड़े रहता है तथा ये संचरणशील पंक्ति में वलयित होते हैं। इस वलयीकृत स्थिति में पीछे के लड़के कूदते हैं तथा "मण्डा-पिट्टे" (मण्डप-पक्षी) के समान कम्पनयुक्त होते हैं। इनकी मान्यता है कि पंक्ति का प्रारम्भिक भाग कुत्तों का है तथा अन्तिम भाग खरगोश का। यह नृत्य अन्त में एक खेल का रूप ले लेता है, जिसमें प्रारंभिक पंक्ति घूम-घूम कर पूँछ पकड़ती है। कोइलीबेड़ा के लड़कों तथा पूँछ की अनुकृति सम्भोग-रत बकरे की-सी होती है। इस गीत में प्रणय के विविध सन्दर्भ मिलते हैं—
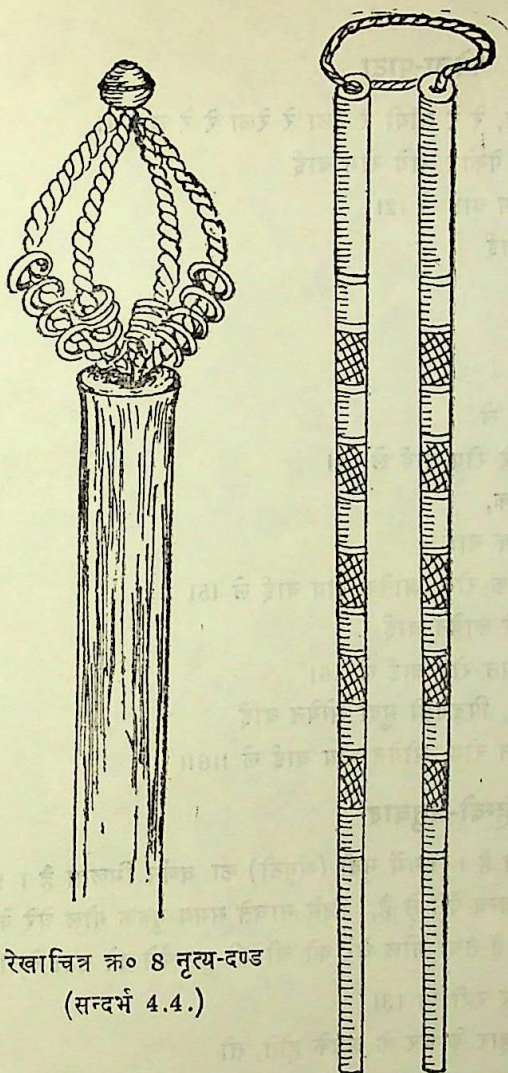
रेखाचित्र क्र० 8 नृत्य-दण्ड
(सन्दर्भ 4.4.)
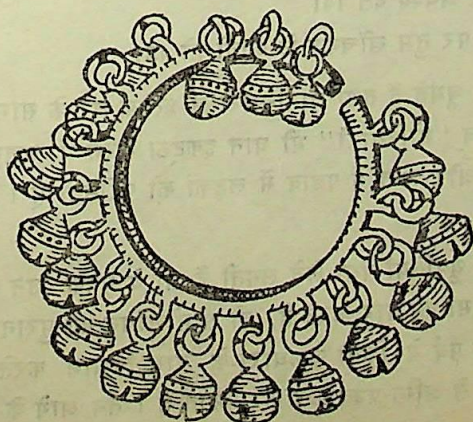
रेखाचित्र क्र० 9. मुयाङ (सन्दर्भ 2.4.27)
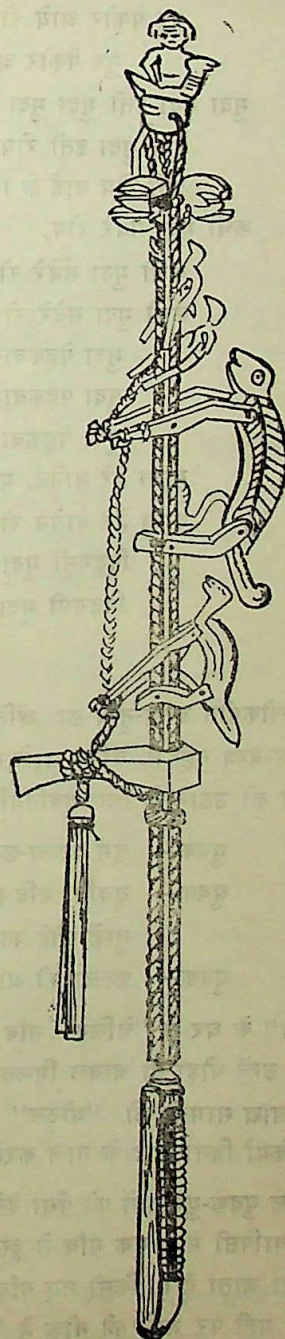
रेखाचित्र क्र० 10
पूस-कोलांग में प्रयुक्त क्रीडनक (सन्दर्भ 4.4.1)

कोला-पाटा

रे रे लोयो रे रे लोयो रेला रेला, रे रे लोयो रे रेला रे रेला रे रे लाय ।।
गुरु पेकोर आये रोम, गुरु पेकोर आये रोम बाई
गुरु पेकोर आये रोम बाई ले ।2।
मुदा मुदा इती मुदा मुदा इती बाई
मुदा मुदा इती रोय
इती रोय बाई ले ।3।
कची मुदा सबेरे रोय,
कची मुदा सबेरे रोय बाई ले
कची मुदा सबेरे रोग, सबेरे रोय बाई ले ।4।
मुदा पेहकवान आतेक,
मुदा पेहकवान आतेक बाई
मुदा पेहकवान आतेक रोय, आतेक रोय बाई ले ।5।
मावा हेरे वायेन, मावा हेरे कावेन बाई
मावा हेरे वायेन रोय, वायेन रोय बाई ले ।6।
पिड़गसी मुदा ओयेन, पिड़गसी मुदा ओयेन बाई
पिड़गसी मुदा ओयोन रोय, ओयेन रोय बाई ले ।।6।।

हिन्दी-अनुवाद

प्रस्तुत लोकगीत डण्डा-नृत्य का अंतिम गीत है। इसमें मुदी (अंगूठी) का वर्णन मिलता है। इसे पहनने की अँगूठी से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि छल्ले का सम्बन्ध पैसे से है, जिसे नाचते समय युवक गोल घेरे के अन्तर्गत रख देते हैं। उस पैसे को उठाने के लिए युवतियाँ आती हैं तथा गोल घेरे को चीरती हुए पैसे को उठा लेती हैं।

युवक– तुम छल्ला-छल्ला कर रही हो ।3।
युवक– युवति, यदि हम लोहार के घर के लड़के होते, तो
तुम्हें लोहे का छल्ला बनाकर अवश्य देते ।4।
युवक– छल्ला की आवश्यकता होने पर तुम खींचकर ले जाती हो ।5।

"गायता" के घर से "चेलिक" गाँव के चारों तरफ घूमते हैं तथा बारी-बारी से प्रत्येक घर के सामने नाचते हैं। इन घरों से उन्हें थोड़ा-सा चावल मिलता है। इसी बीच "मोटियारी" भी धान इकट्ठा करने में मशगूल रहती हैं। मोटियारी खाद्य सामग्री को "घोटुल" में पकाती हैं और अन्त में पड़ाव में लड़कों को परोसती हैं। रात्रि में लड़के तथा लड़कियाँ बिना दण्ड के नाच करते हैं।

प्रातःकाल युवक-युवतियों को पैसा देते हैं और जब युवतियाँ पैसा लेने लगती हैं तो ये युवक उन पर प्रहार करते हैं। जब वापिसी में ये एक गाँव से दूसरे गाँव की सीमा को पार करते हैं, तो सीमोल्लंघन का पुराना संस्कार पुनः यहाँ दुहराया जाता है। किसी नए गाँव में पहुँचने से पूर्व ये किसी जलधारा के पास विश्राम करते हैं तथा संग्रहीत अन्न को यहीं पर भाले की नोक से "अरणिविधि" से अग्नि-प्रज्वलित कर पकाते हैं। तब आगे के गाँवों की ओर बढ़ते हैं और उन्हीं कार्यक्रमों को दुहराते हैं।

अन्त में यात्रा की समाप्ति का काल आता है। "टँबू" के दिन समाप्त हो जाते हैं तथा युवक अपने घरों को वापस चले जाते हैं। उनके गाँव पहुँचने की सूचना उनके आगमन से पहले ही पहुँच चुकी होती है। ऐसे समय में "मोटियारी" सुस्त नहीं बैठतीं। वे भोज की तैयारी में लग जाती हैं। खूँटागाँव में ये युवकों के भोज के लिए खरगोश पकड़ने गयी थीं। अन्य गाँवों में लड़कियों के साथ शिकार के लिए गाँव का "गायता" जाता है। वह सर्वप्रथम जंगल के "सेमुर" (सं० शाल्मली) वृक्ष को काटता है। ऐसा इसलिए कि नृत्य के आद्य प्रवर्तक "लिंगो" ने भी सुवर्णाच्छादित "सेमुर" वृक्ष को काटा था। कुछ गाँव के युवकों की मान्यता है कि चूँकि जीवनपर्यन्त "लिंगो" सेमुर वृक्ष के नीचे ही रहे, इसलिए इस वृक्ष को चुना गया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि "लिंगो" की समाधि सेमुर गाँव (द्र० नवम अध्याय) में ही है। यहीं पर वे शिला में परिणत हो गये थे तथा यहीं पर उनका तीर्थस्थान है।

"सेमुर" वृक्ष को बहुत सावधानी के साथ काटा जाता है। "मोटियारी" चावल तथा दाल की बलि देती हुई वृक्ष से निवेदन करती हैं—"जैसे हमारे चेलिक प्रसन्नतापूर्वक नृत्ययात्रा के लिए गए, वैसे ही वापस आ जायँ।" "मोटियारी" वृक्ष को भूमिपर गिरने से "थामे" रहती है। "सेमुर" वृक्ष का पृथ्वी पर गिर पड़ने का यह संकेत है कि नर्तक की एक जोड़ी की मृत्यु हो जाएगी।

तदुपरान्त वे वृक्ष के ठूँठ पर ताजा वृक्ष की पत्तियाँ बाँध देते हैं तथा उसे वापस "घोटुल" की रथ्या (रचा) या उस स्थान पर स्थापित करते हैं, जहाँ से 'चेलिकों' ने यात्रा-आरम्भ करने से पूर्व आग प्रज्वलित की थी। यदि स्थापित किए जाने पर वह अधकटा वृक्ष सीधा खड़ा नहीं होता तो यह माना जाता है कि यात्रादल के "चेलिक" अभी खतरे में हैं। उसी के पास "मोटियारी" मिट्टी का छोटा चबूतरा बनाती है। उसे छुही मिट्टी से लीपती हैं तथा वहाँ पर "चेलिकों" की आकृतियाँ उकेरती हैं।

चबूतरा बन जाने पर "मोटियारी" पत्तियों की ढेर-सी "चोंगियाँ" बनाती हैं तथा कटे वृक्ष की टहनियों पर चोंगियों के साथ तम्बाखू के बण्डल तथा "दातूनें (परकाल) लटका देती हैं। वृक्ष का एक भाग "गाइन" तथा "जोक्ता" के लिए सुरक्षित रहता है तथा शेष भाग की वस्तुएँ शेष "चेलिकों" के लिए। "मोटियारी" के लिए यह एक उत्सुकतापूर्ण उत्तेजक दिन होता है; क्योंकि बहुत दिनों के अन्तराल के बाद "चेलिक" लौट रहे होते हैं, जहाँ अब तक अज्ञातभय और खतरों से वे घिरे हुए थे। ऐसी स्थिति में "चेलिकों" को प्रसन्न करने के लिए वे कोई कसर बाकी नहीं रखतीं। इस सन्ध्या में वे "घोटुल" के भीतर भोजन पकाती हैं।

यात्रा से लौटने पर युवक सर्वप्रथम "गायता" के घर जाकर नाचते हैं। वहाँ से वे "घोटुल" या अपने पड़ाव के पास जाते हैं, जहाँ अधकटे सेमुर वृक्ष के नीचे भाला रख कर नृत्य करते हैं। कुछ समय के बाद सभी वृक्ष के नीचे एकत्र हो जाते हैं और 'हुर्रे' की ध्वनि के साथ अधकटे वृक्ष की शाखाओं पर अपने "कोला" (नृत्यदण्ड) लटका देते हैं। इसी समय वे अब अपना विशेष परिधान उतार कर उन्हें भी शाखाओं पर लटका देते हैं। वे वृक्ष पर लटकी हुई "चोंगियों" को निकाल कर उनमें तम्बाखू भर कर पीते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल वृक्ष पर लटकी हुई "दातूनों" से मुँह साफ करते हैं और इस प्रकार वे पुनः अपने भौतिक जीवन में वापस लौट जाते हैं।

तदनन्तर "चेलिक" बैठ जाते हैं तथा "मोटियारी" उनके लिए भोजन परोसती हैं। उस रात्रि लड़के "घोटुल" नहीं जा सकते। "घोटुल" जाने से पूर्व उन्हें कुछ संस्कार करने पड़ते हैं।

प्रातःकाल "मोटियारी" उस अनाज को "घोटुल" में कूटती-पीसती हैं, जिसे यात्रादल अपने साथ लाया था। कुछ "घोटुलों" के बरामदे में इसके लिए "कोंड़ी" बनी होती है। सायंकाल "चेलिक" तथा "मोटियारी" उस कूटे हुए अनाज को एक साथ मिलकर पकाते हैं। इस अवसर पर शेष लड़के नृत्य में तल्लीन रहते हैं। वे नाचते हुए

"गायता" के घर जाते हैं और फिर घर वापस लौट कर बलि के लिए चूजे तथा सुअर इकट्ठा करते हैं। जब सभी लोग पुनः एक साथ मिलते हैं तो वे गाँव की सीमा पर एक शोभायात्रा की तैयारी करते हैं। उस शोभायात्रा का नेतृत्व "कसेर-गायता" करता है। रास्ते से प्रत्येक "चेलिक" अपने हाथ में एक पत्थर उठा लेता है।

सीमा पर पहुँचने पर "कसेर-गायता" पानी लेने के लिए जाता है तथा "चेलिक" मार्ग को स्वच्छ करते हैं। अब सभी लड़के "लिंगो" के सम्मान में एक स्थान पर पत्थर का ढेर लगा देते हैं। "गायता" पहले अपना पत्थर रखता है। इसके पश्चात् "चेलिक" अपने-अपने शिलाखण्डों को स्थापित करते हैं। अन्त में कुत्ते के नाम से भी तीन पत्थर रखे जाते हैं; एक निश्चित पत्थर पर चूजे की बलि दी जाती है। दूसरे दिन "चेलिक" पत्थरों का निरीक्षण करने जाते हैं और यदि ढेर में से कोई पत्थर खिसक जाता है, तो उसे अपशकुन माना जाता है और ऐसा समझा जाता है कि किसी नाचने वाले जोड़ी की मृत्यु हो जावेगी। "गायता" लौटकर साफ किए गए स्थान पर पानी छिड़कता है, उसे लीपता है तथा उसके ऊपर चावल के सात ढेर रखता है। धूप और नैवेद्य से उसकी पूजा करता है।

मार्ग के आर-पार "चेलिक" "सियाड़ी" की रस्सी को लम्बायमान कर देते हैं और अपने नृत्यदण्डों को उससे बाँध देते हैं। एक किनारे पर पवित्र "मयूरपिच्छल" बाँध दिए जाते हैं। दो "चेलिक" दोनों छोरों से रस्सी को खींचते हैं, जिससे वह तन जाय।

अब "गायता" सामान्य रीति से चूजे, अण्डे तथा सुअर की बलि देता है। इस संस्कार की समाप्ति पर "चेलिक" मार्ग के पास जाकर "लिंगो-सिंगार" को हटाते हैं। पगड़ियों को समेटते हैं। बाँस की टोकनियों में "स्कर्ट" तथा घण्टियाँ रख देते हैं।

अब "पूसकोलांग" लगभग समाप्ति पर होता है। "चेलिक" अपने-अपने घरों में लौट जाते हैं तथा "गायता" कुछ "चेलिकों" के साथ "मातादेई" के मन्दिर में जाकर "माड़िया-पेन" के पवित्र भाले को वहाँ पुनः स्थापित कर देता है। सभी के सुरक्षापूर्वक लौट आने पर "पुजारी" एक बकरे की बलि देता है। पूरा दिन सहभोज की तैयारी में चला जाता है, जो सायंकाल पाँच बजे आयोजित होता है। इस सहभोज में प्रत्येक आयुवर्ग तथा जातिवर्ग के लोग सम्मिलित होते हैं। सहभोज की समाप्ति के पश्चात् युवकों का "घोटुल" जीवन पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

4.4.2. पेन-कोलांग

"पूस-कोलांग" तथा "चेतदांदर" अभियानों के मध्य एक लघु यात्रा भी आयोजित होती है, जिसे "पेन-कोलांग" या "देव-कोलांग" कहा जाता है। इसमें भी लड़के ही नृत्य करते हैं, किन्तु युवतियाँ उनके साथ भोजन पकाने तथा उनकी देखभाल करने के लिए रहती हैं। "पूस-कोलांग" के समान इसमें भी "चेलिक" नृत्य का अभ्यास करते हैं। शकुन विचारने के लिए अरणि से अग्नि उत्पन्न करते हैं और "गाँवदेई" के मन्दिर में भाला या घण्टी लेने जाते हैं। नृत्योत्सव के सम्पन्न होने पर "गायता" मन्दिर के सामने एक "मुन्दरी" (मुद्रिका) गाड़ता है।

'पूस-कोलांग" के विधि-नियमों का पालन इसमें भी होता है तथा "मोटियारी" के साथ उन्हें सदाचरण बनाए रखना होता है। लौटने पर ये "गायता" के घर के सामने नाचते हैं तथा "गायता" मुँदरी को खोदकर निकालता है और नृत्यदण्डों को लटकाया नहीं जाता, अपितु उन्हें मन्दिर में रख दिया जाता है।

"पूस-कोलांग" से "पेनकोलांग" की अलग पहचान यह है कि इसमें यात्रादल के साथ लड़कियाँ भी जाती हैं। मुँदरी गाड़ी जाती है तथा नृत्यदण्डों को मन्दिर में रख दिया जाता हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-10)।

"पेनकोलांग" से सम्बद्ध कुछ गीत इस प्रकार हैं—

पेनपाटा-1

(मृत्यु की सार्वभौमिकता पर मुरिया-गीत)

सोरा धारू धरती रोय देव
नउ खण्डु पिरथी रा आले
सिंगार मालोर दिपु रोय देव
इगाय हायवालोर रा आले ॥1॥

माने मंज इगाय रोय देव
डुर्र पाटे इगाय रा आले ।
भगवान इसे पण्ड्तु रा देव
सबोय तुने पण्डतु रा आले ॥2॥

कड्कू मनास काम कियानारा
टोरी मनास बरकान रा आले ।
इदाम भगवान पण्ड्तु रा
सिंगार मालोर द्विपु ते रा आले ॥3॥

चाहचितेक इसे इगायरा
कोयमा कितेक इगाय रा आले ।
घरमु कितेक इगाय रा
पापु कितेक इगाय रा आले ॥4॥

इदे सिंगाल द्विपनेरा
राजालोर इसे मान्तोर रा आले ।
समधी सगा इगायरा
भाईबन्द इगाय रा आले ॥5॥

अनुवाद

सोलह खडों की धरती
नौ खंडों की पृथ्वी
यहाँ मानवजाति का निवास है
यहाँ सभी मरणशील है ॥1॥

मानव, चीटी, कीड़े
पशु-पक्षी सब हैं यहाँ
भगवान ने उन्हें रचा है
आँखों से देखो ॥2॥

पैर चलने के लिए हैं
हाथ काम करने के हेतु हैं
जिह्वा वाणी प्रदान करती है
भगवान ने सबको बनाया है ॥3॥

भगवान की इस सृष्टि में
लोग संघर्ष करते हैं
लोग प्रेम से रहते हैं
यहाँ पाप भी करते हैं ॥4॥
इस सृष्टि में
राजाओं-सा रहो
यहाँ समधी परिवार है
यहाँ भाईबन्द परिवार है ॥5॥

लिंगो-पाटा–2

सोरा धारु धरती नउ खण्डु पिरथी हो।
धरती मालिक बोरु लरियो मालिक बोरु हो ॥ 1 ॥
धरती मालिक लिंगो लरियो, पिरथी मालिक राजाल हो।
लिंगोना वेहले पाटा लरियो, लिंगोन वेहले डाकान हो ॥ 2 ॥
पहिलि पाटा लिंगो लरियो, पहिलि डाकान लिंगो हो।
माड़िया पाटा लयोर लरियो, माड़िया डाकान लयोर हो ॥ 3 ॥
नाडुं नर्का दिया लरियो, निके पोरोय पोयतोम हो।
होंगु दापु आयमा लरियो, निके जोहार लागि हो ॥ 4 ॥

अनुवाद

सोलह खण्डों की धरती और नौ खण्डों की पृथ्वी (आकाश)
धरती का स्वामी कौन है ? स्वर्ग का स्वामी कौन है ? । 1 ।
लिंगो धरती का स्वामी है तथा राजा पृथ्वी का
लिंगो ने हमें गीत सिखाया, लिंगो ने हमें पदचारण सिखाया । 2 ।
प्रथम गीत लिंगो का है, प्रथम पदचाप लिंगो का है
माड़िया-गीत युवकों का है, माड़िया-पदचाप युवकों का । 3 ।
मध्यरात्रि में दीप जलता है, हमने तुम्हारा नाम स्मरण किया है
हम पर तुम क्रुद्ध न हो, हमारा जोहार स्वीकार करो । 4 ।

बुरकाल-पाटा (हाना पाटा)–3

बुरकाल-पाटा (व्याघ्र गीत) हाना पाटा (मृत्यु गीत) का एक विभेद है। यह उस समय गाया जाता है जब किसी की मृत्यु बाघ (बुरकाल) से हो जाती है। गीत में मृत्यु के कारणों की चर्चा करते हुए विविध देवी-देवताओं को उलाहना दी गई है—

पोरों सातु दिपुरा
आले आले आले आले । 1 ।
अरिय सातु दिपु रा
इदे दिपु अरोय रा । 2 ।

नाते नाते तलुर रा ।
आवे संगु मनोड़्ग रा । 3 ।
आवे तिन्द हितुंगरा ।
तान हवार बोदु रा । 4 ।
उसे मुदियाल पेनु रा ।
निम्मा वारा तिन्वि रा । 5 ।
निमा बलिय हती रा
नाई पइर्सी हती रा । 6 ।
बारा जोरिंग नाई रा ।
निमा चुचेह किती रा । 7 ।
गुद्दांग ओदा बादु रा
हुपे लेहका पोयांदु रा । 8 ।
हजार रुपिया त जीवा रा ।
जीवा नुकसान किती रा । 9 ।
अदे जीवा पुत्तो रा ।
बदे दिया त पूजारा । 10 ।
पूजा बादु बरक मतोर रा ।
अदेड़्क इसे तिती रा । 11 ।
निमा गल तिन्वी रा ।
निकुने इजोर इतान रा । 12 ।
होंगु दापु आयमा रा ।
साते बारांग जोहार रा ।। 13 ।।

हिन्दी अनुवाद

ऊर्ध्व लोक में सात द्वीप हैं (1)
अधोलोक में सात द्वीप हैं
यह मध्यलोक बुरा है (2)
यहाँ ग्रामदेवी है
उसने (मृतक की) सहायता नहीं की (3)
उसने मृतक को निगलने से नहीं बचाया
मृतक उसके पीछे चला गया (4)
"उसेमुदियाल" देवता
क्या उसे तुमने खाया है ? (5)
तुम तो पास ही घूम रहे थे
तुम्हारे साथ एक कुत्ता था (6)

बारह जोड़ी कुत्ते थे।
तुमने उन्हें आदेश दिया था (7)
ये घास में छिपते हुए आए थे
इन्होंने उसे चूहे के समान पकड़ लिया था (8)
वह जीव हजार रुपयों का था
तुमने जीव को विनष्ट कर दिया (9)
वह जीव अब वापस नहीं आ सकता
वह तुम्हारी कौन-सी पूजा नहीं दे सका (10)
वह पूजा थी क्या
जिससे तुमने उसे खाया (11)
उसने उसे खा लिया
तुमने तो नहीं खाया (12)
तुम रुष्ट न हो
मैं सात बार जोहार करता हूँ (13)

4.4.3. चैत-दाँदर अर्थात् चैत्र-दण्डरास

मुरिया-क्षेत्र के पूर्व तथा दक्षिण-पूर्वी गाँवों में "पूस-कोलांग" के स्थान पर "चैत-दाँदर", "काटी-दाँदर" या "महुआ-दाँदर" नृत्य प्रचलित है। झोरिया-क्षेत्र से हम जैसे ही पूर्व तथा दक्षिण की ओर बढ़ते हैं, "लिंगो" की संस्कृति मन्द पड़ती जाती है। फलस्वरूप "पूस-कोलांग" नृत्य की प्रवृत्ति भी घट जाती है। "पूस-कोलांग" स्पष्टतया "लिंगो" के सम्मान में किया जाने वाला नृत्य है। "पूस-कोलांग" की तुलना में "चैतदाँदर" अधिक भव्य तथा मुक्त नृत्य है। इसमें दर्जनों "टैबू" तथा विधि-निषेधों का भी पालन नहीं करना होता। इस नृत्य की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें युवक तथा युवतियाँ एक साथ यात्रा करती हैं तथा उसी "घोटुल" या उस "घोटुल" के बाहर के सदस्यों को लैंगिक सुखानुभूति की इसमें कोई वर्जना नहीं होती।

काम की उन्मुक्तता को छोड़कर "चैतदाँदर" में अन्य बातें "पूस-कोलांग" के ही समान मिलती हैं। यात्रा आरम्भ करने से पूर्व इसमें भी युवक तथा युवतियाँ पदसंचार का अभ्यास करती हैं। क्योंकि थोड़ी-सी भी भूल खतरनाक हो सकती है। जब सारी तैयारी हो जाती है तो वे "घोटुल" में नृत्य करते हैं। इसके पश्चात् "मातादेई" के मन्दिर में जाते हैं, जहाँ वे "तलुरमुत्ते" को मदिरा चढ़ाते हुए निवेदन करते हैं—"हे भूमिमाता! हम सब बालक हैं। हमें अच्छा नृत्य करना सिखाइए। त्रुटियों से हमारी रक्षा कीजिए।" इसके पश्चात् ये "गायता" के घर के सामने नाचते हैं तथा "गायता" एक गड्ढा खोदकर मुँदरी गाड़ता है और उसके ऊपर "सेमुर" वृक्ष के कटे हुए भाग को अधिरोपित करता है। कतिपय गाँवों में "भीमुल-पेन" के नाम से मदिरा चढ़ाई जाती है।

यात्रा-प्रारम्भ करने से पूर्व युवक तथा युवतियाँ आँवले के वलय की पंक्ति को पहले नृत्य की तरह लाँघते हुई "भूमिदेई" तथा "आनाल-पेन" से रक्षा का निवेदन करती हुई उन्हें सकुशल लौटने पर बलि देने का आश्वासन देती हैं। ये प्रत्येक गाँव में सर्वप्रथम "गायता" के घर जाते हैं और प्रत्येक घर से महुआ तथा अन्न संचित करते हैं। इन आगन्तुकों का गाँव के "घोटुल" में स्वागत किया जाता है। कभी-कभी इन्हें आकस्मिक तौर पर नाचना होता है, जिससे ये सन्ध्याकालीन क्रियाओं को सम्पन्न नहीं कर पाते। यदा-कदा अतिथि तथा आतिथेय कंघी करने एवं मालिश करने के लिए अपनी-अपनी युवतियों की अदल-बदल भी कर लेते हैं। यहाँ आतिथेय के लिए भोजन वर्जित

छायाचित्र क्रमांक–7. नृत्यमुद्रा में दण्डामी माड़िया

है। यदि अभी तक "इर्पुम-पण्डुम" सम्पन्न नहीं हुए तो ये महुए की मदिरा भी नहीं पी सकते। इनकी मान्यता है कि ऐसा करने से महुआवृक्षों में फल नहीं आएँगे। जुगानी में तो यह उत्सव तब तक नहीं होता जब तक महुआ के फलों को संचित नहीं कर लिया जाता।

यात्रा की समाप्ति पर युवक तथा युवतियाँ अपने-अपने गाँव वापस लौट आते हैं और "सेमुर" वृक्ष के नीचे "गायता" के घर के सामने नृत्य करते हैं। "गायता" वृक्ष को मदिरा चढ़ाता है। नृत्यदल के नेता को मुँदरी वापस कर देता है और अन्त में युवक अपने नृत्यदण्डों को पहले जैसे "सिथाड़ी" की रस्सी में मार्ग के आर-पार लटका देते हैं।

इस नृत्य में प्रयुक्त होनेवाले दण्डों को "दाँदर" अथवा "काटी" कहा जाता है और ये "सुरवेली" लकड़ी की बनी होती है। "चैतदाँदर" के नृत्य और गीत "पूसकोलांग" के नृत्य और गीत से भिन्न होते हैं।

प्रत्येक युवक तथा युवती के हाथ में एक-एक दण्ड होता है। दण्ड का दायाँ किनारा ऊपर तथा बायाँ किनारा नीचे की ओर रहता है। जैसे ही घेरा वलयीकृत होता है, ये दण्ड से दण्ड पर प्रहार करते हुए आगे बढ़ते हैं। ये अपने अँगूठों के बल पर नाचते हैं। इनका पदसंचार बहुत ही मन्द तथा स्वाभाविक होता है। दायाँ पैर दाहिनी ओर तथा बायाँ पैर बायीं ओर। बायाँ पैर ऊपर-नीचे होता रहता है और दायीं ओर घूमता है। वलय दोनों ही किनारे घूमता है तथा एक तेज आवाज "ओव-हो" के साथ उलट जाता है। जैसा कि मुरिया जनजाति में प्रचलित है, लड़के अपने कूल्हे आड़ा (हारिजोण्टल) मटकाते हैं, जिससे घण्टियाँ बज उठे। उनके गीत का घोषा इस प्रकार होता है—

हुन हुन हुन हुन जाम कुइँ।

दूसरा नृत्य "पूस-कोलांग" के "लिंगो"-नृत्य से समनुहारिता रखता है। युवक तथा युवतियाँ एक-दूसरे का सामना करती हुई दो पंक्तियाँ बनाती हैं। प्रत्येक जोड़े के पास दो दण्ड होते हैं, जिन्हें ये एक ही ताल पर पीटते हैं। कुछ समय बाद पंक्ति अपने आप मुड़ जाती है तथा नेता दण्डों के वलय के नीचे आ जाता है। तब वे फिर मुड़ जाते हैं तथा डण्डे भूमि पर झुक जाते हैं—

तारी नाना ना नारे नाना तारी नाना रे।
ओहो मैना हो लालसाय बइठो डण्डा हो। 2।
ओहो काहेन के डण्डा हो लालसाय
मैना काहेन के डण्डा हो तरी। 3।
ये बाटे पलटू हो राजा मैना हो लालसाय
ये बाटे पलटू हो। 4।
ओ हो चैत दाँदर हो राजा मैना हो लालसाय
हो तारी नाना ना नारे नाना तारी नाना रे। 5।
उठुन दखु हो राजा मैना लालसाय हो तारी। 6।

हिन्दी अनुवाद

अरे मैना हे राजकुमार बैठो दण्ड में हो। 2।
अरे राजकुमार दण्ड किसका बना है। 3।
अरे राजा मैना राजकुमार इधर पलटू है। 4।
हे राजकुमार इधर चैत दाँदर है। 5।
उठ कर हे राजकुमार इसे देखो। 6।

इस नृत्य में छत्तीसगढ़ी "सुआनृत्य" की स्पष्ट छाप मिलती है।

तीसरा नृत्य "बेंदरी एन्दाना" (वानर-नृत्य) है, जो एक प्रकार का "पिरामिड" नृत्य है। युवक तथा युवतियाँ एक दूसरे के कण्ठ पर हाथ रखकर इस नृत्य में वलयीकृत होती हैं। चार छोटे लड़के आधा दर्जन लड़कों की पीठ पर चढ़ जाते हैं और बड़े लड़के तेज सीटी बजाते हुए उठते हैं। शेष दल शोभायात्रा का रूप धारण कर लेता है और "पिरामिड" के चारों तरफ डण्डों से आघात करते हुए आगे बढ़ता है। इसमें उप्लुति रहती है। ये तीन कदम आगे बढ़ते हैं, रुकते हैं, और पीछे की ओर थोड़ा झूलते हैं और आगे बढ़ते हैं। बीच-बीच में ये बन्दर जैसी "हुप-हुप" ध्वनि करते हैं। छोटे बच्चे बड़े की पीठ पर से उतर कर "जोहार" करते हैं।

अन्तिम नृत्य बहुत ही धीमा तथा शास्त्रोक्त होता है। युवक तथा युवतियाँ अपने कंधों से एक दूसरे का आलिंगन करती हैं और हाथ के डण्डे से एक लम्बी कतार बना लेती हैं। (ये दो कदम आगे बढ़ती हैं, दो कदम चलकर विश्राम करती हैं) और थोड़ा दायीं ओर बढ़ती हैं। जब कतार कुछ आगे बढ़ जाती है तो यह बायीं ओर से पीछे मुड़ती है। अंग-संचालन बहुत ही धीमा होता है साथ ही कठिन भी। गीत बहुत सहज होते हैं—

तेरे नारे नारे ना नारे। 1।
पोर्रे मेट्टा डिप्पा तेंदेरा लालसाय। 2।
डिप्पा तेंदसी बारा केवेरार लालसाय। 3।
डिप्पा तेंदसी बारा बितीरार लालसाय। 4।
डिप्पा तेंदसी गंगा परबत बितीरार लालसाय। 5।
गंगा बितसी बारा केवेरार लालसाय। 6।
गंगा पुंगार झेला जेवेरार लालसाय। 7।

हिन्दी-अनुवाद

पहाड़ के ऊपर डिप्पा बना है, राजकुमार। 2।
डिप्पा को क्यों काटेंगे, राजकुमार। 3।
डिप्पा में क्या बोएँगे, राजकुमार। 4।
डिप्पा में बोएँगे गंगा-तिल, राजकुमार। 5।
गंगातिल से हम क्या करेंगे, राजकुमार। 6।
गंगा-फूल को अपनी पगड़ी में लगाएँगे, राजकुमार। 6।

"महुआ-दांदर" यात्रा में सदाचरण से सम्बद्ध कोई "टेबू" नहीं होते। युवक तथा युवतियां स्वाभाविक तौर पर आलिंगनबद्ध हो जाती हैं। "डण्डारनृत्य" के अवसर पर जब एक युवक युवती के पास पहुँचता है तो उसकी भावप्रवणता बढ़ जाती है। वह अपने कूल्हों की घण्टियों को तेजी से हिलाता है और जैसे ही युवती उसके पास से गुजरती है। वह मुस्कुराता हुआ उसकी मनुहार करता है। यहाँ न तो कोई आत्मसजगता होती और न देवताओं का प्रकोप। "पूस-कोलांग" में इस प्रकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहाँ युवती पर किसी एक का अधिकार नहीं होता। सभी तो विवृतजघनाओं के ज्ञातास्वाद है और सभी उन्मुक्त हैं। इस अवसर पर भावी प्रणय के बन्धन भी निश्चित होते हैं।

हलबी-भतरी क्षेत्र में "चैत-दांदर" को "चैतराही" नाच कहा जाता है। इस सम्बन्ध में केदारनाथ ठाकुर (1908:100) की टिप्पणी द्रष्टव्य है—"चैत्राही नाच सिवाय फाल्गुन के जब कभी भले लोगों के यहां विवाह इत्यादि

कोई भारी उत्सव होता है, तो अन्त में चैत्राही नाच कराते हैं। यहाँ तक कि विदेशी लोग जो बहुत दिन से यहाँ आकर एक प्रकार से मुस्तकिल वाशिन्दे हो गए हैं, वे लोग भी अपने-अपने घरों में डण्डारी व चैत्राही नाच अवश्यमेव कराते हैं। नहीं कराने से उस मनुष्य की कीर्ति अधिक नहीं होती है। नाचवालों को सिर्फ कम से कम पाँच रुपया और एक बकरा देना पड़ता है।"

डण्डारी-नाच

दण्डरास विविध नामों से समूचे बस्तर में मनाया जाता है। "दन्तेश्वरी देवी के सम्मान में बसंतपंचमी से लेकर फाल्गुन की समाप्ति तक "डण्डार-नाच" होती है। प्राचीन काल में "नौ दिन तक छड़ी, चँवर, हाथी, इत्र, बाजा आदि के साथ प्रतिदिन माई जी की डोली निकालते रहे हैं और लोग होली गाते हुए तालाब तक जाते रहे हैं। रग, गुलाल, बाजा, धूमधाम से छींचते और बजाते हैं। आने पर रात को भोग लगाया जाता है। होलिकादहन के के दिन "अँवरा-मार" होता है। मैदान में और माई के मन्दिर के सामने टोकनों से आँवले तोड़कर रखे जाते हैं। सब लोग हिस्सा करके अपने-अपने पास रखते हैं और दो पार्टी होकर एक दूसरे को मारते हैं। "फाल्गुन में "स्वांग" का खेल होता है। शुक्ल पंचमी के दिन "टाकरा" निकालते हैं और "नाच-कोठार" में दो टाकरों में कपड़े ढाँक कर "माता-तरई" के पास गीत गाते हुए जाते हैं और वहाँ डण्डार नाचते हैं। रात को बहुत देर तक नाच कर लोग वापस जाते हैं। बाद देवी की पूजा करके मन्दिर में "टाकरा" रख देते हैं। दूसरे रोज भी उसी तरह रात को नाचते हैं। तीसरे रोज डोली बस्ती में घुमाते हैं।

प्रतिदिन डण्डारी नाचते हैं। इस नाच में किस्म-किस्म के स्वांग बनाकर नाच करने वाले लोग नाचते हैं।" (बस्तरभूषण 99)

भतरी के डण्डारी-गीत प्रायः होली के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें होली-गीत भी कहा जा सकता है। भतरी का एक गीत यहाँ प्रस्तुत है—

काय काय माले, काय काय धरिला।
सुन्दर मनी राधिका ॥1॥
सेमी माले कुमण्डा धरिला
सुन्दर मनी राधिका ॥2॥
तोर आया काय काय बलिला
सुन्दर मनी राधिका ॥3॥
डंड़ी बनाय देवी बलिला
सुन्दर मनी राधिका ॥4॥
तोर आया तोके ठगिला
सुन्दर मनी राधिका
सुन्दर मनी राधिका ॥5॥

हिन्दी-अनुवाद

कौन-कौन सी माला, क्या-क्या धारण किया।
लावण्यवती सुमधुर राधिके ॥1॥
सेमी की माला को कूष्माण्डक ने धारण किया।
लावण्यवती सुमधुर राधिके ॥2॥

तुम्हारी माँ ने क्या-क्या बोला ।
लावण्यवती सुमधुर राधिके ।।3।।
शीघ्र उसने देवी से निवेदन किया ।
लावण्यवती सुमधुर राधिके ।।4।।
तुम्हारी माँ ने तुम्हें ठग लिया ।
लावण्यवती सुमधुर राधिके ।।5।।

3.4.4. छेरता नृत्य अर्थात् शरदोत्सवनृत्यः

सम्पूर्ण बस्तर में प्रतिवर्ष पौष की पूर्णिमा का उत्सव जनजातियों में वड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस उत्सव को हम नई फसल की उपलब्धि के आनन्द का प्रतीक कहें तो गलत न होगा । यह पर्व "छेर-छेर-पुन्नी" के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर्व में बालक-बालिकाओं की टोलियाँ नगर तथा गाँवों में तीन दिनों तक प्रसन्नतापूर्वक नाचती-गाती निःसंकोच होकर माँगती-फिरती हैं । लड़कियों की टोलियाँ अक्सर शाम को निकलती हैं।

"छेरता"—नामक यह उत्सव बस्तर की परजा तथा माड़िया नामक जनजातियों को छोड़कर सम्पूर्ण आदिवासियों के द्वारा पूरे बस्तर में पौष महीने में अत्यन्त धूमधाम के साथ मनाया जाता है। यह तीन दिनों तक चलकर पौष पूर्णिमा को समाप्त होता है।

नवयुवक समूहबद्ध होते हैं तथा अपने साथियो में एक का चुनाव "नकटा" के रूप में करते हैं। नकटा की साजसज्जा विदूषक जैसी होती है। नवयुवतियों के बीच भी एक "नकटी" होती है। ये दोनों मुँह में एक पोंगरी" रखकर नाचते हैं। "पोंगरी" से गीतों भरी भन-भन का ध्वनि आती है। इनके साथ समुदाय के सदस्य भी गीत छेड़ देते हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक–12)।

"नकटा" बने हुए युवक को कतिपय गाँवों में "लँगोटी" पहना कर देह में राख लगाकर उसका भेस साधु का बना दिया जाता है। उसके गले में गटर की माला रहती है। दो लड़कों को स्त्री-पुरुष का स्वांग करना होता है। माँगने पर जाते समय दूसरों के घरों में जाकर साधु बन बैठकर माला की लड़ियाँ फेरने लगता है तथा स्त्री-पुरुष स्वांग का बनाने वाले लड़के नाचने लगते हैं। उन्हीं के साथ शेष लड़के नाचते हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक–11)।

युवतियाँ मिट्टी की "पुतरी" बनात्ती हैं तथा उसे आभूषण तथा वस्त्र पहनाती हैं। पुत्तलिका को टोकने में चिराग के साथ रखकर वे भी नृत्यमग्न हो जाती हैं (छायाचित्र क्रमांक–13)।

ये घर-घर जाकर गीतों भरा नाच प्रस्तुत करते हैं तथा गृहस्वामी पुरस्कार के रूप में इन्हें धान, चावल तथा रुपया आदि देता है नृत्योत्सव की समाप्ति पर युवक तथा युवतियाँ एक जलाशय के किनारे सहभोज के लिए एकत्र होती हैं। प्राप्त सामग्री को संचित करती हैं। रुपयों से बकरा खरीदते हैं। सभी मिल-जुलकर पका कर खाते हैं और दिन भर खेल कर रात को घर जाते हैं।

मुरियाक्षेत्र का क्षेरतानृत्य

हमने अपने विवेचन में यह कहा है कि अनेक "घोटुलों" में "पूस-कोलांग" नृत्यों का आयोजन नहीं होता। कुछ तो ऐसे भी गाँव हैं जो "महुआ-दाँदर" नृत्य में सम्मिलित नहीं होते। ऐसे गाँवों के "चेलिकों" का ध्यान "छेरतोत्सव" पर होता है। ऐसे भी गाँव हैं, जहाँ "छेरता" के साथ अन्य नृत्यसमारोह आज भी आयोजित होते हैं।

मुरियाजनों की मान्यता है कि "कडरेंगाल" तथा "तलुरमुत्ते" के विवाह के अवसर पर मदिरा की कमी हो गयी थी। "चेलिकों" से अतिरिक्त मदिरा व भोजन की व्यवस्था के लिए कहा गया था। "चेलिकों" ने अतिरिक्त

व्यवस्था की तथा विवाह निर्विघ्न समाप्त हुआ। मुरिया-क्षेत्र से बाहर यह किंवदन्ती शिव तथा पार्वती के विवाह से सम्बद्ध है। मुझे सन्देह है कि "छेरता" विशुद्ध मुरिया-नृत्य हैं; क्योंकि एक तो यह बस्तर सहित सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ में प्रचलित हैं और दूसरे "छेरतागीतों" की भाषा मुरियाक्षेत्र में भी हलबी है।

मुरियाजनों के लिए यह हास-परिहासयुक्त एक आकर्षक नृत्य है। इसके माध्यम से ये मदिरापान तथा सह-भोग में सम्मिलित होते हैं। इसमें उन भयावह दण्डों का विधान नहीं है, जो "पूस-कोलांग" में मिलते हैं। इस कारण "छेरता" का व्यापक रूप से प्रसार मध्य तथा पूर्वी मुरिया-क्षेत्र में हुआ है।

यहाँ "छेरता" नृत्योत्सव में लड़के तथा लड़कियाँ साथ-साथ यात्रा के लिए जाते हैं। ये यात्रा करने वाले गाँव के "घोटुल" में नाचते हैं तथा वहीं सोते हैं। अतिथि तथा आतिथेयी एक-दूसरे को आनन्दित करते हैं। अतिथि-दल की युवक-युवतियाँ रात्रि में घोटुल के बड़े लोगों से "जोहार" करती हैं मालिश के लिए एक-दूसरे की "मोटि-यारी" की अदल-बदल करते हैं। यात्री अपने साथ आग भी ले जाते हैं तथा अपने भोजन को स्वयमेव पकाते हैं।

दिन के समय यात्रादल गाँव के चारों ओर नृत्य करते हुए माँगते हुए जाता है। इस नृत्य का नेता एक युवक होता है, जिसे "नकटा" कहा जाता है। वह सजा होता है—कभी चीथड़ों में तो कभी "टिप-टाप" वस्त्रों में। वह तूंबे का एक "मुखौटा" लगाए रहता है। वह तूँबा प्रायः अलंकृत होता है। आँखों के स्थान पर दो मुद्रिकाएँ लगी रहती हैं। मोम की एक नाक बनी रहती है। मुख वाले भाग को आरेखित कर दिया जाता है तथा अनाजकणों से दाँत बने रहते हैं। नीलगाय या भालू के बालों की दाढ़ी बना दी जाती है। शिखा के रूप में मयूर-पंख के गुच्छ को लटकाया जाता है। नर्तक जैसे ही एक गाँव से दूसरे गाँवको जाते हैं और लम्बे-लम्बे दण्डों से भूमि पर प्रहार करते हैं। ऐसी स्थिति में 'नकटा' हास्यास्पद अभिनय तथा मसखरी के साथ उछल-कूद करता है। दो-तीन लड़के टोक-नियाँ लिए रहते हैं और जब शेष युवक नृत्य में मग्न होते हैं, ये घरों में जाकर मदिरा, चावल, दाल या विविध प्रकार के भोजन की माँग करते हैं। संग्रहीत अनाज को युवतियाँ इस समय पकाती हैं, जब युवक नृत्य कर रहे होते हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक-12)।

यात्रा से लौटने पर युवक तथा युवतियाँ "नकटे" को पास वाली जलधारा के पास ले जाती हैं। उसे कीचड़ में लुढ़काते हैं। पानी में गोता खिलाते हैं और खाने के लिए "मंडैया" की रोटी देते हैं। उसे पानी के भीतर शिर रख कर रोटी खाना होता है।

"नकटा" के अतिरिक्त अन्य परावर्त्तन भी छेरता" उत्सव को सजीव बना देते हैं। रेमावण्ड में मैंने एक आदिम खिलौना देखा था। बाँस की एक मोटी लकड़ी के ऊपरी सिरे पर एक पक्षी बना होता है, जिसे पकड़ने के लिए एक डोरी के माध्यम से बन्दर तथा पक्षी के चित्रों को गतिशील किया जाता है। बाँस के खंभे के नीचे एक सांगी-तिक खोल रहती है और ऊपरी सिरहाने पर एक बौने व्यक्ति की प्रतिकृति। डोरी खींचने से खिलौने के ऊपर झांझनुमा वाद्य बजने लगता है (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-10)।

"छेरता" में विविध प्रकार के "मुखौटों" का प्रयोग होता है तथा भाँति-भाँति के नृत्यदण्डों का व्यवहार होता है। रेमावण्ड में 'छेरता' के नृत्यदण्ड को "जड़र-बड़गर" कहा जाता है। इसमें मुंदरी में लगा हुआ लोहे का एक छत्र होता है (द्र० छायाचित्र क्रमांक-10)

"छेरता" गीत दो प्रकार के होते हैं। युवकों द्वारा गाए जाने वाले गीतों को "छेरछेरा" कहा जाता है तथा युवतियों के द्वारा गाये जाने वाले गीत "तारा" गीत नाम से सम्बोधित होते हैं। सभी जनजातियों में गीत का माध्यम हलबी ही है।

पुरुषों का छेरतागीत

'छेरता' में प्रयुक्त होने वाले गीत विश्रृंखलित तथा अस्पष्ट होते हैं, जिनमें असम्बद्ध विम्बों तथा प्रतीकों की एक श्रृंखला होती है। इन गीतों में याचना के भाव में आम सहमति मिलती है—

छेर छेर
झीर लिटी झीरलिटी पंडकी मारा लिटी ।
डोकरा-डोकरी झगड़ा होला, चापुन दीला लुठी–
हो चापुन दीला लुठी ।। छेर छेर ।।1।।
एकबाड़ी के कुदू-कूदू , हयँ बाड़ी के कुदू ।
बुड़गी बरहाँ के घोड़ा चेघू आय, डूमर बेड़ेया बुधू–
हो डूमर बेड़ेया बुधू ।। छेर छेर ।।2।।
आदन लगा धौंडा लगा, टोंड के घरली कसा ।
लसा काजे झगड़ा होला, फोटकू आरु दसा–
हो फोटकू आरु दसा । छेर छेर ।।3।।
करकरेया कोकड़ा, सोरा गार पाड़े ।
डोकरी काजे फाँदा मँडाले, डोकरा गार पाड़े–
हो डोकरा गार पाड़े ।। छेर छेर ।।4।।
गाड़ा उपरे गोड़ोंदी, चोंड़ा उपरे खीला ।
गाड़ा चेघी हाँक देयला, बस्तरेया पीला–
हो बस्तरेया पीला ।। छेर छेर ।।5।।
अयले बाड़ी कुदू कुदू, पयले बाड़ी कुदू ।
बाड़ी चेघी हाँक देयसे, कोहका-पालेया लुदू–
हो कोहका-पालेया लुदू ।। छेर छेर ।।6।।
माँगुर माछार पोई-पोई, टेंगना माछर पोई ।
मर नकटा नाचसे आचे, कलबडाहा होई–
हो कलबडाहा होई ।। छेर छेर ।।7।।
काय काजे रे नकटा लेका, तोलगी लमालीस ।
कारी बाई के दखुन भाती, मोहनी लगालीस–
हो मोहनी लगालीस ।। छेरछेर ।।8।।
हमेला कि जमेला, गाय गोहड़ी दूध ।
दूध हाँडी फूटुन गेले, मेहेर मूँडा दूध–
हो मेहेर मूँडा दूध । छेर छेर ।।9।।
नानी नानी कियारी, मोटो मोटो ढेला ।
उठ नकटी दीया बार, नकटा इलो बेरा–
हो नकटा इलो बेरा ।।10।। छेर छेर ।।
कारी आमा लूरे लूरे, पँडरी आमा लूरे ।

महाँदेव चो परताप ने, पँडरी बायले मिरे–
हो पँडरी बायले मिरे ॥11॥ छेर छेर।
तेतर बोटी टिंगाली, राम दुआरे माचा।
माचा चेघी हाक देयला, दुय मामा-भांचा–
हो दुय मामा भांचा ॥12॥ छेर छेर।
नुँआ नाँगर बारी-बारी, जुना नाँगर बारी।
ए गाँव चो लेकीमन के, कोल्हेया निलो आरी–
हो कोल्हेया निलो आरी ॥ छेर छेर ॥13॥

छेरछेरा की बेरबेरा, बादर घड़घड़ा।
डेंगा दादा एतो रलो, पावली अड़गड़ा–
हो पावली अड़गड़ा ॥ छेर छेर ॥14॥
नानी लावा गुरी गुरी, बड़े लावा गुरी।
झटके बिदा देस काका, तुचो भायँ चो पुदी–
हो तुचो भायँ चो पुदी ॥ छेर छेर ॥15॥

अयले पार चो कोकड़ा, पयले जायसे।
पयले पार चो राउत लेका, मारुन खायसे–
हो मारुन खायसे ॥ छेर छेर ॥16॥
आदन लसा घौंड़ा लसा, पौंद के धरली कसा।
आवरे बाई चिकनखौंसा, भैलवाँ तेल के घसा
हो भेलवाँ तेल के घसा। छेर छेर ॥ 17 ॥
लाल-भाजी मेटा-मेटा, पालक-भाजी मेटा।
गाँडा घरे दुय सोउत, रोजे मारा-पेटा–
हो रोजे मारा-पेटा। छेरछेर ॥ 18 ॥

हरदी मूँडी हरदी मूँडी, मोर टँगेया मूँडी।
एता हुता काय के दखसे, जाव रे पैसामूँडी–
हो जाव रे पैसामूँडी। छेर छेर ॥ 19 ॥
इती कोल्हिया, हुती कोल्हेया
कुलूर बायले के धरी परायला, मूँडी गुड़िया ढोलेया–
हो मूँडी गुड़िया ढोलेया। छेर छेर ॥ 20 ॥

कारी डाँडा लूरे लूरे, पँडरी डाँडा लूरे।
महादेव चो परसाद ने, पँडरी बायले मिरे–
हो पँडरी बायले मिरे। छेर छेर ॥ 21 ॥
हड़हड़ेया कोकड़ा सोरा गार पाड़े।
डोकरा काजे फांदा रोपले, डोकरी गार पाड़े–
हो डोकरी गार पाड़े। छेर छेर ॥ 22 ॥

चाउँर छड़े मूसर मारे, करम-करम करे।
बेटा काजे बोहारी आने, तुरते बाग धरे–
हो तुरते बाग धरे। छेर छेर॥ 23॥
आमटी आमा बोरोन्डी, पीपरावंडी गाँव।
एक बेटी चो दुय जवँई, नारावंडी गाँव–
हो नारावंडी गाँव। छेरछेर॥ 24॥
अयले ढोड़ा, पयले ढोड़ा, मंझी दाँदर ओड़ा।
दाँदर दख के जा बोड़ा, तोहरी हाँड़ा-गोड़ा–
हो तोहरी हाड़ा-गोड़ा। छेर छेर॥ 25॥
जाय कुइँ
बन भैंसा आन तान,
खाए लसुन पान-पान–
जाय कुइँ॥ 27॥ छेर छेर।
चरि बुली आव भैंसा,
साँझ वेरा ठानठान,
जाय कुइँ॥ 27॥ छेर छेर।
खत कुढ़ा चो काटा खूटी, कलार घरो भाटी,
भाटी चो मुँडी के आइग धरे, पींडा के चावली चाटी–
हो पींडा के चावली, चाटी। छेर छेर॥ 28॥
भुकु ते भुकु, कुवाँरि डेंगुर झुकु,
पिला राजा भैरमगढ़ चो, जोड़ा चँवर धुकु–
हो जोड़ा चँवर धुकु। छेर छेर॥ 29॥
कर-कराती कराती, पिंपर पान चो ढेटी,
चिकन-चाकन मंद बेचे, जात कलारिन बेटी–
हो जात कलारिन बेटी–
जाय कुइँ। छेर छेर॥ 30॥
बैला माहाँग, भैंसा माहाँग, माहाँग बोकड़ी-छेरी।
पढ़ुक लिखुक नी जानले, बलदे 'तेरी-मेरी'।
बलते 'तेरी-मेरी' हो बलदे 'तेरी-मेरी'। छेर छेर॥ 31॥
राज-काज के जानते जाना, तुमचो मूँडे भार।
एबे बले नी जानले, जाहासे धारे-धार।
जाहासे धारे-धार हो जाहासे धारे धार। छेर छेर॥ 32॥
पढ़ुक लिखुक कुरसी बसा, राजा के चलावा।
जोहार बाबू बलले कोनी, मूंड के हलावा–
हो मूंड के हलावा। छेर छेर॥ 33॥
मंदसुर के छाँडते छाँडा, नीको ने हाँय मंद।

भाटी बाटे जाउन दखा, खूबे लंद-फंद–
हो खूबे लंद-फंद। छेर छेर ।। 34 ।।
घरा-झूमा लोंढा-पाड़ा, आउर मारा पेटा।
बारा बाखना, कुकड़ी चाखना, बाप के मारलो बेटा–
हो बाप के मारलो बेटा ।। 35 ।।

हिन्दी-अनुवाद

(1) लघु काय लिटी पक्षी, पंडाख्ता को मारने वाली लिटी
बूढा-बूढ़ी में झगड़ा हुआ, बुढ़े ने लुकाठी से जला दिया ।। 1 ।।

(2) इस बाड़ी को कूदते-कूदते, उस बाड़ी में कूद गया।
बूढ़े सूअर पर घोड़ा चढ़ता है, गूलर-खेत वाला बुद्धू ।। 2 ।।

(3) साजा लगा घवँडा लगा, मुँह को कसैले चावल ने जकड़ लिया।
गोंद के लिए झगड़ा हुआ, फोटुकू और दसा के बीच ।।

(4) वदमाश बगुला सोलह अण्डे देता है।
बूढ़ी के जिए फंदा बनाया, बूढ़ा अण्डा देवे ।।

(5) छोटी बैलगाड़ी के ऊपर बच्चों की खेलने की गाड़ी।
वैलगाड़ी के ऊपर चढ़कर पुकारा, वस्तर के शिशु ने ।।

(6) इस बाड़ी में कूदने वाला, उस बाड़ी में कूदने वाला
बाड़ी पर चढ़कर पुकारे कोहकापाल का लूदू ।।

(7) मंगरी मदरीपोई भाजी है, टेंगना मछरी पोई भाजी
मर नकटा नाचता है, कल्पदाह में पड़कर ।।

(8) किसलिए रे नकटा, लड़का, तोलगी (पूँछ) फैलाता है
कारी बाई को देखकर, आकर्षित करता है ।।

(9) शुद्ध या अशुद्ध है गाय-गोहड़ी का दूध।
दूध की हाँडी फूट गयी, मेहेर बाँध में दूध ।।

(10) छोटी-छोटी क्वारी, बड़े बड़े ढेला
उठ नकटी दिया जला, नकटे की आगमन बेला ।।

(11) काले आम की सुरक्षा-सुरक्षा, पाण्डु आम की सुरक्षा
महादेव के प्रताप से गोरी औरत मिले ।।

(12) नये नाँगर में आग लगी, पुराने हल में आग।
इस गाँव की लड़कियों को गीदड़ ले जाएगा रे ।।

(13) इमली की बोटी लम्बी-लम्बी, राम-द्वार पर माचा।
माचा पर चढ़ आवाज दें, मामा और भांजा ।।

(14) शरदोत्सव के समय बादल की घड़घड़ाहट।
लम्बे दादा आ रहे थे, लकड़ी की आड़ में उलझ गए ।।

(15) छोटा लावा (पक्षी) भी गुटिका-सा, बड़ा लावा भी गोटी-सा
शीघ्र विदा कर दे काका, तेरी माँ की चूत ।।

(16) इस तरफ का बगुला उस तरफ जा रहा है
उस पार का राउत लड़का उसे मार कर खाता है ।

(17) साजा वृक्ष में गोद, धँवड़ा वृक्ष में गोद, पोंद में लग गई घाना ।
आ रे युवती सुन्दर जूड़ों वाली, भेलवाँ तेल की मालिश कर ।

(18) लाल भाजी कपाट का आधार, पालक भाजी कपाट का आधार ।
गांडा के घर दोनों सोवें, रोज मारपीट ।।

(19) हल्दी के सिर वाली, हल्दी के शिर वाली, मेरे कुल्हाड़ी के शिरवाली
इधर-उधर क्यों देखती है, जा किसी के यहाँ पैठू बन जा ।।

(20) इधर सियार उधर सियार
भटकने वाली स्त्री को लेकर भागा, शिर में गुड़ का पकवान ।।

(21) काला गन्ना रक्षा करे, सफेद गन्ना रक्षा करे
महादेव की कृपा से गोरी औरत मिले ।।

(22) उदार बगुला सोलह् अण्डे देता है
बूढ़े के लिए फंदा बनाया, डोकरी अण्डे देती है ।

(23) चावल बिखरे मूसल मारने से, करम-करम की आवाज करे
बेटा के लिए वधू लाया, तुरन्त बाघ ने पकड़ा ।।

(24) बोरोण्डी गाँव का आम खट्टा है, पीपरावण्डी गाँव का भी
एक बेटी के दो पति, नारावण्डी गाँव में ।।

(25) इधर धारा उधर धारा, बीच में दैत्याकार जाल फँसा है
जाला देखकर न जा साँप, तेरा हड्डी-पसली ।

(26) किधर जाऊँ, वनभैंसा है बिगड़ैल
खाए लहसुन का पत्ता ।।

(27) चर-घूम आ भैंसा, सायंकाल अड्डे पर आ
जाऊँ किधर ।।

(28) खेत के ढेर के काँटे, कलार के घर शराब की भट्टी
भट्टी में आग लग गयी, पोंद को काटा चींटी ने ।।

(29) दीमक के घोंसला से दीमक का घोसला, कुँआर में दीमक का भुकु ।
भैरमगढ़ का राजा शिशु है, दो जोड़ी चँवर धौंके ।।

(30) पीतल के पत्ते का डंठल, करकराती ध्वनि ।
चिकनी-सुन्दरी शराब बेचे, कलार की बेटी ।।

(31) बैल महंग भैंसा महंग, महंग बकरी-छेरी ।
पढ़ना-लिखना नहीं जानेगा, तो बोलेगा "तेरी-मेरी ।

(32) राज-कार्य को समझते चलो, तुम्हारे शिर पर भार है ।
"जोहार बाबू" बोले कोई, शिर को हिलावो ।।

(33) पढ़-लिख कर कुर्सी पर बैठो, राज्य को चलावो ।
"जोहार बाबू" बोले कोई, शिर को हिलावो ।।
(34) शराब-मदिरा-को छोड़ दो, मदिरा अच्छी नहीं होती ।
शराब की भट्ठी के पास जाकर देखो, कितना झगड़ा होता है ।
(35) मारा-पकड़ी, उठा-पटक, और झूमा-झपटा ।
बारह प्रकार की गालियाँ, मुर्गी का गिजा, बाप को मारे बेटा ।।

4.4.5 तारा-नृत्य

छेरता-गीत जिस प्रकार नवयुवकों के द्वारा गाया जाता है, उसी प्रकार तारागीत उसी समय नवयुवतियों के द्वारा गाया जाता है। नवयुवतियाँ समूहबद्ध होकर मृत्तिकापात्र में प्रज्ज्वलित दीपक लिए रात्रि के प्रथम पहर में गुड़ियाँ लेकर घर-घर घूमती हैं तथा नवयुवकों की भाँति उपहार पाकर एक जलाशय के किनारे सहभोज करती हैं। उनके स्वर सम्पूर्ण गाँव में गीत बन कर बिखर जाते हैं—

तारा ते तारा, ए सरगर तारा ।
देयले दिया नाहाँले, जीवू आमर पारा–
री जीवू आमर पारा ।।1।।
तारा ते तारा, ए सरगर तारा
ना देवले काय करबू, जीवू आमर पारा–
री जीवू आमर पारा ।।2।।
तारा ते तारा, ए सरगर तारा ।
मुठाएक चाउर लोभ करले, जीवू आमर पारा–
री जीवू आमर पारा ।।3।।
थापा ते थापा, माछ मरिया छापा ।
एगाँव चो लेकामन के, बाटे नेउन चापा–
री बाटे नेउन चापा ।।4।।
दोनी ते दोनी, चौकोनी दोनी ।
काम बुता के छाडुन दिली, री पाठ पढू नोनी–
री पाठ पढू नोनी ।।5।।
बेठते बेठ कुहाली बेठ ।
माघ महेना छांडी-छाँडी पूस महेना भेट–
री पूस महेना भेट ।।6।।
लोढ़ा ते लोढ़ा हरदी पिसा लोढ़ा ।
खोरे खोर बूलसी आचे, साल बँधिया घोड़ा–
री साल बँधिया घोड़ा ।।7।।
लाई झीकरा री, लाई झीकरा ।
देयले दिया नाहाँले नाई, इँडिक नीकरा–
री डँडिक नीकरा ।।8।।

रुरु री रारा, मायँ गोदल पारा ।
पतर माँगुक वी बलले, उदलिया पारा–
री उदलिया पारा ॥9॥

ठोटी गागड़ा री, ठोटी गागड़ा–
देयले दिया नाहाँले नाई, बेसि उघाड़ा–
री बेसि उघाड़ा ॥10॥

उड़ि गला चटियारी, उड़ि गला चटेया ।
ए घरो बाई पिंघली, बाजनी झुटिया–
री बाजनी झूटिया ॥12॥

छींदी ककवा ते, छींदी ककवा ।
ए गांव चो धाँगड़ीमन, राज चो भकवा–
राज चो भकवा तेंबे गोरी लोक
राज चो भकवा ॥13॥

गाड़ा रावनी,
तेंबे गोरी लोक गाड़ा रावनी ।
अंतागढ़िन धाँगड़ीमन एके दावनी–
एके दावनी गोरी लोक
एके दावनी ॥10॥

सुखलो पतर
तेंबे गोरी लोक, सुखलो पतर ।
ए गांव चो धाँगड़ीमन, एके बतर–
एके बतर तेंबे गोरी लोक
एके बतर ॥18॥

चाउर वोड़ोना,
तेंबे गोरी लोक चाउर बोड़ोना ।
कुमरावंडिन धाँगड़ीमन, मूँडे ओड़ोना–
तेंबे गोरी लोक
मूँडे ओड़ोना ॥16॥

छींदी बोभोती,
तेंबे गोरी लोक छींदी बोभोती ।
ए गांव चो धाँगड़ीमन, अच्छा फोबोती–
तेंबे गोरी लोक, अछा फोबोती ॥17॥

सोली ते सोली री, चाउर नापा सोली ।
गांधी बाबा चो परताप ने, रय्यत राज होली–
री रय्यत राज होली ॥18॥

बेल ते बेल री किंदर अमरबेल ।
चारी कुती बिहरी पानी, डुबकी मारुन खेल–
 री डुबकी मारुन खेल ॥19॥

चांडा कडरा री बांडा कडरा ।
बायले मनचो मन्द खातोर, बड़े अडरा–
री बड़े अडरा ॥20॥

बांगा ते बांगा डुलडुलिया बांगा
पढुक लिखुक सिकतो काजे, घर-घर ने सांगा–
री घर घरने सांगा ॥21॥

हिन्दी-अनुवाद

(1) हे तारा देवी, स्वर्ग की तारा देवी, देना हो तो दें, नहीं जाऊँगी अपने पारा

(2) तारा से तारा, हे स्वर्ग की तारा, न दोगे तो क्या करूंगी, जाऊँगी अपने मोहल्ला ॥

(3) तारा से तारा, हे स्वर्ग की तारा, मुट्ठीभर चावल का सबाल है, जाऊँगी अपने पारा।

(4) मछली का फंदा, से मछली का फंदा, मछली मारने का फंदा।
इस गांव के लड़कों को, रास्ते में ले जाकर जला देना चाहिए ॥

(5) दोनी से दोनी, चौकोनी दोनी;
काम-काज को छोड़ दिया, पढ़ने वाली लड़की ॥

(6) पुआल की रस्सी से पुआल की रस्सी, सड़ी हुई पुआल की रस्सी।
माघ महीने में छोड़-छाड़ पूस महीने में मुलाकात ।।

(7) लोढ़ा से लोढ़ा, हल्दी पीसने का लोढ़ा।
घरद्वार घूमोगी तो, शाल में घोड़ा बँध जाएगा ।।

(8) लाई हड़पने वाली, री लाई हड़पने वाली।
देना हो तो दे, नहीं तो नहीं, थोड़ा तो बाहर निकल।

(9) रुठ रारा, माँ गोदेल मुहल्ले में है।
पत्ता माँग कर नहीं बोलता, स्वेच्छा से उसके पास चली जाऊँगी, उसके मुहल्ले ।

(10) खुट्टल कुल्हाड़ा, री खुट्टल कुल्हाड़ा
देना हो तो नहीं नहीं देना हो तो नहीं, दरवाजा तो खोलो ।

(11) उड़ गया जल-कुकड़ा, री उड़ गया जल-कुकड़ा ।
इस घर की महिलाने बजने वाली सुतिया पहन रखी है।

(12) उड़ गई चिड़िया, री उड़ गई चिड़िया ।
इस घर की महिला ने बजने वाली सुतिया पहन रखी है।

(13) खजूर के कंधे से, खजूर का कंघा ।
इस गांव के नवयुवक तो राजकाल से मूर्ख हैं।

(14) गीध की गाड़ी, गोरीजन, गीध की गाड़ी ।
अंतागढ़ की युवतियाँ, अकेले ही दामिनी हैं ।

(15) सूखा पत्ता, सुन्दरियो सूखा पत्ता
इस गाँव की नवयुवतियाँ, एक ही समान हैं ।

(16) चाउर चार गण्डे का, चावल चार गण्डे का
कुमरावण्ड की नवयुवतियों के लिए आठ सोली का, आठ सोली का ।।

(17) खजूर की रोटी, हाँ खजूर की रोटी, गोरीलोक खजूर की भाँति ।
इस गाँव की नवयुवतियाँ बहुत सुन्दर हैं, बहुत सुन्दर है ।

(18) सोली (काष्ठनिर्मित माप) से सोली, चावल नापने वाली सोली ।
गाँधी बाबा के प्रताप से, रय्यत का राज्य हुआ ।।

(19) बेल से बेल, तू घूम अमर बेल ।
चारों तरफ कुएँ का पानी, डुबकी लगाकर खेल ।।

(20) टेढ़ी छुरी, री टेढ़ी छुरी
महिलाओं की शराब की लत, बहुत बुरी री, बहुत बुरी ।।

(21) बैंगन से बैंगन, लम्बा बैंगन
पढ़ने-लिखने के लिए, घर-घर से कहो री, घर-घर से कहो ।।

4.5. क्रीडानृत्य : कर्सना एन्दाना

नृत्यों का एक बहुत बड़ा प्रकार ऐसा है, जिसे "एन्दना" (नाचना) न कह कर "कर्सना" (खेलना) कहा जाता है । यहाँ दोनों के मध्य भेद आकार का नहीं है, परिस्थिति का है । "एन्दाना" के लिए विशिष्ट अवसर होता है; यथा विवाह, उत्सव, जुलूस आदि; जब कि "कर्सना" किसी भी अवसर पर सम्पादित किया जा सकता है । उसके लिए पहले से निश्चित कोई अवसर नहीं होता । आमतौर पर अनौपचारिक रूप से यह नृत्य "घोटुलों" में ही होता है । वस्तुस्थिति तो यह है कि कतिपय "कर्सना" सचमुच खेल नहीं है, जिनमें हास-परिहास तथा बेहूदा आमोद-प्रमोद होता है : अपितु ये "एन्दाना" है, जिनमें कोई गम्भीर निहितार्थ नहीं होता ।

4.5.1. काकड़ा-कर्सना

इसे रेमावण्ड में "काकड़ा-कर्सना", मर्काबेड़ा में "मिन्दचना-कर्सना" एवं कुन्तपदर में "टुटुमरी-कर्सना" कहते हैं । अन्यत्र इसके अपर अभिधान भी हैं । इस नृत्य में लड़कियाँ एक घेरा बना लेती हैं । प्रत्येक लड़की पास वाली लड़की के घुटनों पर अपना हाथ रख लेती हैं अर्थात् अपना दाहिना हाथ अपने दाएँ ओर की युवती के बाएँ घुटने पर, उसके दाहिनी ओर की युवती अपना बायाँ हाथ उसके दाएँ घुटने पर । इस प्रकार पूरा घेरा हाथों से आर-पार लगने लगता है तथा युवतियाँ आगे की ओर झुकी रहती हैं । वे बहुत तेजी के साथ नाचती हैं, सीधे खड़ी हो जाती हैं, अपने कूल्हों पर अन्दर की ओर झटका देती हैं । इसी समय वे चारों ओर घूमती हैं । उनका मुँह बाहर की ओर होता है । इसी समय वे अपने-अपने कूल्हों से एक दूसरे पर आघात करती हैं, जिससे लोगों का मनोरंजन होता है । सिदवण्ड में जब युवतियों ने बाहर की ओर मुँह किया था, तो उन्होंने अपने घुटनों से हाथ को हटा लिया था और करतल ध्वनि की थी । इस नृत्य का एकमात्र भाव सम्भोग-क्रिया का अनुकरण करना है ।

एक नृत्यगीत लें—

कोन पारा जावे रे कोकड़ा, दुरुम रुचू दुरुम रुचू ॥1॥
कलार पारा जावे रे कोकड़ा, दुरुम रुचू दुरुम रुचू ॥2॥
केंवटा पारा जावे रे, दुरुम रुचू दुरुम रुचू ॥3॥
महरा पारा जावे रे, दुरुम रुचू दुरुम रुचू ॥4॥
(हे केकड़ा तू किस मोहल्ले में जाएगा ॥1॥
कलार मोहल्ले में जाएगा ॥2॥
केंवट मोहल्ले में जाएगा ॥3॥
महरा मोहल्ले में जाएगा ॥4॥

यहाँ पारों के नाम हरिजन जातियों के है। अस्वीकृतिमूलक ध्वनि "रुचु-रुचु" "रुचमुच-रुचमुच" का ही अवशिष्ट रूप है, जो सम्भोगक्रिया में चारपाई के हिलने से सुनाई देती है। बस्तर की जनजातियों में "केंकड़ा" सम्भोग का प्रतीक है।

4.5.2. जलकन्थाङ्ग करसना

युवक तथा युवतियाँ एक लम्बा घेर बना लेती हैं। वे पीछे से दायीं टाँग से प्रहार करते हुए मण्डलाकृति में बदल जाती हैं। कभी बाएँ मुड़ती हैं तो कभी दाएँ। इस आवर्तन के क्रम में दायीं टाँग से लत्ती मारती हैं और शरीर को झुकते हुए प्रक्षेपित करती हैं—

उट गुड़ गुड़ उट गुड़ गुड़ पोया लयाना नन्ना वर्रेना ॥1॥
हाटुम हंजि पाटुम तताना ननाय वर्रेना ॥2॥
वेड़ा हंजि कोडा तताना ननाय वर्रेना ॥3॥
हर्री हंजि मुदियो तताना ननाय वर्रेना ॥4॥
(बटेर 'उट-गुड़-गुड़' चिल्लाता है, मैं पोयाम लड़के से नहीं डरती ॥1॥
बाजार जाकर कपड़ा लाती हूँ, मैं डरती नहीं ॥2॥
खेत जाकर घोड़ा लाती हूँ, मैं डरती नहीं ॥3॥
सड़क जाकर पति चुनती हूँ, मैं डरती नहीं ॥4॥

4.5.3. नाक-डाँडी-करसना

पूर्ववर्त्ती अभ्यास का ही एक परिवर्त्य है "नाक-डाँडी-करसना" अथवा "भइँस-साँड़-करसना", जिसमें भैंस तथा साँड़ की रस्सी से बाँधने की अनुकृति होती है या उनके नाक में रस्सी फँसाने का अनुकरण होता है। युवकों तथा युवतियों का एक बड़ा परिमण्डल तैयार हो जाता है। अपने साथी की टाँग पर प्रत्येक का हाथ होता है, तथा एक हाथ ताली बजाने के लिए खुला रहता है। मण्डलाकृति कूद-फाँद के माध्यम से बनती है। दायाँ पैर आगे होता है और बायाँ पैर एक कूद के साथ बायीं ओर। सभी आगे की ओर झुकते हैं तथा अपनी भुजाएँ ऊपर-नीचे लहराते रहते हैं, जो एक दूसरे के टाँगों में फँसी रहती हैं। इस मिश्र नृत्य में संभोगक्रिया के दृश्य सुस्पष्ट रहते हैं। इस अवसर पर गाया जाने वाला गीत मैंने डोंगरीगुड़ा से संकलित किया है—

करिया बेला दरबार चले
करिया चो लाड़ी में डूल ओ चम्पा
करिया चो लाड़ी में डूल ॥1॥

डिण्डा लया दरबार चले
डिण्डा चो पगड़ी में ओ चम्पा
डिण्डा चो पगड़ी में फूल ॥2॥
मूंगा बैला दरबार चले
मूंगा चो लाड़ी में डूल ओ चम्पा
मूंगा चो लाड़ी में डूल ॥3॥
पँडरा बैला दरबार चले
पँडरा चो लाडी में डूल ओ चम्पा
पंडरा चो लाड़ी में डूल ॥4॥
डिण्डा लया दरबार चले
डिण्डा चो लाड़ी में डूल ओ चम्पा
डिण्डा चो लाडी में डूल ॥5॥

हिन्दी-अनुवाद

काला बैल राजसभा में जा रहा है
ओ चम्पा, काले बैल के घर में डोल
काले के घर में डोल ॥1॥
युवासाम्राज्य की युवती राज्यसभा में जाती है
युवा की पगडी में, ए चम्पा
युवक की पगडी में फूल ॥2॥
लाल बैल राज्यसभा में जा रहा है
लाल के घर में डोल रे चम्पा
लाल के घर में डोल ॥3॥
सफेद बैल राज्यसभा में जा रहा है
सफेद के घर में डोल रे चम्पा
सफेद के घर में डोल ॥4॥

4.5.4. उजुर-करसना

लड़कियों की दो पक्तियां एक दूसरे के सामने आकर इधर-उधर झूलती हुई गाती हैं—

उजुर उजुर कोनाड़ ते डेडाकोड़ माड़ ते ।
पइस ओना केवोम ॥1॥
उजुर उजुर कोनाड़ ते डेडाकोड माड़ ते
नेयी तरी वायकोम ॥2॥
उजुर-उजुर कोनाड़ते डेडाकोड़ माड़ ते
लागिर पया केवोम ॥3॥

छायाचित्र क्रमांक–8. नृत्य की मुद्रा में झोरिया मुरिया

हिन्दी अनुवाद

तीस पहाड़ियों के सफेद-सफेद कोने से
पकड़ कर उसे जाने न देंगे ।।1।।
तीस पहाड़ियों के सफेद-सफेद कोने से
तेल नहीं लगाने देंगे ।।2।।
तीस पहाड़ियों के सफेद-सफेद कोने से
लागिर नहीं होने देंगे ।।3।।

4.5.5. दुर्पा-डाँडी-करसना

"दुर्पा-डाँडी-करसना" कमलनाल का खेल है, जिसे "चिगरी-भुनभुनी" भी कहा जाता है। नेतृत्व करनेवाली युवती अपना दायाँ पैर अपने बाएँ घुटने पर रखती है। दूसरी युवती उसके दाएँ पैर पर खड़ी रहकर अपना बायाँ पैर नेतृत्व करने वाली युवती के दाएँ पैर पर रखती है और उसके शरीर को दाहिने कोण से सहारा देती है। दूसरी लड़कियाँ भी इसी अनुकृति के साथ मण्डल बना लेती हैं। माना जाता है कि यह कमल है, जो नाल के सहारे ऊपर स्थित है। प्रत्येक लड़की एक टाँग से कूदती हुई अपने हाथों से तालियाँ बजाते हुए गाती है—

दुर्पा डाँडी डाँडी लयोर, जामडार जामडार। 1।
डाँडी तोडी दाट लयोर, जामडार जामडार। 2।
डिण्डा लयोर आतेक लयोर, जामडार जामडार। 3।
जाति आवार डेवसी वायकी, जामडार जामडार। 4।
पिला-हालाड़ आतेक लयोर, जामडार जामडार। 5।
पिला ओण्डे कीस मन्दाकी, जामडार जामडार। 6।

हिन्दी-अनुवाद

ओ, कमलनाल-सा युवक, जामुन की डाली। 1।
कमलनाल तोड़ने जा युवक, जामुन की डाल। 2।
यदि तू अविवाहित है युवक, जामुन की डाल। 3।
बाड़े को कूद कर निकल जा, जामुन की डाल। 4।
यदि बाल-बच्चों वाला है युवक, जामुन की डाल। 5।
बच्चों को दुलारता रह युवक, जामुन की डाल। 6।

4.5.6. गुर्गुरिंग-गुस-करसना

अपने चूतड़ों पर हाथ रखे और सामने अंगुलिनिक्षेप करती हुई बालिकाओं की एक पंक्ति सर्पाकार गति से मण्डल के अन्तर्गत घूमती है। यह एक आकर्षक नृत्य है, जिसमें युवतियाँ क्षिप्रता किन्तु सुष्ठुता के साथ दौड़कर परावर्तन करती हैं और उनका शरीर थोड़ा अवनत रहता है—

हाहकीमेंड कोहला उस्ता
नावा नाड़ी नोल्ता, गुर्गुरिंग गुस। 1।
हाहकी मेंड वंजी उस्ता
नावा नाड़ी नोल्ता, गुर्गुरिंग गुस। 2।

हाहकीमेंड कोड़े उस्ता
नावा नाड़ी नोल्ता, गुर्गुरिंग ग्रुस । 3 ।

हिन्दी-अनुवाद

"गुर्गुरिंग" की ध्वनि कुलथी के पकने पर सुनाई देती है तथा उसी की अनुकृति पर है यह नृत्यगीत ।

ओखली भर कोहला कूटा
मेरी कलाई दर्द देती है । 1 ।
ओखली भर धान कूटा
मेरी कलाई दर्द देती है । 2 ।
ओखली भर कुलथी कूटा
मेरी कलाई दर्द देती है । 3 ।

इसी से सम्बन्धित एक गीत अधोलिखित है, जिसमें युवक तथा युवतियों के बीच मान-मनौबल की बात देखने को मिलता है—

रे रे लोयो रेलो रे रेला ॥
युवक : डोंडार ओदातांग मर्राह्क तत्तालाह्क वायेन्ते—
ए वाई झलको ॥ 1 ॥
युवती : मर्राह्क कोयला वायो नानो वायेनान—
ए दादा जेलकार ॥
लोतेर दायी मन्ना सिल्लेदार
नकनेरे दायी सिल्लेदार राँगार ॥ 2 ॥
युवक : बारिर आसी सुल्लाखो राँगार रोय ॥ 3 ॥
युवती : हत्तिन इंजोर सिल्लेदार राँगा रोय ॥ 4 ॥
रे रे लोयो रेलो रे रेला ॥

हिन्दी-अनुवाद

वर्षा के दिनों में वन्य से कन्दमूल फल खाने के युवक युवतियों को साथ चलने के लिए कहते हैं और युवतियाँ माँ का क्रोध वताकर मना करती हैं—

युवक : नाले के किनारे मसनी घास लेने चलतीं यदि मेरे साथ
हे झलको बाई ॥ 1 ॥
युवती : मसनी घास काटने के लिए तुम्हारे साथ में जरूर जाती -
ए दादा जेलकार
किन्तु घर में माँ है, सिलेदार
मुझे माता गाली देगी सिलेदार ॥ 2 ॥
युवक : सुलोरवो, माता क्यों गाली देगी ॥3॥
युवती : तुम्हारे साथ जाने पर मुझे डाँटेगी, सिलेदार ॥ 4 ॥

एक अन्य प्रतिद्वन्द्वितापरक कर्सनापाटा अधोलिखित है—

रे रे लोयो रे रेला रे रेला ॥

युवती : गोटियार मर्राता काड़ाल रोय निरोसा बाई
काड़ाल रेहलाय वायेन रोय निरोसा ॥ 1 ॥
युवती : वायो नायो वायेनान नेगी रोय दादा।
नकनेर दाई रोय नेगी रोय दादा राँगार।
सलबो रे रेला रे रेलो ॥ 2 ॥
युवक : बारी रासी राँगा रोय निरोसा बाई ॥ 3 ॥
युवती : हत्तीन इंजोर राँगा रोय नेगी दादा
सलबो रे रेला रे रेला ॥ 4 ॥

हिन्दी-अनुवाद

युवक : गोटियार वृक्ष का मधुरस, निरोसा बाई
मधुरस उतारने तुम मेरे साथ चलो निरोसा ॥ 1 ॥
युवती : जाती तो जाती नेगी दादा
मुझे माता डाँटेंगी, नेगी दादा ॥ 2 ॥
युवक : क्यों डाँटेंगी तुम्हें माँ निरोसा बाई ॥ 3 ॥
युवती : गयी हूँ यह जानकर डाटेंगीं।

4.5.7. डिटो-एन्दाना (गेड़ी-नृत्य)

घोटुल-कार्यक्रमों में 'डिटो-एन्दाना' का प्रवेश अभी हाल में ही हुआ है (छठवें दशक के मध्य में)। यह 'भीमुलदेवता' के सम्मान में किया जानेवाला एक नृत्य है। गेड़ी के पैरदान का निचला भाग खोखला होता है, जिसमें छोटी-छोटी गोलियाँ भरी रहती हैं और कोई भी स्पन्दन उन्हें लयपूर्ण वाद्य में परिवर्तित कर देता है। इन्हें 'अमा-डंस-पण्डुम' के अवसर पर जुलाई में तैयार किया जाता है। एल्विन (1947 : 651) ने इसका विस्तार के साथ वर्णन किया है—"वर्षा ऋतु में चेलिक नियमित रूप से अपनी-अपनी गेड़ियों पर चलते हैं और चूंकि उन गेड़ियों के खोखले निचले भाग में गोलियों की खनखनाहट होती रहती है, अतः उसके कारण बहुत अधिक शोर करते फिरते हैं। गेड़ियों पर चलते हुए ये एकमात्र जो खेल खेलते हैं, वह है गेड़ीयुद्ध, जिसमें ये एक-दुसरे को टक्कर मारकर उसे नीचे गिराने का प्रयास करते हैं। ये अपने एक पैर की गेड़ी को जमीन के ऊपर उठाकर उससे दूसरे लड़के को मारने में दक्ष हो जाते हैं। ये एक गेड़ी को ऊपर उठाए एक पैर से कूद-कूद कर बहुत ही कुशलता के साथ एकल नृत्य करने में योग्य होते हैं।"

सितम्बर माह के अन्तिम दिनों में 'कोड़ता-पण्डुम' के अवसर पर ये चेलिक अपनी-अपनी गेड़ियाँ खोलकर उन्हें भीमुल देवता के मन्दिर में जमा कर देते हैं। इस प्रदर्शन में नर्तकों के साथ केवल दो ढोलवादक होते हैं, जिनमें एक 'कुन्दीर' (द्र० 2.3.14) बजाता है और दूसरा 'पर्राइ' (द्र० 2.3.19)। कुछ गाँवों में 'माँदरी' (द्र० 2.3.22) भी होती है। इस प्रदर्शन की सबसे ज्यादा ध्यानाकर्पक विशेषता यह है कि ढोल और गेड़ियों के स्वरों के बीच में पंचम स्वर का प्रयोग होता है। ढोल छह ताल की धुन बजाते हैं जबकि गेंड़ी में तो ताल ही बजाए जाते हैं। 'पर्राइ' के धुन में उतार-चढ़ाव तथा स्वरालंकरण में विविधता मिलती है—

गेंड़ी	बायीं ओर ● ●	दायीं ओर ● ●
कुन्दिड़	दायीं ओर ● दायीं ओर	बायीं ओर दायीं ओर बायीं ओर इत्यादि
पर्राइ	बायीं ओर ● दायीं ओर	बायीं ओर दायीं ओर ●

गेड़ी-नृत्य दण्डामी माड़िया में भी प्रचलित है।

टिप्पण

(i) दण्डामी माड़िया (चित्रकोट क्षेत्र) नृत्य की तीन शैलियों को गिनाते हैं—
(क) उरंगी एँदानद (एक-दूसरे को पकड़कर नाचना), (ख) वेर्रो वेर्रो एँदानद (ढोल लटका कर एकल नृत्य करना), (ग) गोंडरा कोट्टी एँदानद (गोल चक्कर लगाकर नाचना)।

(ii) दण्डामी माड़िया पाँच प्रकार के पदसंचालन को सरलता से पहचान लेते हैं—
(क) डोल डाका, (ख) माड़िया डाका, (ग) पेंडुल डाका, (घ) पेन-डाका (कर्साड़ में), (ङ) कर्सानद डाका।

(iii) दण्डामी माड़िया बाहरी व्यक्तियों के सम्मुख कर्साड़-नृत्य का प्रदर्शन नहीं करते हैं—

(iv) दण्डामी माड़िया के नृत्यों में ढोलनाचा (गँवर नृत्य) तथा 'परजानाच' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परजानाच में कमर में घुंघरू पहन कर तथा हाथ में गँवरसींग लेकर उछल-उछल कर नाचते हैं।

(v) जिन दो सौ आदिवासियों से मैंने बस्तर के 'सांगीतिक ज्ञान' का परीक्षण किया, उनमें से साठ प्रतिशत का यह मत था कि बस्तर का सर्वोत्कृष्ट आदिवासी नृत्य 'गदबा-नृत्य' था, जो अत्र समाप्त हो गया था। यह एक पिरामिडनुमा नृत्य था। यहाँ के लोगों ने सर्वोत्कृष्ट गदबानृत्य रानी प्रफुल्लकुमारी देवी के विवाह के अवसर पर देखा था, जो लगातार तीन दिनों तक चला था।

(vi) अंधे, अपंग, व बहरे व्यक्ति के अतिरिक्त नृत्य में सभी व्यक्ति भाग ले सकते हैं (लंका का सूचक)।

(vii) जब मैंने सूचकों से प्रश्न किया कि आप क्यों नाचते हैं ? तो उनमें से अधिकतर का यह प्रत्युत्तर था कि (क) लोगों को प्रसन्न करने के लिए (ख) अपनी कला के प्रदर्शन के लिए तथा (ग) मदोन्मत्ता अवस्था में।

(viii) नृत्य के अवसर पर क्या युवक-युवतियों में शारीरिक सम्बन्ध होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पचपन सूचकों का कथन था कि क्रीडानृत्य में ऐसा प्रायः होता है।

(ix) तारानाच अब धीरे-धीरे मुरियाक्षेत्र से समाप्त हो रहा है।

□

5

जननाट्य

5.1.1. आदिम समाज में नाट, तमासा तथा स्वांग

संस्कृत में 'नट्' और 'णट्' धातुएँ हैं, जिनसे नाट (नाटक) और नाच (नृत्य) शब्द व्युत्पन्न हुए हैं। बस्तर में नाट का विकास नृत्य से ही हुआ है। यहाँ की सभी बोलियों में नाटक के लिए 'नाट' शब्द मिलता है। नाटक के प्रशिक्षक को '**नाटगुरु**' कहा जाता है और उसमें भाग लेने वाले पुरुष '**नाटकरया**' या '**नाटकुरया**' कहे जाते हैं। इसमें महिलाओं की सदस्यता नहीं होती। इससे ज्ञात होता है कि आदिम समुदाय में 'नाट' की यह परम्परा वर्गभेद के साथ अठारहवीं शताब्दी में भतरी के सम्पर्क से उड़ीसा से आयी है।

'**नाट**' से मिलती-जुलती दूसरी विधा 'गमात' (झोरिया) की है, जिसे हलबी में 'तमासा' कहा जाता है। यह ग्रामीणों के मनोरंजनार्थ बीच-बीच में लघु प्रहसन के साथ किया जाता है। यह हलबी संस्कृति के प्रसार के साथ विकसित हुआ है तथा इसे भी अठारहवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं माना जा सकता।

तमासा के समान '**सवांग**' (हलबी) या '**सावांग**' (झोरिया) है, जो बस्तर के सभी क्षेत्रों में प्रचलित है और स्वांग से विकसित हुआ है। स्वांग अवस्थाओं की अनुकृति है।

आदिम समाज में मिलने वाला यह 'स्वांग' पूर्व अध्याय में वर्णित 'जात्रा' नृत्यों का विकास कहा जा सकता है अर्थात् नृत्य की अगली विकसित कड़ी आदिवासियों में स्वांग के रूप में उपलब्ध है।

5.1.2. सांस्कारिक नाट

श्रम के विशिष्ट व्यवसाय में परिणत न होने के कारण आदिम समाज में कला और साहित्य जैसी गूढ़ वृत्ति के लिए बहुत कम अवकाश है; क्योंकि उनका सारा दिन भोजन की चिन्ता में ही बीत जाता है। कालान्तर में कुछ समूहों में जिस कला का विकास हुआ है, वह उपयोगितावादी कला के रूप में ही देखने को मिलती है। यह आदिम कला अत्यधिक सामाजिकीकृत है। यह एक प्रकार से हाथ की 'टेकनालॉजी' है, जिसका प्रयोग घरेलू औजार तथा सामाजिक उत्सवों में होता है। हम आदिम कला को '**तकनीकी धर्म**' भी कह सकते हैं। आदिम मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता के कारण तथा अदृश्य बाधक शक्ति पर नियन्त्रण की लालसा के कारण आदिम धर्म भी उपयोगितावादी रहा है।

आदिम कला के उपयोगितावादी पक्ष (जो आदिम जन के जीवन के लिये व्यक्तिगत और सामूहिक संघर्ष से सम्बद्ध है) को हम सांस्कारिक 'नाटों' के माध्यम से देख सकते हैं। ये नृत्य या 'नाट' कभी भी केवल सौन्दर्यानुभूति के लिये नहीं होते, अपितु इनका लक्ष्य अदृश्य शक्ति को प्रभावित करना या सामूहिक चिकित्सा होता है। ये सांस्कारिक 'नाट' एक या अनेक कोटि में विभाजित किये जा सकते हैं। एक कोटि में व्यक्ति समुदाय का एक अंग होता है तो

दूसरी कोटि में व्यष्टि के रूप में व्यक्ति का भागधेय होता है। ये सांस्कारिक "नाट" एक ओर फसल और वनस्पति से सम्बद्ध हैं तो दूसरी ओर पशुओं से जुड़े हुए हैं।

5.1.3. नकटा और नकटी

'छेरतानृत्य' (4. 4. 4.) के अन्तर्गत 'नकटा' तथा 'नकटी' का उल्लेख हुआ है। 'छेरतानृत्य' का नेता 'नकटा' परिहासमूलक वस्त्रों से सजा होता है। वह कभी चीथड़ों में सजा होकर निर्धन का अभिनय करता है तो कभी 'टिपटाप' रह कर धनिक का अनुकरण करता है। वह तूंबे का एक मुखौटा लगाये रहता है। तूंबा आभूषणों से अलंकृत रहता है। आँखों के स्थान पर दो मुद्रिकायें होती हैं तथा नाक मोम की बनी होती है। मुख वाले भाग को आरेखित कर दिया जाता है। अन्नकणों से दाँत बनाए जाते हैं तथा नीलगाय या भालू के बालों की दाढ़ी बना दी जाती है। शिखा के रूप में मयूरपिच्छल लटकती रहती है। हास्यास्पद अभिनय तथा मसखरी करने में 'नकटा सिद्धहस्त होता है।

इस प्रकार 'छेरतानृत्यों' में 'नकटा' की भूमिका विदूषक जैसी होती है। नवयुवतियों के बीच वही भूमिका 'नकटी' करती है।

'नकटा' यदा-कदा साधुवेश में विचरण करता है। वह लँगोटी पहन कर समूची देह में राख लगा लेता है तथा उसके गले में गटर की माला होती है। वह जब घरों में माँगने के लिये जाता है तो घर के सामने बैठकर माला फेरने लगता है।

'नकटा' बनने के पीछे निहित दृष्टि साभिप्राय है। अपने चेहरों को छिपाने का अर्थ है दुष्टात्माओं की निगाहों से बचना। लड़कों का पति और पत्नी बनना इसी लक्ष्य से प्रेरित है। भद्दा दिखने के निमित्त ये अपना चेहरा काजल, आटा, कोयला आदि से बिगाड़ लेते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'मेक-अप' का यह आदिम तरीका किसी सौन्दर्यपरक या नाटकीय लक्ष्य से प्रेरित नहीं है, अपितु आभिचारिक शक्तियों से सुरक्षा के निमित्त है; क्योंकि दुष्टात्माओं से निवारण के लिये काजल और राख महत्वपूर्ण उपाय हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक–12)।

5.1.4. विविध स्वांग

बस्तर में फाल्गुन महीना विविध स्वांगों का महीना है। बाँस को छीलकर तथा उसके ऊपर कपड़ा व कागज चढ़ाकर तथा उस पर विविध रंगों का प्रयोग कर ये विविध जानवरों के आकार का स्वांग बनाते हैं। जिस प्रकार ताजिया में मोर इत्यादि बनाये जाते हैं, उसी प्रकार बांस को छील कर तथा उस पर कागज-कपड़ा चिपका कर तमासा करने वाले लोग जंगली जानवर के आकार की मूर्ति बनाते हैं। इन स्वांगों की पीठ से पेट तक आदमी के घुसने के लिये छेद होता है। इसी छेद के भीतर आदमी खड़ा होता है। उसके पेट से नीचे का भाग नहीं दाखता और ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति जंगली जानवर पर सवार है। तब वह स्वांगयुक्त जानवर के समान नाचता है। यहाँ पर होनेवाले स्वांगों के अधोलिखित प्रकार हैं—

पशुओं के स्वांग

(क) खरगोश का स्वांग
(ख) कोटरी (हिरण) का स्वांग
(ग) चीतर का स्वांग
(घ) मुर्गे का स्वांग

(ङ) गँवर (बनभैंसे) का स्वांग
(च) भैंस का स्वांग
(छ) सांड़ का स्वांग
(ज) भालू का स्वांग
(झ) बकरी का स्वांग
(ऋ) मण्डापक्षी का स्वांग

मनुष्यों के स्वांग

(क) स्त्री या पुरुष का स्वांग
(ख) रसिक व्यक्ति का स्वांग
(ग) वैरागी का स्वांग
(घ) कीली-स्वांग
(ङ) दीवान का स्वांग
(च) नाई का स्वांग
(छ) साधु का स्वांग
(ज) भिखारी का स्वांग
(झ) मंत्री का स्वांग
(ऋ) डॉक्टर का स्वांग

देवताओं के स्वांग

(क) आँगापेन का स्वांग
(ख) विविध देवताओं का स्वांग
(ग) सिरहा का स्वांग

इन स्वांग-अभिनयों की विस्तार के साथ समीक्षा मैंने अपनी पाण्डुलिपि **'आदिवासियों में नाट परम्परा'** में की है। इन स्वांगनाटों में जिनका स्वांग किया जाता है, आदिम जनों की उनके प्रति यह धारणा होती है कि ये किसी भी क्षण अहित कर सकते हैं। इनके स्वांग के माध्यम से वे भावी संकट से लड़ने की अपनी मानसिकता बनाते हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक–10, 11)।

5.1.5. कोकटी-घोड़ा

''जात्रा'' नामक सांस्कारिक नृत्यों में ''कोकटी'' घोड़े भी नाच करते हैं, उछलते हैं, एक दूसरे से युद्ध करते हैं। घोड़ा यहाँ प्रजनन तथा सौभाग्य का प्रतीक है और यही कारण है कि अनेक आदिम कलाओं में घोड़े को प्रदर्शित किया गया है। ''आँगापेन'' का मुख भी घोड़े का ही होता है। घोड़े के सम्बन्ध में यह भी धारणा है कि वह घावों को सुखाने की शक्ति रखता है (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-20)।

5.1.6. चीते का मुखौटा

अबुझमाड़िया नृत्य में एक या दो व्यक्ति चीते का मुखौटा पहने रहते हैं तथा एक दूसरे के पीछे घूमते हुए युवकों व युवतियों पर झपटने का अभिनय करते हैं।

5.1.7. पुत्तलिका

"तारानृत्य" पुत्तलिकानृत्य है। इस पुत्तलिका को लकड़ी या घास से बनाया जाता है। घास की सामग्री को मानवाकृति दे दी जाती है। कम-से-कम उसके शिर तथा हाथ को दिखाया जाता है। पुत्तलिका को स्त्रियों-जैसे वस्त्र तथा आभूषण पहना दिये जाते हैं। उसे टोकनी में लेकर चलती हुई युवतियाँ नृत्याभिनय करती हैं (द्र० छायाचित्र क्रमांक-13)।

5.1.8. संस्कारों का नाटकीय महत्व

लघुरूप में ये नाटक आज भी सांस्कारिक सन्दर्भों से जुड़े हुये हैं तथा वर्ष के प्रत्येक मास में धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से किसी-न-किसी रूप में अनुप्राणित होते हैं। इन सांस्कारिक नृत्यों या नाटों के लिये कोई विशेष रंगमंच नहीं होता। नृत्यक्रिया के लिए किसी ऐसे स्थान की इनमें खोज नहीं होती, जिनमें "नाचकुरया" दर्शकों पर अपना अच्छा प्रभाव उत्पन्न करें, अपितु स्थान की खोज कथावस्तु से ही होती है; जिसमें कभी जंगल, कभी दन्तेश्वरीमन्दिर, कभी चरागाह, तो कभी नदी का किनारा, तो कभी गाँव की रथ्या या देवगुड़ी की आवश्यकता होती है। फाल्गुन तथा चैतमास के कृषिसम्बन्धी नाटकों में यह विशेष रूप से यथार्थ लयता है। प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध तथा मौसम की मादकता के कारण इन महीनों में प्रकृति के खुले रंगमंच में इनका प्रदर्शन होता है।

इन नृत्यों तथा "नाटों" में सौन्दर्यपरक तथा व्यक्तिपरक धारणाओं का स्थान सामाजिक और आर्थिक विचारों ने ले लिया है। आदिम समुदाय में श्रम का लैंगिक विभाजन एक महत्वपूर्ण कारण होता है। महिलायें आखेटपरक नृत्योत्सवों में भाग न लेकर आखेटपरक संस्कारों में भाग लेती हैं और यही कारण है कि "धनकुल" जैसे उत्सवों में पुरुषों को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त स्त्रियों से सम्बद्ध अनेक अन्धविश्वासों के कारण कतिपय नृत्यों में स्त्रियों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। ऐसे नृत्य विशेषकर वे हैं जो देवताओं से सम्बद्ध हैं। इन नृत्यों में स्त्रियों की उपस्थिति से विपरीत परिणाम का भय बना रहता है। आदिम समाज के श्रम के पारम्परिक वितरण ने पुरुषों तथा स्त्रियों के शरीर पर भी अपनी छाप छोड़ी है। स्त्रियों में मुखौटे लगाना सम्भवतः इसलिए प्रचलित नहीं रहा क्योंकि वे सुकुमार होती हैं। वे पुत्तलिका-नृत्य में ही भाग लेती हैं; क्योंकि सुकुमारियाँ "आँगापेन" जैसे देवताओं का संवहन ही नहीं कर सकतीं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-21)।

मुखौटों का लक्ष्य प्रत्यक्षतः दर्शकों का मनोरंजन करना भी नहीं रहा है, अपितु इनके माध्यम से पुरुष कतिपय भौतिक फल प्राप्त करना चाहता है। समूचा नाटक इसी इच्छा से प्रेरित होता है। आदिम "नटकुरया" वन्य-पशुओं, व्यक्तियों तथा वस्तुओं के यथार्थ चित्र को न देकर उनका प्रतीकात्मक चित्र ही देते हैं। पुत्तलिकाओं का भी यह लक्ष्य नहीं है कि उनमें मानवी की विस्तार के साथ प्रतिकृति प्रस्तुति की जाय, अपितु उसके प्रतीकों को ही आरेखित किया जाता है, जिसमें आभूषणों की भरमार होती है। यह प्रतीक भी सुस्पष्ट है। घोड़े या चीते या गँवर के मुखौटे में भी जैविक बारीकी न खोजकर उन्हें ऐसा रूप दे दिया जाता है कि वे वांछित पशु का सुविभेदक चित्र मन में पैदा कर सकें। इसी प्रकार के कुछ प्रभाव प्रज्वलित अग्नि, कुत्ता, घण्टियाँ, ढोल, आवाजें, तुपकियाँ आदि पैदा करती हैं।

"नाचकुरया" तथा 'नाटकुरया' के पदसंचार तथा हावभाव भी बहुत कुछ सीमा तक सांस्कारिक नियमों से संचालित होते हैं। इस प्रकार नृत्य में उछल-कूद या स्त्रियों का पुरुषों की भुजाओं के बीच से शिर निकालना या "गँवर" का पृथ्वी पर प्रहार करना केवल मनोरंजन के स्रोत नहीं हैं, अपितु ये उस आदिम इच्छा से जुड़े हुये हैं, जो प्रजनन शक्ति से सम्पन्न हैं।

इन नृत्यों तथा "नाटों" में, विशेषकर "जात्रा-नृत्यों" में, होनेवाली तुमुल ध्वनि भी दुष्टात्माओं से रक्षा करने वाली मानी जाती है। नृत्य के बीच-बीच में इनकी चीखें संभवत: नृत्यमण्डली को आकस्मिक खतरे से बचाती हैं। महिलाओं की मधुरध्वनि के साथ वाद्यों की थाप या झनझनाहट या टनटनाहट भी इसी प्रकार के लक्ष्य से प्रेरित है।

5.1.9. नाटकुरया और उसके दर्शक : आदिम रंगमंच

परिशिष्ट के अन्तर्गत यह विवेचना की गयी है कि आदिम जन का इन "नाटों" तथा नृत्यों के प्रति रुचि का क्या कारण है? यहाँ आन्दानुभूति की दृष्टि से 'नाटकुरया' तथा दर्शक के बीच के सम्बन्धों पर विचार किया जा रहा है। इन "नाटों" या "स्वांगों" को देखने वाले लोग निष्क्रिय दर्शक नहीं होते, अपितु सक्रिय सहभागी होते हैं। जिस प्रदर्शन को ये देखते हैं, उसकी रचना में ये भी सहायक रहते हैं और शायद यही एक ऐसा कारण होता है कि ये अरुचि से बच जाते हैं। यहाँ दर्शक "नाचकुरया" या "नाटकुरया" से कभी असंम्पृक्त नहीं होता, न तो शारीरिक तौर पर और न ही आध्यात्मिक दृष्टि से। "नाचकुरया" या "नाटकुरया" के प्रवेश के साथ ही उनका दर्शकों के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध प्रारम्भ हो जाता है और यह सम्बन्ध "नाच" या नाट के अन्त में भी उस समय दीखता है जब "नाचकुरया" या "नाटकुरया" दर्शकों से उपहार लेते हुये विचरण करता है। नाच या "नाट" की समाप्ति के पश्चात् ये गायब नहीं हो जाते, अपितु दर्शकों में घुलमिल जाते हैं। गीत और नृत्य का आनन्द सभी साथ मिल-जुलकर प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आदिम रंगमंच एक प्रकार से सांस्कारिक तथा शास्त्रीय रंगमंच के मध्यभार्ग का आख्यापक है। सांस्कारिक नृत्यों में "नाचकुरया" तथा दर्शक के बीच किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं हुआ करता है। यहाँ केवल प्रश्न होता है बड़े और छोटे काम को करने का। इसलिये समूची आदिम जनता का इसमें पूरा सहयोग रहता है।

आदिम संस्कारों से नाटक के विकास का इतिहास दो शरीरों के विभाजन का इतिहास है—"नाटकुरया" तथा दर्शक। जब से मुखौटों का विकास हुआ, तभी से दर्शक तथा "नाटकुरया" के बीच एक विभाजन रेखा भी आयी। किन्तु यह विभाजनरेखा अब भी उतनी तीव्र नहीं है; क्योंकि दर्शक मुखौटे लगाने वाले व्यक्ति से पूरी तरह परिचित होता है, उसी के गाँव या क्षेत्र का होता है। इन दृश्यों में भी '"नाटकुरया" तथा दर्शक आपस में मिलते हैं। एकता के सूत्र का निदर्शन सामूहिक गीत से भी होता है; क्योंकि जब कोई नर्तक या "नाटकुरया" गीत की किसी पंक्ति को भूल जाता है, तो दर्शकों में से कोई व्यक्ति उस पंक्ति को गाते हुए सामने आ जाता है। तब वह "नाचकुरया" या "नाटकुरया" के साथ मिल जाता है।

शास्त्रीय रंगमंच में सभी रंगकर्मी समधर्मी लोग होते हैं, जिनका दर्शकों से कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। आदिवासी रंगमंच में स्थिति सर्वथा विपरीत होती है; क्योंकि यहाँ प्रत्येक "नाटकुरया" तथा शेष लोगों के साथ सम्बन्ध अति प्रगाढ़ होता है। यहाँ "नाटकुरया" अपनी पंक्तियाँ किन्हीं अदृश्य तथा अस्पृश्य समाज को नहीं, अपितु जीवित समाज को सुनाता है, जिन्हें वह जानता है और देखता है। "नाटकुरया" रंगमंच में प्रवेश करते ही जनता को "जोहार" (अभिवादन) करता है और आपस में परिचित होता है। "नाटकुरया" की प्रारंभिक पंक्तियाँ अपने साथी "नाटकुरया" के लिये न होकर देखने वालों के लिये होती हैं।

आदिवासी रंगमंच में न तो विशेष प्रकाश की व्यवस्था होती है और न ही कृत्रिम व्यवधान होता है, जिससे दर्शक रंगभूमि में स्वतंत्रतापूर्वक आ जा सकता है और "नाटकुरया" से मिलता-जुलता रहता है। इन आदिवासी रंगमंचों में हास-परिहास परिस्थिति के विडम्बन से होता है। रंगकर्मी तथा दर्शक एक साथ हँसते हैं, टिप्पणियाँ करते हैं।

इन "नाटों" के प्रति दर्शकों की प्रतिक्रियायें बहुत ही जीवन्त होती हैं। "नाटकुरया" सभी के समान विचारों को सुनने की कामना नहीं करते और न ही प्रशंसा के भूखे होते हैं। इनका प्रमुख लक्ष्य होता है लोगों की रुचि को

भड़काना और जाग्रत करना। दर्शक भी "नाटकुरया" को अपना सुझाव देता है, किन्तु शास्त्रीय रंगमंच का मौन दर्शक ऐसा नहीं कर सकता।

आदिवासी रंगमंच में दर्शकों का पात्रों के साथ भावनात्मक सम्बन्ध बहुत प्रगाढ़ होता है, किन्तु सांस्कारिक परम्पराओं तथा क्रियाओं से पूर्व से परिचित रहने के कारण उसका साधारणीकरण शास्त्रीय रंगमंच के दर्शक के समान नहीं होता। वह यह भी अनुभव नहीं करता कि "नाटकुरया" का चरित्र उसका अपना चरित्र है। उसमें तो वह आसपास के माहौल में शोषण करने वाले लोगों के विकृत चेहरे देखता है और वैसा ही पाता है।

5.1.10. जननाटों में हास-परिहास

जन-रंगमंच ने शताब्दियों से बस्तर की आदिवासी जनता का मनोरंजन किया है। इसके व्यापक प्रचलन का आधार यह है कि यह एक प्रहसन है जिसमें परिहास तथा हास के तत्व सर्वाधिक हैं। यह ऐसा रंगमंच है जहाँ लोगों को अपनी मसक्कत भरी जिन्दगी की चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है।

अपने सीमित ज्ञान और अभिव्यक्ति के माध्यम से ये लोक कलाकार जिन भंगिमाओं को चित्रित करते हैं, वे उतनी ही सुस्पष्ट होती हैं जितनी कि उनकी आवाज तथा संकेत। चरित्र और संवेदना के सूक्ष्म अन्तर इन्हें ज्ञात नहीं हैं, जो कुछ ज्ञात है वह है क्रोध तथा हँसी का भाव।

"लोकन टों" में चूंकि सुखानुभूति का लक्ष्य होता है, अतएव चरित्र को परिहासमूलक बनाने का इनका मूल प्रयास होता है। इस प्रकार के परिहासमूलक चरित्र को 'नकटा" तथा "नकटी" के अभिनय में देखा जा सकता है। "नकटा" और "नकटी" के प्रसाधन से नहीं, अपितु उनकी भाषा और हाव-भाव से दर्शकों के बीच हँसी का फुव्वारा छूट जाता है। उसका यह प्रयास होता है कि वह वार्धक्य का चरित्र प्रस्तुत करे। उसके हँसी-मजाक के तरीके बहुत ही भद्दे किस्म के और अश्लीलता भरे होते हैं। इस रूप में वह संस्कृत-नाटकों के विदूषक से भी बहुत अधिक अपरिष्कृत होता है।

"नकटा" और "नकटी" का यह चरित्र यद्यपि बहुत वीभत्स होता है और यद्यपि इसी वीभत्सता के कारण वह परिहास उत्पन्न करता है, तो भी दर्शकों के मन में उसके प्रति सहानुभूति ही होती है।

"नकटा" और "नकटी" के इस वीभत्स दृश्य के बावजूद उसमें उत्साह तथा शक्ति का होना अनिवार्य है। इस चरित्र को प्रतिभाशाली व्यक्ति ही सम्पन्न कर सकता है। परिस्थितिजन्य परिहास, अनुकरण की क्षमता, विविध भाषाओं का प्रयोग आदि कुछ ऐसी युक्तियाँ हैं, जिन्हें सामान्यजन नहीं कर सकता। इस रूप में आदिवासियों के "नकटा-नकटी" जन्मजात रचनात्मक कलाकार के रूप में पहिचाने जाने चाहिये।

5.2.1. सांस्कारिक नृत्यों में नाटकीय तत्व

चतुर्थ अध्याय (4.5) में क्रीड़ा-नृत्यों के अन्तर्गत यह दर्शाया गया था कि आदिम समुदाय किस प्रकार नाटकीय खेलों का प्रदर्शन करता है। अबुझमाड़िया के खेल-गीतों की विवेचना मेरी पुस्तक "रेलोया रे रेलोया" (1982) में विस्तार के साथ हुई है। आदिम जीवन के सांस्कारिक पक्ष को अन्य घटनायें भी नाटकीय रूप से प्रभावित करती हैं। इस अर्थ में जन्म, कौमार्य, विवाह एवं मृत्यु भी अभिभूत कर देने वाली घटनायें हैं, जिनमें बहुत अधिक मात्रा में अन्धविश्वास तथा सांस्कारिक उत्सव होते हैं। इन घटनाओं से सम्बद्ध रस्मों में प्रथम है—माता की शुद्धि और उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिये रोगनिरोधक उपाय एवं नवजात शिशु की देखभाल की चिन्ता। बस्तर में कौमार्य-संस्कार प्रारम्भ से ही "पुष्पविवाह" या "कांडाबारा" के प्रतीक के रूप में प्रचलित रहे हैं, जहाँ "पुष्प" कौमार्य का प्रतीक है।

नारी कौमार्य-संस्कार में जिस प्रकार के नृत्य का आयोजन होता है, वह अत्यधिक अभिनयपूर्ण होता है एवं उसमें निश्चित क्रिया का अनुकरण होता है। इन नृत्यों में अनुकरणमूलक शरीरसंचालन गीत के पाठ के अनुसार होता है। ये गीत "लया-आतुर" (युवती बनने) के साथ ही 'गोदना-संस्कार' में गाए जाते हैं। बारह वर्ष की अवस्था के पश्चात् यह कौमार्य में प्रवेश करने का संस्कार है। इन 'गोदनानृत्यों' में 'बड़ादेव' की 'सात बहिनों' के कौमार्य की अनुकृति होती है।

मुरिया या आदिवासी गीतों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं। प्रथम वर्ग भू मसम्बन्धी पंचांग से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत कृषिवपन, पुष्प, पौधे आदि से सम्बद्ध गीत हैं तथा दूसरे वर्ग के अन्तर्गत इससे भिन्न गीत हैं, जिन्हें हम सांस्कारिक गीत कह सकते हैं। प्रथम वर्ग के विशिष्ट गीतों में खेती-सम्बन्धी गीत हैं। इन गीतों में माता और पुत्री एक मण्डल के अन्तर्गत स्थित होती हैं तथा युवतियाँ माता से यह निवेदन करती हैं कि वह बीज-वपन का तरीका बताए। माता भूमि के जोतने का अभिनय करती है तथा युवतियाँ उसका अनुकरण करती हैं। इस प्रकार से पूरे गीत में एक छोर से दूसरे छोर तक प्रतीकात्मक हावभाव होते हैं, जिनमें रोपा लगाना, धान काटना, बण्डल बनाना, सुखाना, गाहना, तथा कूटना आदि दिखाया जाता है। इस नृत्य में दो युवतियाँ सामूहिक गान में आरोह-अवरोह की स्थितियाँ बनाए रखती हैं। इन नृत्यों में काल और स्थान के अनुसार विविध परिवर्तन ही हुए हैं। इसीलिए कहीं वह सामाजिक वस्तु को लेकर चलता है तो कभी व्यंग्यमूलक हो जाता है तो कभी पशुजगत् को लक्ष्य करके गाया जाता है।

पशुओं की 'थीम' पर आधारित गीतों में गीत में आनेवाले पशुओं का अनुकरण किया जाता है। इनमें भैंसे का चित्रण सर्वाधिक हुआ है। दण्डामी माड़िया के 'गंवरनृत्य' में संगीतकार बनभैंसे की विविध क्रियाओं का अनुकरण करते हैं, जिसमें बनभैंसे द्वारा सींग से प्रहार की क्रिया विशेषरूप में होती है।

आदिम जनजातियों के अधोलिखित खेल में भी इसी प्रकार की अनुकृति मिलती है—

साभर खेल : इसमें एक खिलाड़ी चील (गद्दा) बनता है तथा दूसरा मुर्गी बन जाता है। शेष खिलाड़ी एक घेरा बना लेते हैं। चील कभी भी घुसकर बीच से मुर्गी पकड़ना चाहता है तथा शेष लड़के उसकी रक्षा करते हैं।

सामाजिक 'थीम' पर चलने वाले नृत्यों में प्रमुख है 'माँदरी नृत्य' (देखिये, प्रस्तुत प्रबन्ध 4. 3. 4.)। इस नृत्य में प्रणय तथा पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध जितने भी गीत होते हैं, वे बहुत कुछ मात्रा में श्रृंगारिक प्रकृति के ही होते हैं। इस नृत्य में युवक तथा युवतियाँ प्रणय के दृश्य को उपस्थित करते हैं। शारीरिक संचालन, भुजाओं और पैरों के संकेत तथा चेहरों की अभिव्यक्तियों के माध्यम से ये युवक की मँगनी, युवती की अस्वीकृति, युवक की निराशा और दूसरी युवती की चाह, युवती की ससंकोच मनुहार तथा अंत में मिलन आदि का चित्रण करते हैं। इस प्रकार के नृत्य में नाटकीय प्रतिभा को दिखाने का अवसर अधिक मिलता है।

5.2.2. माँदरी नृत्य में नाटकीय तत्व

मुरिया जनजाति के वैवाहिक गीतों को 'रेलो' कहा जाता है और 'माँदरी' नामक वाद्य के साथ नृत्य किये जाने के कारण यह 'माँदरी-नृत्य' कहा जाता है। माँदरी-नृत्य कब प्रचलित हुआ, इसकी निश्चित तिथि देना कठिन है। यह संस्कार मुरिया-समाज को नवीं शताब्दी में ज्ञात था।

दसवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में तंत्र के प्रवेश के साथ (बस्तर पर 920 ई० में छिन्दक नागों का आधिपत्य हुआ) माँदरी-नृत्य में भी तंत्र का प्रवेश हुआ तथा उसमें अनेकानेक आभिचारिक क्रियायें सम्मिलित हो गयीं। तंत्र

के कारण वैवाहिक बन्धनों में शिथिलता आयी और नलों के प्रभाव से इसमें जो कर्मकाण्ड जुड़ गया था, उससे उसका स्वरूप ही बदल गया।

मुरिया समाज में आज विवाह की जो विधियाँ प्रचलित हैं, उनमें से अनेक विधियों में प्राचीन प्रतीकात्मकता अद्यावधि अवशेष है। विवाह की इन परम्पराओं में यद्यपि आदिम क्रिया समाप्त हो गयी है, किन्तु नृत्य में वह अभिनय अवशेष है। अधोलिखित वैवाहिक नृत्य विशेष रूप से कथ्य की अनुकृति हैं—

(क) अरवितांना मर्मी (मार्ग से भाग जाने का विवाह)

(ख) टीका-तसाना मर्मी (तिलक-विवाह)

5.2.3. विवाह के प्रमुख संस्कार

मुरिया विवाह का प्रमुख संस्कार 'माहला' है, जिसका अर्थ है सगाई के लिए प्रारम्भिक चर्चा और अंतिम संस्कार है 'कोर-पुदे' (मुर्गी की योनि) जो वर-वधू की सुहागरात है। 'माहला' तथा 'कोरपुदे' के बीच इतिहास और क्षेत्रभेद से अधोलिखित प्रमुख संस्कार पाए जाते हैं—

(क) वधू को मुद्रिका पहनाना
(ख) मण्डपाच्छादन
(ग) करसा-कोटियाना (कलश भरना)
(घ) तूकातोड़ी (चूलमाटी)
(ङ) एर-मिहचियाना (स्नान-संस्कार)
(च) तलाय हिड़चियाना (कंघी करना)
(छ) बेड़-पेचहियाना (वेणीबन्धन)
(ज) मोउड़ (मकुट बन्धन) (द्र० रेखाचित्र क्रमांक–11)
(झ) नेयी-तरगाना (तेल चढ़ाना)
(ऋ) एर-तोचियाना (कलश उठाना)
(ट) हरदी-तरगाना (हलदी चढ़ाना)
(ड) एर-दोसियाना (पानी डालना)
(त) टीका-तासना (टीका करना)
(थ) समधिन-भेंट
(द) लागिर (लग्न समारोह)
(ध) सामूहिक भोज
(न) बिदागरी (विदाई)
(प) देवीपूजा

संस्कार की अवधि में एक स्थान से दूसरे स्थान में विविधता पायी जाती है। यदा-कदा एक सप्ताह तक संस्कार चलता रहता है। गीतों का सिलसिला मँगनी-संस्कार से लेकर सुहाग रात तक चलता रहता है। इस अवधि में गाए जाने वाले गीतों में वधू के घोटुल से बिछुड़ने की पीड़ा बहुत तीव्र होती है। इनमें से प्रत्येक संस्कार को लेकर गीत होते हैं।

5.2.4. विवाह संस्कारों में आदिम विश्वास तथा परम्परायें

विवाहसंस्कार के गीतों के माध्यम से आदिम विश्वास तथा आभिचारिक लक्षणों को खोजा जा सकता है। विश्लेषण के आधार पर इन्हें तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) संशुद्धि (बोहरानी)
(ख) सुरक्षा
(ग) प्रजनन तथा सौख्य
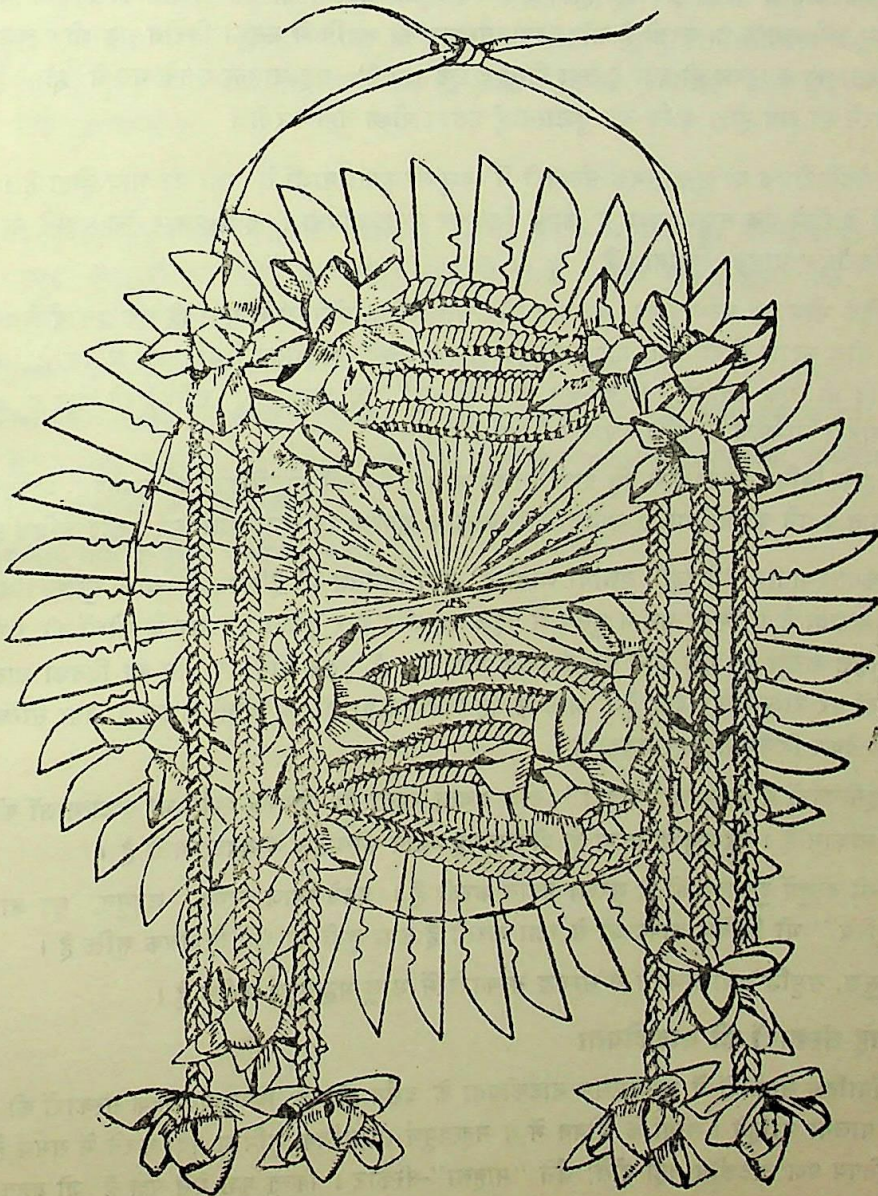
रेखाचित्र क्रमांक–11. छींद की पत्तियों से निर्मित मुरिया-वर के द्वारा पहिना जाने वाला विवाह-मकुट

(क) संशुद्धि : संस्कारों में दैवी विपत्तियों से आदिम समुदाय की 'बोहरानी' की भावना होती है। चूंकि स्त्रियों की जटिल शारीरिक रचना से आदिम जन अपरिचित हैं, इसलिए उनके प्रति दैवी प्रकोप से ये आतंकित रहते हैं। गाँव में किसी बीमारी के फैलने के पश्चात् यह संस्कार आमतौर पर होता है।

वैवाहिक संस्कार में सर्वाधिक शुद्धीकरण संस्कार वह है, जिसमें मण्डप के नीचे घण्टों वधू को सगे-सम्बन्धी स्नान कराते हैं। यह स्नान वधू के लिए मानसिक तौर पर एक मोड़ होता है, जिसमें वह एक मानसिक स्थिति से दूसरी मानसिक स्थिति में प्रवेश कर रही होती है। इस अवधि में गीत भी वैसे ही प्रतीकों से युक्त होते हैं। स्नान करते समय वधू अनिच्छा व्यक्त करती है और स्नानसंस्कार की अवधि में उसका विरोध तक शोक चलता रहता है। 'उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो रहा है तथा पितृगृह छूट रहा है', यह भावना उसके मन में होती है। मण्डप के नीचे स्नान करने का अर्थ होता है कि अब दुष्टात्माएँ उसका पीछा नहीं करेंगीं।

(ख) रोगनिरोधक या सुरक्षात्मक संस्कारों में वधू की दुष्टात्माओं से रक्षा का भाव होता है। वधू को नुक-सान से बचाने के लिये एक सरल उपाय है उसके शिर पर मकुट बाँधना। इसी प्रकार तेल चढ़ाने या चूलमाटी की क्रिया में भी निरोधक भावना विद्यमान है।

सामूहिक भोज पर वर-वधू का अलगाव और सांस्कारिक भोजन भी ऐसा ही एक प्रकार्य है। वर-वधू तथा शेष जनों के बीच उत्पन्न किया गया यह अवरोध न केवल उनकी परिवर्तित स्थिति का प्रतीक है, अपितु बाहरी शक्तियों के प्रति भी एक अवरोध है। वर-वधू को "दो बट्टे" (दो सड़कों की सन्धि) को पार न करने देने की परम्परा भी बाहरी आक्रमण से उनके बचाव का उपलक्षक है।

विवाह के विविध संस्कारों में वधू द्वारा सक्रिय भाग न लेने की मानसिकता भी सम्भवतः आन्तरिक आनन्दा-तिरेक को बलात् दबाने की प्रक्रिया है; अन्यथा हर्षोल्लास के अवसर पर दुष्टात्माओं का प्रकोप अधिक हो सकता है।

यदा-कदा स्थानीय "सिरहा" बुलाया जाता है तथा विशेषज्ञ की हैसियत से अपने सुझाव तथा अपनी सहा-यता उपलब्ध कराता है। किसी घर में घुसने से पहले वह तीन बार थूकता है, घर के कोणों की परीक्षा करता है और सर्वत्र थूत्कृत करता है। एक कोने पर वह राई डाल देता है, दूसरे कोने पर घास का तिनका डाल देता है तथा शेष दोनों कोनों पर राख बिखेर देता है। अन्त में वह विवाहयात्रा की अगवानी करता है तथा सन्धिमार्ग पर अंडे आदि की बलि देकर विशेष संस्कार करता है।

विवाहसंस्कारों में अनवरत "माँदरी" ढोल बजता रहता है; क्योंकि ध्वनि भी दुष्टात्माओं को खदेड़ने का एक परिचित माध्यम है। वर-वधू के यात्रा के दौरान यह ध्वनि कोलाहल में बदल जाती है।

बहुत-सी वस्तुयें दुष्टात्माओं से सुरक्षा प्रदान करती हैं। इनमें प्याज, नमक, लहसुन, धूप आदि प्रमुख है। माला की "गुरियां" भी विविध आपदाओं से रक्षा करती हैं तथा चूड़ी भी एक निरोधक शक्ति है।

(ग) सुख, समृद्धि तथा प्रजनन से सम्बद्ध संस्कारों में भालू महत्वपूर्ण प्रतीक है।

5.2.5. विवाह संस्कारों की नाटकीयता

इन वैवाहिक संस्कारों में काव्यात्मक नाटकीयता के दर्शन होते हैं; किन्तु वैवाहिक संस्कारों को नाटक मानने का भ्रम नहीं पालना चाहिये। लोगों के जीवन में ये महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका पैदा करने में समर्थ हैं। वैवाहिक संस्कार के कतिपय पक्ष नाटकीय नहीं होते; जैसे "माहला"-संस्कार। किन्तु कुछ ऐसे पक्ष हैं जो बहुत अधिक नाट-कीय होते हैं; यथा कृषिसम्बन्धी संस्कार।

5.2.6. मृत्यु और मृतकसंस्कार से सम्बद्ध नाटकीय संस्कार

व्यक्ति के इस लोक से चले जाने पर उतना ही संस्कार होता है, जितना उसका इस लोक में आने पर। ऐसे संस्कारों के पीछे आदिमजनों की यह धारणा होती है कि उसे भौतिक जीवन से मुक्ति मिली है तथा उसने आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश किया है। मुमूर्ष व्यक्ति के कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजे खोल देना आत्मा के बेखटके निकल जाने का संकेत है। बस्तर के मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया तथा दोर्ला मृत्यु के अवसर पर शोकगीत गाते हैं, जिसे "आनाल पाटा" (प्रेतगीत) कहा जाता है। इन गीतों में मृत्यु की विभीषिका की नाटकीय अभिव्यक्ति होती है (मुरिया का हानाल-पाटा एक प्रबन्ध गीत है, जिसे घोटुल पाटा भी कहा जाता है। इस पर मैंने छह घण्टे का कैसेट तैयार किया है)।

टिप्पण

(1) दण्डामी माड़िया-क्षेत्र चित्रकोट के आसपास उड़िया नाटक प्रचलित हैं, जो पौराणिक "थीम" को लेकर होते हैं। छापर भानपुरी का नाटगुरु राजमुरिया जनजाति का है, जिसका नाम है कुइ। यहाँ "लक्षमी पुरान" तथा "रामलीलानाट" का विशेष प्रचलन है।

(2) दण्डामी माड़िया क्षेत्र के गाँडा लोग "गम्मत" का प्रदर्शन करते हैं।

(3) कोण्डागाँव तहसील (उड़ीसा से संलग्न) के प्रत्येक पाँच-छह गाँवों के बीच एक उड़िया नाट्यमंडली अवश्य मिलती है। ये सभी नाट हरण या भरण से सम्बन्धित हैं; यथा द्रौपदीहरण, सीताहरण, नीलेन्द्रीहरण, कंधवध, जरासंधवध अथवा महाभारत के आख्यानक।

(4) स्थानीय गाँव के युवक नाटकरया बनते हैं।

6
श्रव्य सम्प्रेषण

6.1. अर्थ के संयोजन में लय की कार्यकारिता

बस्तर के आदिवासी गीतों के पाठ पाँच मिनट से अधिक लम्बे नहीं होते। यहाँ के सांस्कारिक गीतों में कतिपय व्यवस्थित भेदों के साथ (जैसे देवताओं के नामों की लम्बी सूची, पशु-पक्षी तथा वनस्पतियों के नामों की कड़ी, या रंगों की गणना आदि) पाठों में पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति अधिक होती है।

प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से ऐसे गीतों में अर्थ का लयात्मक संयोजन होता है। इस विधि से जनजातियाँ समय के लम्बे अन्तराल के बावजूद प्राचीन सन्देशों की रक्षा कर सकी हैं। यहाँ 'गीतकुरया' (गीतकार) या 'गीत-कुरिन' (गीत गाने वाली) को गीतों का रचनाकार नहीं माना जाता। ये गीतों के संरक्षक या रखवाले माने जाते हैं। ऐसे गीत सांस्कारिक तथा मिथकीय भेद से दो प्रकार के होते हैं। सांस्कारिक गीत अनद्यतन भूत से जुड़े रहते हैं और किसी आधिभौतिक शक्ति से प्राप्त वरदान के रूप में माने जाते हैं। एक गायक इन गीतों को दूसरे गायक तक पहुँचा सकता है, किन्तु दूसरा गायक भी इन गीतों को दैवी वरदान ही मानता है। इसके विरुद्ध मिथकीय गीतों में प्राचीन चरित्रों को सुरक्षित रखने की भावना होती है और गायक उसी रूप में इन्हें उद्धरणों-जैसा प्रस्तुत कर देता है। लोककथाओं में भौगोलिक भेद से जिस प्रकार कथानक परिवर्तित हो जाता है, मिथकीय गीतों में उसके परिवर्तन की सम्भावना अपेक्षाकृत कम होती है। ये मिथकीय गीत उसके चारों ओर ऐसी ठोस सामग्री के रूप में होते हैं कि उसका शेष विवरण स्फुटित हो उठता है। इस स्फुटन की क्रिया में लय ही एकमात्र ऐसा साधन है, जो मिथकीय रूपों को उसी रूप में अगली पीढ़ी को स्थानान्तरित कर देता है।

जनजातियों के गीतों का बीजाक्षर है उनकी सम ताल। इसी समताल के कारण किसी गीत की आवृत्ति का काल-निर्णय करते समय हम कह सकते हैं कि यह आवृत्ति एक सेकिण्ड के दशमांश की होती है। मुझे ऐसा लगता है कि जनजातियों के गीतों में जो प्रवेग अर्थात् गति और लय होती है, वह बहुत सान्द्र है। इस प्रवेग अथवा कम्पन की अन्तर्निहित गति जनजातीय संगीत की निष्पत्ति को दो बातों में अन्तःसंचरित करती है—एक किसी वाद्य के साथ गायक की थाप तथा दूसरा, गाया जाने वाला पाठ। नियमानुसार थाप तथा उसमें निहित आघात पाठ तथा उसमें निहित आघात की तुलना में अधिक मृदु तथा नीरस होता है। एक सांस्कारिक गीत की अधोलिखित पंक्तियों से मेरी यह बात सुस्पष्ट हो जाएगी। यहाँ इंच के चिह्न (') से चिह्नित रेखा कम्पन में निहित आघात या ध्वनिक्रम को बताती है, जब कि उल्टी V की आकृति थाप के आघात की वाचक है—

(1)	निमा	नना	निमा	निमा	नना	निमा	वायरा	नारुलि	वाइया
	Λ	,,	Λ	Λ	,,	Λ	,, Λ	,,	Λ ,,

(तू और मैं और तू, तू और मैं और तू, आएंगे, कल आएँगे)

छायाचित्र क्रमांक–9. अबुझमाड़िया-नृत्य

(2) वि ता वि या ये वियुको पो या ला वि ता

∧ ∧ ∧ ∧ ∧ ∧ ∧ ∧ ∧ ,, ,, ;;

(कब प्रकाश होगा, सूर्य का कब प्रकाश होगा)

दोनों उदाहरणों में हमें मृदु थाप दिखता है तथा (1) के अक्षरों की दीर्घता (2) की तुलना में अधिक है। (2) की तुलना में इसीलिए (1) को सीखना कठिन है।

जनजातियों के गीत इस रूप में अधिक पाठाधारित हैं कि उनमें प्रायः सभी स्वरों का उच्चारण शब्द का अंश प्रतीत होता है। शब्द एक उपवाक्य का अंश है तथा उपवाक्य वाक्य का एवं वाक्य पूरी की पूरी बातचीत का। यदि हम पाठ की दृष्टि से गीतों पर विचार करें तो गीत का मूलमंत्र यह है कि वह मातृभाषी के लिए भी सहज-गम्य नहीं है। यह सामान्य अनुभव की बात है कि बिना किसी उपक्रम के बस्तर का एक समुदाय दूसरे समुदाय के गीतों के भाव को नहीं समझ पाता।

इन गीतों में कौन-सी ऐसी बात है जो समझ में नहीं आती ! असलियत यह है कि पहले गीत सीखना होगा फिर उसे परावर्तित करना होगा। गीतों को सीखने से पूर्व उनके प्रति एक धुँधली दृष्टि किसी की हो तो सकती है, किन्तु उसका कोई वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। इन गीतों को सीखते समय मुझे यह अनुभव हुआ है कि किसी शब्द के अक्षरों के उचित अनुपात को गीतों के ध्वनिक्रम के सन्दर्भ में सीखा जाय। इसमें राग उतनी कठिन समस्या उत्पन्न नहीं करता है। गीत की धुन को गाना सरल है, क्योंकि जैसे ही हम किसी गीत को ध्वनिक्रम या आघात में प्रस्तुत करते हैं, शब्दों का उच्चारण भी सही-सही होने लगता है।

किसी गेय शब्द के अक्षर हमारे सामने इसलिए एक बड़ी चुनौती के रूप में होते हैं, क्योंकि गीतों में किसी शब्द की जो आकृति या ध्वनि होती है, वह बोलचाल में नहीं हुआ करती; उदाहरण के लिये दोर्ली गीत में 'गित-वाल' (कौमार्यहर) शब्द अधोलिखित रूपों में मिलता है—

गि तो वाले

, ; ;

नी तो वाली

; ; ;;

नी नी तो वाली

; , ; ;

नीनी तो वा ली

;; ; ;

ये विविध रूप गीत के लयात्मक ढाँचे के कारण हैं। ये शब्द के भीतर से नहीं बनते। ये रूप बोलचाल के रूप से पूर्णतः भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि गीत के लयात्मक ढाँचे को कौन निश्चित करता है? इसकी व्याख्या आगामी पृष्ठों में है।

विश्लेषण की दृष्टि से हम यह मानते हैं कि किसी गीत का आन्तरिक उपविभाग समवेत गायन का छन्द है, जिसके अन्तर्गत एक पूर्ण किन्तु लघुकथा होती है। जनजातियों के गीत यद्यपि वर्णनात्मक होते हैं, किन्तु सांस्कारिक गीतों में समवेत गायन के कारण हमें कुछ खास खाँचों पर कतिपय उप-परिस्थितियाँ भी मिलती हैं। समवेत गायन के अन्तर्गत साहित्यिक शब्दावली में एक पूर्ण लघु कथा मिलती है। इस प्रकार जनजातियों का यह वर्णनात्मक ढाँचा

जापानी की 'हाइकू'-कविता से मिलता-जुलता है। जनजातियों की कथा में वर्णनात्मक अवधि बहुत सीमित होती है। 'हाइकू' के समान इसमें भी विवरण के प्रारम्भ होने से अन्त होने के साथ विस्तारों का चयन तथा स्थानापन्न होना अनिवार्य है।

समवेत गायन के अन्तर्गत विद्यमान तान, लय तथा पाठ के माध्यम से पंक्तियों को परिभाषित किया जाता है तथा पंक्तियों के अन्तर्गत विद्यमान सांगीतिक ताल या ठेका के तुल्यरूप को हम शब्द की इकाइयों से परिभाषित करते हैं। जनजातियों की तकनीकी सांकेतिक शब्दावली में इनके लिये विविध शब्द हैं (परिशिष्ट–1)।

जनजातियों का 'पाटा' या 'गीत' शब्द हमारे समवेत गायन का समनुरूपी है। आरम्भ के लिए उसके पास **'रोचे'** या **'टेक'** या **'घोषा'** शब्द हैं तथा गीत की समाप्ति का वाचक **'लेंगना'** शब्द है। उनकी शब्दावली में एक गीत के अन्तर्गत सामान्यतौर पर कतिपय बिन्दुओं का अभिधान मिलता है। शास्त्रीय संगीत के समान इनके गीतों में बद्ध खण्ड नहीं मिलते।

अब हम 'गितोवाले' जैसे शब्दों के विविध रूपों पर यदि विचार करें तो पता चलेगा कि किसी गीत में शब्दों का ऐसा प्राचुर्य मिलता है, जो गीत के ध्वनिक्रम की किसी संख्या से जुड़ा रहता है। यह उस गीत की संरचना की यथास्थिति है तथा यह 'गितोवाले' जैसे शब्दों की ध्वनिक्रम की दीर्घता को बताता है, जिससे शब्द एक खास दीर्घता में फिट हो जाता है, जिसे हम **'प्रभावी प्रमुख दीर्घता'** कहते हैं।

'प्रभावी प्रमुख दीर्घता' के अन्तर्गत सामान्यतः लयात्मक तथा आक्षरिक विन्यास वाले विविध शब्द होते हैं अर्थात् उपर्युक्त उदाहरण में 'गितोवाले' शब्द के चार ध्वनिक्रम-विन्यास वाली दो विविधताएँ हैं। प्रधान या प्रभावी शब्दाकृति में 'फिट' होने का यह दूसरा स्तर है। अब देखना यह है कि उपर्युक्त दोनों तत्व गीत में अनुवाद किस प्रकार पैदा करते हैं। यदि इसे समझ लिया जाय तो आलोचक को यह निश्चित करना सरल हो जाता है कि कोई गीत ठीक-ठीक गाया जा रहा है या नहीं? इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दोनों तत्वों से उन शब्दों की आकृति पुनः निर्धारित होती है, जो बोलचाल की भाषा से आते हैं। पाठ के ठीक से प्रजनन या शुद्ध निष्पादन के लिये पाठ के द्वारा प्रस्तुत सुबोधता की भी बलि देनी पड़ती है।

गीत के पाठात्मक सन्देश में प्रधान शब्दाकृति का प्रतिनिधित्व सामान्यतः एक या दो **'सूची-शब्द'** करते हैं। इस प्रकार लय तथा बातचीत आपस में अन्तर्ग्रथित हो जाते हैं या परस्पर गुथ जाते हैं। पारस्परिक गुथाव का यह एक दूसरा पक्ष है कि गीत की आरंभिक पंक्तियाँ बाद वाली पंक्तियों के लिये एक ढाँचा बनाती हैं। प्रधान शब्दाकृति पहली पंक्ति में मिलती है और बाद वाली पंक्तियों में दीर्घता तथा ध्वनि सीमांकित रहती है।

उपर्युक्त प्रक्रिया ही अर्थ का संयोजन है। अर्थ का यह संयोजन बोलचाल से हटकर गीतों में शब्द के विविध परिवर्त्यों से जुड़ जाता है। यहाँ आकर ध्वनि तथा शब्दक्रम भी बदल जाते हैं। इन परिवर्तनों का अनुमानित लक्ष्य है याद रखने में सहायता करना अथवा याददाश्त से पाठ का त्रुटिहीन पुनः स्मरण करना। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे जनजातियाँ किसी गीत को बाहर निकालना (घोषा) तथा उठ खड़ा होना (लेंगना) कहती हैं। वे इसे शारीरिक प्रक्रिया के रूप में ही समझती हैं।

सामान्यतः यह क्रिया 'बोल' या 'पाड़' की बंदिश तथा **'सूची-शब्द'** के द्वारा निश्चित ढाँचे में पंक्तियों तथा मात्रा की रचना में सहायक होती है। हमने इस प्रक्रिया को एक कला के बजाय एक तकनीक के रूप में प्रस्तुत किया है, जो एकांगी है। यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि किसी गीत में **'प्रधान शब्दाकृति'** एकल शब्दाकृति से बहुत दूर होती है तथा प्रारंभिक पंक्ति में जो ढाँचा निश्चित हो जाता है, उसका अन्धानुकरण नहीं किया जाता है। गीत

कभी भी यांत्रिक नहीं होते। मेरी यह अवधारणा है कि यदि जनजातीय गीतों को **सौन्दर्यवादी** दृष्टि से परखने के बजाय **संज्ञानात्मक** दृष्टि से परखा जाय, तो जनजातीय गीतों को समझने में नई समझ का विकास हो सकता है।

6.2. ताल का स्वरूप : पाटाक्षरिक रचना

जनजातीय संगीत में ताल-परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। जनजातीय तालों का स्रोत वही है, जो शास्त्रीय संगीत की तालों का है। आदिवासी आनन्दातिरेक में गाते, ताल बजाते और नाचते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि गीत, ताल और नृत्य आनन्द की अभिव्यक्ति है। गीत और नृत्य की प्रतिष्ठा ताल से है। केवल ताल वाद्यों का वादन सुनते समय स्वतः उनके हाथ, दृष्टि या पैर हिलने लगते हैं—ताल की गति का अनुसरण करते हैं। संकोच के कारण हम भले ही न नाचें, किन्तु संकोचहीन आदिवासी नाचने लगते हैं। इसलिये यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा जनजातीय उल्लास ही ताल के रूप में विद्यमान है।

ताल का स्वरूप स्पन्द है। जनजातीय संसार में सारी शक्तियाँ स्पन्दनरूप में हैं। इसीलिये ताल को ये 'लिंगो' की शक्ति के रूप में पहचानते हैं।

ताल लय को दर्शाने की क्रिया है। संगीत में विभिन्न स्वरों के बीच जो अंतराल होता है, उसको नापने के लिये ताल-क्रिया आरंभ होती है। ताल मूलतः काल से सम्बन्धित है। 'काल' शब्द समय का सूचक है। ध्वनि के साथ ताल का समन्वय संगीत को अनुशासित व सुव्यवस्थित रूप प्रदान करता है। अतएव जनजातीय संगीत की रचना में 'काल' का विशेष महत्व है।

संगीत में कालप्रवाह की अभिव्यक्ति लय द्वारा होती है। लय समय की नियत समान गति है, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति किसी ताल-क्रिया के बाद अगली क्रिया होने के पूर्व तक के कालांतराल की विश्रान्ति द्वारा होती है। इसीलिये प्राचीन भारतीय संगीतशास्त्र के अनुसार तालक्रिया के अन्तर होने वाली विश्रान्ति को लय कहा गया है, जिसके प्रमुखतः द्रुत, मध्य और विलम्बित ये तीन भेद हैं।

संगीत में काल-परिमाण को नापने का साधन ताल है—

गीतादेः मितिर्मानं विदधत्
कुर्वन् कालः ताल इत्युच्यते ।।
(सिंहभूपाल, संगीतरत्नाकर, श्लोक 3)

तथा यह गीत, वाद्य और नृत्त की प्रतिष्ठापना का आधार है—

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं
यतस्ताले प्रतिष्ठितम् (तदेव)

ताल के अन्तर्गत मात्रा सबसे छोटा कालखण्ड होता है। अतः मात्रा ताल की इकाई है और कई मात्रायें मिलकर ताल का निर्माण करती हैं। जनजातीय तालों में लघु का काल प्रमाण चार ह्रस्व अक्षरों के क्रमोच्चार काल के बराबर है। लघु (ह्रस्व) अक्षर के उच्चारण-काल को ही संक्षेप में **'अक्षरकाल'** कहा जाता है।

जनजातीय तालों में एकताल प्राचीन काल से ही चला आया है और आज भी बस्तर की सभी जनजातियों के लोकसंगीत में किसी-न-किसी रूप में इसका रूप अवश्यमेव मिलता है। सरलतम होने के कारण आदिताल का व्यवहार जनजातीय नृत्यों में प्रचुरता के साथ होता है। संभवतः इसीलिये एक ताल को आदिताल कहा जाता है, जिसकी संज्ञा **'रासताल'** भी है—

लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः ।

(संगीतरत्नाकर, श्लोक 261)

जनजातीय संगीत में तालों को समझने के लिये प्रमुख आधार है पाटाक्षरों को समझना; क्योंकि यहाँ तालों की संरचना पाटाक्षरों के ही आधार पर हुई है। वाद्यों के बोलों को प्राचीन भारतीय संगीतशास्त्र में **'पाट'** कहा गया है। बस्तर में इसका अपभ्रंशरूप **'पाड़'** सभी जनबोलियों में मिलता है तथा संलग्न क्षेत्र (छत्तीसगढ़) में इसके लिये **'पार'** शब्द का व्यवहार होता है। कोई भी कुशल शास्त्रीय संगीत का वादक भी यहाँ के तालों को तब तक सही तौर पर नहीं बजा सकता, जब तक वह 'पाड़' या 'पार' को हृदयंगम नहीं कर पाता।

जनजातियों के चारों ही वाद्य इसी पाटाक्षरिक संरचना पर आधारित हैं। ये 'पाड़' ही वाद्य की लय को निश्चित करते हैं। इन सभी वाद्यों के अपने-अपने 'पाड़' सुनिश्चित हैं। यहाँ केवल ढोल तथा बाँसुरी के 'पाड़ों' का विवेचन किया जा रहा है।

(1) माँदर के पाटाक्षर

मुरिया जनजाति ढोलक बजाते समय अनेक लयों से परिचित होती है, जिसे वह 'पाड़' (संस्कृत पाट) कहती है। ये 'पाड़' या लय कभी-कभी किसी प्रकार के पदसंचार (डाका) से सम्बद्ध नहीं होते हैं। यह अवश्य है कि कभी-कभी ये नृत्य की विशेष गति से सहचरित होते हैं। इस प्रकार विवाह में 'परघाव' के निमित्त 'पाड़' या लय निश्चित है। मण्डप के चारों ओर नाचने के लिये विशेष 'पाड़' है, 'लागिर' समारोह के निश्चित 'पाड़' हैं, तथा ऐसे भी 'पाड़' हैं जो दूल्हा-दुलहिन को सुहागरात की सेज पर ले जाते हैं। धरती माता की पूजा के निमित्त विविध प्रकार के 'पाड़' सुनिश्चित हैं।

इन 'पाड़ों' को सरलता से स्मरण किये जाने वाले वाक्यों के माध्यम से जाना जाता है। इनमें निहित शब्दों का नृत्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है; अपितु इनके माध्यम से लय की अभिव्यक्ति होती है। झोरिया-मुरिया आज 'पाड़ों' की विविधता से परिचित नहीं हैं; उदाहरण के लिए मेटावण्ड के 'चेलिक' केवल दो 'पाड़ों' को ही जानते हैं—

(अ) जब वह दोनों हाथों से ढोल बजाता है, तो ढोल के बोल होते हैं—नीकुन गेतका नीकुन गेतका (ठीक से संभोग कर, ठीक से संभोग कर) और

(आ) जब वह एक हाथ से ढोल बजाता है तो ढोल से स्वर फूटते हैं—डेव्स डेव्स एन्दाट (कूद-कूद कर नाच)।

कबोंगा, वारागाँव, तथा हातीपरवना जैसे गाँवों में एवं पूर्व-मध्य के 'घोटुलों' में 'पाड़' की पद्धति बहुत ही विस्तृत तथा सुस्पष्ट है। एल्विन के समय में हाथीपखना में एक अंधा **'माँदरीगुरु'** रहता था, जो बालकों को पाटाक्षरों (पाड़) की शिक्षा देता था। वह केवल अक्षरों का ही उच्चारण करता था और 'चेलिक' तत्काल ही उन्हें ढोलों के बोलों में उतार देते थे।

अनेक 'पाड़ों' या लयों के अर्थ आज अस्पष्ट हैं। यहाँ आनुमानिक तौर पर इनका विश्लेषण किया जा रहा है—

(क) परघाव पाड़ : स्थानीय परम्परा के अनुसार जब वर या वधू एक दूसरे के घर जाते हैं, तो नर्तकों का समूह उनका स्वागत करता है। एक ही दिशा की ओर मुख करके वादक घेरे में हो जाते हैं और फिर युग्म में विभाजित होकर एक दूसरे के सामने आ जाते हैं। चूँकि प्रत्येक युवक तथा युवती के जीवन के लिये यह एक अविस्मरणीय घड़ी है, अतएव इस अवसर पर विविध 'पाड़ों' तथा लयों का संयोग होता है—

(एक) बरहामन के लुकाउन खाऊ आस तुइ तो
आस तो आस सगा के कहाँ पुराऊ आस ॥
(तू तो सुअरों को छिपाकर खाती है, सगे-सम्बन्धियों को क्या खिलाएगी)

(दो) जिम जिम जिम नडुम नर्का, जिम जिम जिम नडुम-नर्का
(रिमझिम रिमझिम आधी रात)

(तीन) हाट जासिस धुरिया धुरिया, पेज खाउन जासे ।
(बाजार जा रहे हो बहुत दूर, पेज खाकर जाना)

(चार) कहाँ ले इलासिस, धुरिया लाफी धुरिया ले ।
(कहाँ से आयी है, दूर से अति दूर से)

(पाँच) अरे बूबा कस्काड़ वे
(अरे बाप, काटेगा)

(छह) दुर दुर दुर दुर नेई हस्काड़ वे
(दुर दुर कुत्ता काटेगा)

(ख) **सगा-पाड़ :** जब दो ससुर सांस्कारिक रूप से पहली बार मिलते हैं, तो इस लय को बजाया जाता है। 'चेलिक' उन दोनों के चारों ओर घेरा बनाकर नाचते हैं तथा युग्म में एक दूसरे के सामने आ जाते हैं। थोड़ी देर बाद ये नाचते-नाचते रुकते हैं। अपने प्रत्येक युग्म 'सगा' के सामने पहुँच कर अपने ढोलक से हाथ उठाकर 'जोहार हो सगा' कहकर अभिवादन करता है—

(एक) जोहार हो सगा जोहार
(अभिवादन है समधी अभिवादन)

(दो) तुय समधी मयँ समधी, सुर्ती मींजुन खाऊँ ता
(तू समधी मैं समधी, सुर्ती मल कर खाएँ तो)

(तीन) आकिङ्ङ कोया कोर्का, दाड़ंगो तुस्का ता
(भाई पत्ते तोड़, शराब तो परोस)

(चार) गतला पाटा सकले कीम, दाय पोहरे माम
(कपड़े-लत्ते समेट ले, मेरे पास आने से पहले)

(पांच) जोहार हो सगा जोहार
भेंट होउन दुनों सगा-समधी मन्द पिऊँ
(अभिवादन समधी अभिवादन
मिलने पर हम दोनों शराब पिएँ)

(छह) अडि नर्का बूभ नर्का, तरा पेका काल नोर्का
(आधी रात और दोपहर, पैर धोने के लिए पानी लाओ लड़के)

(ग) **दाड़ंगो उण्डाना पाड़ :** शराब पीने के वक्त की लय। यह दो समधिनों के भेंट के समय सांस्कारिक तौर पर मद्यपान के अवसर पर बजायी जाती है—

दुमुन दुमुन काह ता, दुमुन दुमुन काह ता
(पात्र से शराब निकाल कर दे)

(घ) **माँडा-पाड़ :** विवाह के मण्डप के लिये जब लड़के-लड़कियाँ लकड़ी लाते हैं, तब यह लय बजायी जाती है। शोभायात्रा में वादक आगे-आगे ढोल बजाते हुए जंगल की ओर जाते हैं और वहाँ से लकड़ी को संचित कर पुनः शोभायात्रा बनाकर गाँव की ओर ढोल बजाते हुए वापिस लौटते हैं। यह 'पाड़' उस समय बजाया जाता है जब मण्डप के अन्दर वेदिका को लीपा जा रहा होता है तथा विविध प्रकार की सांस्कारिक क्रियायें सम्पन्न की जा रही होती हैं—

(1) उस्ता गुन्दुर गुन्दुर ता, तिन पेकोर वक वर्क
(अरे लावा पक्षी-सदृश बालको, चिउड़ा खावो)

(2) बोंयला बनावाँ झटके माटी आन गायतिन
(मण्डप बनायेंगे, शीघ्र, मिट्टी ला गायता की पत्नी)

(3) हरदे टेका पुइता, पेकिन पेंडा उइता
(रास्ते में चार फल फूला है, लड़की की योनि सूजी है)

(4) छीछ पेंडा कवड़ेला
(कौड़ी जैसी योनि को सींच)

(5) आँद आँद आँद, आयो आयो आयो
(है है है, नहीं है, नहीं है, नहीं है)

(6) गाँव चो मनुख सियान
(गाँव के सभी वृद्धजन)

(7) नेउन नेउन चेपावाँ
(पकड़-पकड़ कर दबाएँ)

(8) अद लया वेस्ता, खिडिक सुर्ती देस्ता
(यह लड़की सुन्दर है, थोड़ा तम्बाखू दो)

(9) माँडी माँडी टेंडसीम, दाय पोहरेमाम
(मण्डप पर डाल कर लकड़ी, चले जावो)

(ङ) **नेयी तरहाना पाड़ :** वर तथा वधू के शरीर पर तेल चढ़ाने का थकाने वाला संस्कार दो दिनों तक चलता है; किन्तु सुमधुर लयों से थकान दूर हो जाती है—

(1) तेदा मुदिया टट्टी दे
(खड़े हो जावो वृद्ध, वसूला दो)

(2) गाम चेघली वसुन्दे ता
(सूर्य–किरण के चढ़ने तक हम बैठे रहें)

(3) बरहा माँस के चोरुन नेयसे, लाछू आय लाछू
(सुअर मांस को चुराकर ले जा रहा है, लच्छू है लच्छू)

(4) डिम डिम डिम कोसुम डिम, तुमचो बापचो पोलका डिम
(अण्डकोष अण्डकोष अण्डकोष, कोसुम का अण्डकोष,
तुम्हारे पिता के अण्डकोष पोले हैं)

(5) डेंगुर मुंडी में लमहा आसे, छू कावरी छू
(बमीठे में एक खरगोश है, छू कबरी छू)

(6) तेदा भुसकी हाट्म दायि
(उठ मोटी बाजार जा)

(7) करंजी गाँव चो कुरसा, गाँव काजे पुरसा
(करंजी गाँव का सिउना वृक्ष, गाँव के लिये पुरुष है)

(च) माउड़ तताना पाड़ : वर तथा वधू के शिर पर मकुट-बंधन के समय यह धुन बजायी जाती है—

टट्टी दे, टट्टी दे, हन्वाड़ बाबू हन्वाड़
(वसूला दे वसूला दे, न जाने वाले बाबू)

(छ) लागिड़ पाड़ : विवाह का अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग है वर-वधू की सप्तपदी की क्रिया। वेदिका के चारों ओर 'चेलिक' रहते हैं। इस समय ढोल की धुनें 'मोटियारी' के स्वरों से मिल जाती हैं—

(1) मयँ समधी तुम समधिन
जोहार-भेंट होउन लेका के पानी रिकाउन
(मैं समधी तू समधिन
अभिवादन के पश्चात् और लड़की पर पानी डालने के वाद)

(2) वनियाँ गाँव चो वनभैंसा बाटे चारा चरेसे
गुच बाई केदेन्दे ता केदेन्दे ता
(बनियागाँव का वनभैंसा चारा चरता है
हट लड़की मैं उसे खदेड़ूँगा)

(3) येरगुण्डा इन्ता ताने तिन्ता
कमका इन्ता ताने तिन्ता।
(पानी का साँप कह कर खालें
हल्दी कह कर खा लें)

(4) कौरवाल कुसिर कोरस्ता, अगाय मुत्ते नरस्ता
(कोरवाल भाजी अंकुरी है, वही पर औरत है)

(5) बाटे रलो डुरकी छू छू छू ता ता ता
(मार्ग पर चीतनी थी)

(6) जोहार लयोर जोहार, कोर फटफटे मन्ता
(अभिवादन करो युवक, मुर्गा बोलने का समय हो गया है)

(7) तेदा बूड़ा हाटुम ते
(उठ बूढ़े बाजार जा)

(ज) कोर-पुदे-पाड़ : दूल्हा-दुलहिन आँख बचाकर सुहागरात नहीं मना सकते। उन्हें ढोल की आवाज के साथ सुहागरात मनाने के लिये शयनकक्ष तक ले जाया जाता है। इन 'पाड़ों' को बजाते समय युवक समय-समय पर ढोल से दोनों हाथों को उठाकर एक कामोत्तेजित मुर्गे के समान हावभाव भी करते हैं—

(1) अदन लुठा दमदमा, तरनी बायले गमगमा
(साजे की लुठी ताकतवर है, तरुणी स्त्री मजबूत है)

(2) दुलही दूध के दुलहा घरे, दुलही थरथरे
(दुल्हन के स्तन को दुल्हा पकड़ता है और दुल्हन
थरथराती है)

(3) धीरे-धीरे गुमचा, चाँड चाँड गुमचा
(धीरे-धीरे डालो, फिर तेजी से डालो)

(4) डेंगुर मूँड चो केऊ, मितरे नेउन गवगव देऊ
(केऊ कन्द का शिर बमीठे में घुस रहा है, भीतर
घुसकर बार-बार निकलता-घुसता है)

यहीं से उन 'पाड़ों' या धुनों की समाप्ति होती है, जो विवाह के अवसर पर बजाए जाते हैं। विवाह के अवसर पर अधोलिखित अन्य 'पाड़' भी बजाए जाते हैं, किन्तु ये किसी भी संस्कार से जुड़े हुए नहीं हैं। ये केवल नृत्य के आमोदमय स्वरूप से जुड़े हुये हैं—

(झ) गोंडिन-पाड़ : ढोल बजाने वाले युग्म के साथ एक घेरा बनाकर अधोलिखित धुन बजाते हैं—

गोंडिन गोंडिन बलासत, काय के गोंडिन बलासत।
बुचक मन्द देसे तवतो, गोंडिन बलासे।
(गोंडिन गोंडिन बोलते हो क्यों बोलते हो।
थोड़ा-सा मद्य दो तभी तो गोंडिन बोलोगे)

(ऋ) माँदर-पेलनी-पाड़ : ढोल बजाने वाले पहले युग्म में एक दूसरे के सामने शान्त खड़े हो जाते हैं। एकाएक वे अपना हाथ हवा में लहराते हैं और अधूरे पदचाप के साथ झुके हुए घुटने से तेजी से चक्कर लगाते हैं। फिर घुटनों को सीधा करते हैं तथा विकल्प से एक पैर उठाकर बाएँ से दाएँ नाचते हैं—

करंजी गाँव चो भुरसा आउर बोदी नाँव पाडुन पाडुन साँग
गोटोक बहारी चो गोटोक सिलक।
(करंजी गाँव के भुरसा और बोदी नाम लेकर धुन बजा।
एक झाड़ू के लिए एक सिलक है।

(ट) सैलोड़ी पाड़ : इसकी धुन अधिक भेदक होती है। वादन की क्रिया तीखी आवाज से रुक-सी जाती है और ढोल बजाते समय युवक हवा में अपनी भुजा लहराते हैं। घेरा निरन्तर आगे और पीछे होता रहता है—

(1) नाचुन नाचुन कहाँ जावाँ, हामके लागली भूक
दोनाएक पेज कोन देऊ आय।
(नाचते नाचते हम कहाँ जायें। हमें भूख लगी हैं
एक दोन। पेज कौन देने वाला है)

(2) खेदुन खेदुन बाग डरे, एकलो मनुख एन्द करे
छिचका चार गोंड़ के आड़ करे।
(खेदने पर वाघ डरता है। एक मनुष्य नाच करता है
छिचका चारगोड़ से डरता है)

(3) छचान मारुन नेयसे, छचान मारुन नेयसे
जावाँ बोहारी छड़ाँवाँ।

(बाज मारकर लिए जा रहा है,
चलो बहू छुड़ाएँ ।)

(4) छाह छाह पाड़ ओलतोम
(हम छाह-छाह धुन बजाते हैं ।)

(ठ) **कोण्डागाँव-पाड़ :** यह धुन विशेष रूप से कोण्डागाँव के 'घोटुलों' से सम्बद्ध है—

डुम डुम कोण्डागाँव नावगाँव सोनावाल
(डुम-डुम की धुन कोण्डागाँव में तथा निर्णय
सोनावाल में)

(ड) **माँदरी-पाड़ अथवा माँदर-केलनी-पाड़ :** एक ढोलवादक घुटने के बल बैठ जाता है तथा दूसरे ढोलवादक पंक्ति में उसके ऊपर से होकर कूदकर निकल जाते हैं । पंक्ति का अंतिम युवक भी घुटनों के बल बैंठ जाता है और तब पंक्ति के लोग इन दो वादकों के ऊपर से होकर कूदते हैं । पारी-पारी से यह क्रिया अधोलिखित धुन के साथ पंक्ति के सभी लोगों को करनी पड़ती है—

(क) माँदर डण्डिक खेलुन ता
(कुछ समय के लिये माँदर से खेलकर)

(ख) पागी हिटाउन देस ता ।
(पगड़ी तो हटा लेने दे)

(ढ) **उरम-पाड़ :** यह काम-केलिपरक एक संश्लिष्ट नृत्य है, जो देखते ही बनता है । युवक सर्वप्रथम दोनों हाथों से ढोल पीटते हुए एक मण्डलाकृति बनाते हैं । तदनन्तर वे ढोलों को धरती पर रख देते हैं और फिर ढोल बजाते हुए उस समय तक आगे बढ़ते हैं, जब तक रखे हुये ढोल के पास नहीं आ जाते । वे ढोलों पर बैठकर दोनों हाथों से ढोल के एक किनारे को बजाते हैं । फिर वे दूसरा किनारा बजाते हैं । पुनः खड़े होकर अपने हाथों से हवा में तालियाँ बजाते हैं । चारों ओर घूमते हैं । नीचे झुकते हैं और भीतरी किनारा बजाते हैं और तब एक ही घेरे में ढोल को लुढ़का देते हैं । फिर दो कदम चल कर उन्हें उठाते हैं । बाहरी कोना बजाते हैं । फिर खड़े हो जाते हैं और फिर ऊपर हाथों को ले जाकर तालियाँ बजाते हैं । नीचे झुकते हैं । कंधे के ऊपर ढोलों को झुलाते हैं और सामान्य रीति से अधोलिखित 'पाटाक्षरिक' रचना करते हैं—

बसुन आउर गाउन दूनों बाट चो
(दोनों ओर से बैठकर और गाकर)

(ण) **वर्क-पाड़ :** किसी सांस्कारिक उत्सव पर जब युवक युवतियाँ 'चिउड़ा' खाती हैं, तब यह धुन बजायी जाती है—

उदि सगा उदिता पोर बोदेला दाट
संगी दाट संगी ममाट जाले उदयोम ।
(उठ सम्बन्धी उठ, पोरबोदेला चलें ।
संगी चल, संगी हम भी उठें ।)

(त) **माटी पाड़ :** धार्मिक उत्सवों में बजायी जाने वाली यह धुन 'भूमिमाता' को लक्ष्य करके होती है—

बूटा भीतर चो लमहा माँस छाह-छाह ने
(झाड़ी के भीतर के खरगोश का मांस निरर्थक)

इस प्रकार अवनद्ध वाद्यों की मुरिया-संसार में प्रतिष्ठा है। विशिष्ट अवसरों पर ये उनकी पूजा भी करते हैं। 'माँदरी' का व्यवहार प्रायः विवाहोत्सवों में होता है। धार्मिक उत्सवों में ये 'माँदरी' के बजाय एक गोलाकार ढोल का प्रयोग करते हैं। जब लड़के विवाहयात्रा में किसी गाँव में प्रवेश करते हैं, तो गाँव में प्रवेश करते ही पुकारते हैं—

'कोई दुष्टात्मा हमें न सताए'। वे दूर्वा घास को लेकर अपने पीछे छिड़कते जाते हैं। ढोलों में भी दूब घास लगाए रहते हैं। गाँव में प्रवेश करते ही ये 'भीमुलपाड़' (पाटाक्षरसमूह) बजाते हैं, जो 'भीमुल' की स्तुति में बजायी गयी धुन होती है। इसे बजाते हुये वे विवाहमण्डप की परिक्रमा करते हैं। अन्त में पृथक् होकर ढोलों को एक स्थान पर रख देते हैं। इसके उपरान्त **'माँदरी-गुरु'** नामक ढोल बजाने वालों का मुखिया 'लिंगो' या 'दन्तेश्वरी' या 'भीमुल' के नाम से चावल, हल्दी तथा आटे से ढोल की पूजा करता है और कहता है—

"ढोल की आवाज सुमधुर हो। हमारे पदसंचार विविधतामय हों और लय उचित हो। हे **माँदरी गुरु भीमुल,** हमारा ढोल तुम्हारे ढोल के समान घोषमय हो।" पूजा अर्चना के पश्चात् पुनः सभी एकत्र होते हैं और झुककर अपने-अपने ढोलों की डोरियाँ पकड़ लेते हैं और 'माँदरी-गुरु' के विशिष्ट संकेत के साथ ही **तेजी** से ढोल बजाना प्रारम्भ कर देते हैं।

जब कोई ढोल फूट जाता है तो उसका स्वामी 'सिरहा' से कारण पूछता है और जिस आत्मा के कारण ढोल को क्षति पहुँची है, उसे प्रसन्न करने के लिये बलि देता है।

(2) बाँसुरी के पाटाक्षर

चेलिक अच्छे बाँसुरी-वादक होते हैं। उत्सवों में ये बाँसुरी के सुर के साथ नाचते हैं। जानवरों को चराते समय रात्रि में 'केतुल' पर एकाकी स्थिति में ये बाँसुरी को बजाते। बरमकोट के 'चेलिकों' को बाँसुरी की अधोलिखित दस धुनों की पहचान है—

(क) माता-पाड़
(ख) वंगाराम-पाड़
(ग) मावली-पाड़
(घ) बूढ़ाडोकरा-पाड़
(ङ) खाँडा डोकरा-पाड़
(च) लिंगो-पाड़
(छ) सोनकुँअर-पाड़
(ज) कुँआरी मावली पाड़
(झ) भामिनी-पाड़
(ऋ) भंगाराम-पाड़

यह ध्यातव्य है कि नाट्यशास्त्र के तालाध्याय में ताल के दस ही प्राण बतलाए गये हैं। अब तक हमने जिन 'पाड़ों' की चर्चा की है, उनके लिये संस्कृत में 'पाट' शब्द था, किन्तु आज उत्तर की ताल सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली में उसे **'बोल'** कहा जाता है। ताल-वाद्यों पर जो वर्ण या अक्षर बजाये जाते हैं, उन्हें बोल कहा जाता है; किन्तु जनजातीय संगीत की पारिभाषिक शब्दावली में तालवाद्यों पर जो वाक्य बनते हैं, वे 'पाड़' हैं। इन 'पाड़ों' या 'बोलों' से किसी ताल का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन 'बोलों' का निर्माण जनजातीय वादकों की अपनी कल्पना से हुआ है। इसीलिए ठेके के 'बोलों' में कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत असमानता पाई जाती है; फिर भी प्रचलित

ठेके के **'बोल'** अल्पाधिक परिवर्तन के साथ प्रायः समान रूप से पूरे बस्तर में पाए जाते हैं। 'बोलों' में थोड़ा-बहुत अन्तर होने पर भी ठेके की लय तथा ताल दोनों में बराबर सुरक्षित रहते हैं। इन जनजातीय तालों में 'चर्चरी-ताल' का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक दीखता है; क्योंकि इसकी चर्चा **'संगीत-रत्नाकर'** में भी हुई है। ये चतुर्दशमात्रिक तथा षोडशमात्रिक हैं। पाटाक्षरों के उलट-फेर से कालांतर में इन्हीं के आधार पर नयी-नयी तालों का विकास हुआ। इससे यह भी अनुमान लगता है कि बस्तर में विकसित तालों का सम्बन्ध प्राचीन रास, नाट्यरासक व चर्चरी नृत्य-गान में व्यवहृत तालों से अवश्य रहा होगा। यहाँ रास, नाट्यरासक एवं चर्चरी आदि विधाओं की संगति के लिये अवनद्ध तालवाद्यों का उपयोग प्राचीन काल से ही रहा होगा।

6.3. अबुझमाड़िया-जनजाति की ध्वनि-संकेतन-व्यवस्था

अबुझमाड़िया जनजाति में सांगीतिक वाद्यों का प्रयोग संकेतन के अभिप्राय से भी किया जाता रहा है, जिस पर आज तक किसी प्रशासक या मानवविज्ञानी का ध्यान नहीं गया। इनके यहाँ 'ढोल' तथा 'तोड़ी' (तुरही) की **सिग्नल-व्यवस्था** इतनी विस्तृत है कि उनके माध्यम से मुक्तरूप में वार्तालाप सम्भव है।

प्राचीन काल में अबुझमाड़िया शासकीय अधिकारियों के सामने नहीं आते थे। सरकारी **मालगुजारी** की वसूली के अवसर पर इन लोगों के गांव के पास जाकर सरकारी अधिकारी ढोल व 'तुरही' बजाते थे, जिससे ये लोग यह समझ जाते थे कि देय **मालगुजारी** को निश्चित स्थान पर **जमा** करना है। (ठाकुर : 1908 : 140)। इसी प्रकार जब ये रात्रि में खेतों की रखवाली करते थे, उस समय खेत में कौन जानवर आया, इसका संकेतन गाय या भैंसों की शृंगी से करते थे। इनके विविध संकेत दूसरे लोगों को बोधगम्य होते थे (तदेव)।

वाद्यों की यह संकेत-प्रणाली बोलचाल की भाषा के स्वरमान या ध्वनि को प्रत्यक्ष रूप से सांगीतिक माध्यम से रूपान्तरित कर देने की है। इसके साथ कतिपय अन्य स्वनिकीय विशेषतायें भी जुड़ जाती हैं।

सीमान्त क्षेत्र में जो ढोलवादक द्विभाषी या बहुभाषी हैं, वे भिन्न भाषाभाषी जनजातियों को ढोल के माध्यम से ही अपने संवाद प्रेषित करते हैं। बस्तर की चारों रक्तक्रान्तियों में समूचे बस्तर में संकेत प्रेषित करने की इसी प्रणाली का व्यवहार हुआ था; उदाहरणार्थ 1910 ई० के आदिवासी-विद्रोह में पूरे बस्तर में जो संकेत भेजे गये थे, उसके अनुसार सभी आदिवासी दूसरे दिन जगदलपुर के पास अलनार-भाठा में अंग्रेजों के खिलाफ मोर्चाबन्दी करने के लिये एकत्र हो गये थे। इस रक्तक्रांति में ढोल के अतिरिक्त तीरों के माध्यम से भी संकेतप्रेषण हुआ था और तीर लगे आम के पत्ते और मिर्च जब किसी गाँव में पहुँचते थे, तो उस गाँव का क्रांतिकारी उसे दूसरे गाँव में अपने धनुष से सम्प्रेषित कर देता था।

संकेत-प्रेषण की दृष्टि से बस्तर का बहुभाषी होना बाधक नहीं है; अपितु यह कहा जा सकता है कि संकेत-प्रणाली की दृष्टि से समूचा बस्तर एक ही **'भाषायी क्षेत्र'** है। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि संकेत-प्रेषण करने वाला बस्तर की इक्कीस भाषायें जानता ही हो। उसके लिये इतना ही काफी है कि वह दूसरी बोलियों के संकेतों को वास्तविक अर्थ के साथ सीख ले, जिससे अवसर आने पर वह विविध संकेतों को ढोल बजाकर प्रसारित कर दे। कतिपय ऐसे भी अपवाद हैं, जहाँ **'सिग्नल-व्यवस्था'** एक **'पारम्परिक संकेत'** का काम करती है, तथा 'हेले' (नरबलि) की संकेतनप्रणाली आज भी बहुत गोपनीय होती है।

अबुझमाड़िया के इस अध्ययन से अधोलिखित परिणाम निकलते हैं—

(क) इनकी **'सिग्नल-व्यवस्था'** में भाषायी विशेषतायें अति संक्षिप्त हैं।

(ख) विविध प्रकार के वाद्यों से **'सिग्नल'** भेजे जा सकते हैं। इनमें कुछ वाद्य दूर तक **'सिग्नल'** भेजते हैं तथा कुछ पास तक।

(ग) यह संकेतन-प्रणाली एक तकनीक के रूप में सामाजिक जीवन तथा सामाजिक संरचना से संश्लिष्ट है।

(घ) इसमें संगीत का माधुर्य भी है और संकेत की व्यवस्था भी।

(ङ) नरबलि (हेले) करने के लिये जो संकेत भेजे जाते हैं, वे सदैव रात्रि में सम्प्रेषित होते हैं। प्रायः रात्रि दो बजे से चार बजे तक।

इनके **'सिग्नल'** की भाषा एक तकनीकी भाषा है। यह उच्चकोटि की कवित्वमय भाषा है, जो वीरतापूर्ण क्षणों या युद्ध के अवसरों या नरबलि के समय प्रयुक्त होती है। नरबलि के अवसर पर भेजे जाने वाले संकेतों का यह लक्ष्य होता है कि उस जनजाति से बाहर के लोग उस संकेत को ग्रहण न कर सकें। इस रूप में यह **'गुप्त सांकेतिक प्रणाली'** भी हैं।

'सिग्नल-व्यवस्था' का प्रयोग विविध परिस्थितियों में होता है। ढोल से निकलने वाले 'बोल' (पाड़) एकाक्षरिक होते हैं। ढोल की ताल (आघात) से किसी व्यक्ति, पशु या वस्तु के नामों का संकेतन होता है। इनके विविध संयोगों को विस्तारित करके विविध प्रकार के सांकेतिक अर्थों को प्राप्त किया जा सकता है। कोई भी **'सिग्नल'** बहुत देर तक कोई एक निश्चित आघात बन कर नहीं रह सकता, अपितु उसमें एक विशेष लयात्मक तथा रागात्मक गुप्त अभिप्राय निहित रहता है, जो विषयवस्तु का बोध करा देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में बस्तर की बहुभाषी जनजातियों के बीच सम्प्रेषणीयता के लिये अनेक प्रकार की **सिग्नल-व्यवस्था** विद्यमान रही होगी। 1795 ई० में बस्तर में प्रवेश करने की कोशिश में कैप्टेन ब्लण्ट ने भोपालपट्टनम के बाहरी क्षेत्र में अपना पड़ाव डाला था और वहाँ उन्होंने जो **सिग्नल-व्यवस्था** देखी थी, उसमें **'टाम-टाम'** की ध्वनि का ही संकेतन हुआ था। इससे सुस्पष्ट है कि बस्तर में ढोलों के माध्यम से ही संकेत नहीं प्रेषित किए जाते थे, अपितु 'तुरही', 'शृंगी', तथा 'बाँसुरी' जैसे वाद्य भी सम्प्रेषण के प्रमुख साधन थे। यहाँ की गदबा नामक जाति आज भी बाँसुरी के माध्यम से विस्तृत संकेतों को सम्प्रेषित करती है।

अबुझमाड़ के **सिग्नल-ढोल** का नाम है **'तुरम'** (द्रष्टव्य : 2. 3. 15)। इसमें विविध प्रकार की ध्वनियों को पैदा करने के लिये विविध बिन्दु होते हैं। आघात के लिये सीधे दण्ड का व्यवहार होता है तथा दण्ड की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ पैदा होती हैं।

'तुरम' वादकों का यह कर्तव्य है कि ये अपने समुदाय की विविध बातों की सूचना देते रहें। **'तुरम'**-वादक विशिष्ट सांकेतिक प्रणाली से दण्डामी माड़िया तथा दोर्ली जनजाति के लोगों के ही समान मृत्यु की सूचना देता है, गाँव में किसी आगन्तुक का सन्देश देता है, तथा लोगों को भावी खतरों से सावधान करता है। युद्ध या आन्दोलन की स्थिति में इन **'तुरम'-वादकों** का काम बहुत अधिक बढ़ जाता है। विविध गूढ़ तथा जटिल अर्थों को **'सिंगी'** (द्रष्टव्य : 2. 5. 32) बजाने वाले भी सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। अबुझमाड़ के प्रत्येक गाँव में **'लेस्के'** (धार्मिक व्यक्ति) के लिये इस **'तुरम'-ढोल** के विशेष 'बोल' होते हैं और उस उपाधि से ही ढोलों के 'बोल' (पाड़) निश्चित होते हैं। बस्तर में प्रत्येक नगर के दो नाम मिलते हैं। एक तो वे नाम जो आज प्रचलित हैं तथा दूसरे वे नाम जो शताब्दियों से ढोल के 'बोल' में सांकेतिक नाम से प्रचलित हैं; उदाहरण के लिये जगदलपुर को दण्डामी माड़िया तथा अबुझमाड़िया में **'चेन्ना पेड़ेम'** कहा जाता है। प्रत्येक गाँव के ये दो नाम यह सूचित करते हैं कि प्राचीन काल में समूचे बस्तर में यह **सांकेतिक प्रणाली** बहुत ही वैज्ञानिक रही होगी। आधुनिकीकरण के प्रभाव से

अब ये द्वितीय नाम **'ढोल-सिग्नल'** के पूर्वरूप के सूचक हैं तथा इनके आधार पर **'प्राक्-संकेतनप्रणाली'** को पुनर्रचित किया जा सकता है। ये द्वितीय स्थान-नाम यहाँ के लोक-गीतों में आज भी प्रचलित हैं।

अबुझमाड़िया ढोलवादक एक सुनिश्चित सूत्र (फार्मूला) की सामग्री का उपयोग करते हैं। इनके ढोलवादन के सूत्र (फार्मूले) में अनेक परिवर्त्य तथा संयोग होते हैं। किसी खास सम्प्रेषण में इन **'सुनिश्चित सूत्रों'** को दुहराया जाता है। उस **'सुनिश्चित सूत्र'** के साथ परिस्थिति के अनुसार विविध परिवर्त्य तथा दूसरे रूप बिखरे हुये रहते हैं। एकल संकेत भी एक गाँव से दूसरे गाँव तक भेजे जा सकते हैं। स्वाभाविक रूप से जब एक गाँव का ढोलवादक कोई संकेत सुनता है, तो वह उस संकेत की अवाप्ति के अनन्तर दूसरे गाँव तक अपने ढोल से **'सिग्नल'** को स्थानान्तरित कर देता है और कुछ ही क्षणों में समूचा अबुझमाड़ किसी सन्देश से परिचित हो जाता है।

ढोल की **'पल्ली'** के मध्य में या कोण पर आघात करने से अलग-अलग ध्वनियाँ पैदा की जाती हैं। चूँकि चर्म बहुत कठोर होता है, इसलिये उच्चतर धुनें निकलती हैं। इसमें असमान दो दण्ड भी ध्वनिभेद पैदा करते हैं। अबुझमाड़िया स्वनिम प्रकृति के केवल सीमित संकेत ही उत्पन्न कर सकते हैं। संकेतों के सम्प्रेषण के पूर्व समस्थानीय द्रुत आघात किए जाते हैं, जो दूर-दराज के गाँवों के ढोलवादकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस 'पुरोवाक्' का अभिप्राय है कि कोई महत्वपूर्ण सूचना सम्प्रेषित की जानी है, जिसे सुनने के लिये लोग तैयार हो जायँ। इस पुरोवाक् को तीन बार दुहराया जाता है, फिर प्रमुख संकेत सम्प्रेषित किया जाता है। प्रमुख संकेत का सम्प्रेषण भी तीन बार होता है। इस **संकेतप्रणाली** का प्रभाव यह होता है कि दूसरी तरफ से संकेत सुनने की प्रतीक्षा के सकेत मिलते हैं। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि **'द्विपक्षी संवादप्रेषण'** की स्थिति न बन जाय।

अबुझमाड़िया की संकेत-प्रणाली को मात्राओं के आधार पर भी विश्लेषित किया जा सकता है। आमतौर पर यहाँ प्रत्येक मात्रा के लिये एकल आघात होता है। आघात के स्थान पर **'सांगीतिक धुन'** भी होती है। इसमें समय का अन्तराल संवादप्रेषण के लक्ष्य के अनुसार होता है। द्विगुणित मात्रा को दो आघातों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है या फिर दो ध्वनियों के माध्यम से। बोलचाल की भाषा के समान ढोल-सकेतन में भी बीच-बीच में 'संहिता' होती है। इसमें पाँच तक की ध्वनिव्यवस्था उपलब्ध है। ध्वनिकीय ढाँचे को ध्यान में रखकर इसमें सन्ध्यक्षर, श्रुति तथा बलवाचिता या व्यंजनों के लिये जो आघात होते हैं, वे ढोल के किनारे से किए जाते हैं। इन भाषिक इकाइयों को प्रस्तुत करने हुए ढोलवादक को यह छूट है कि ध्वनियों में सांगीतिक नाद भर दे। वह अपनी योग्यतानुसार इस क्रिया को बहुत ही काव्यात्मक ढंग से सम्पादित करता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से यह ज्ञात होता है कि इन ढोलों के 'बोलों' के विवेचनप्रसंग में ध्वनिगुण, रीतिबद्धता तथा संचरण-सम्बन्धी भावानुहारिता का एक खास क्रम होता है और इन क्रमों के मध्य भेद करने से ही सम्प्रेषण बोधगम्य हो सकता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—

(क) ढोलों के 'बोल' स्वयं ही सौन्दर्यशास्त्र के अनुरूप क्रमों को प्रस्तुत करते हैं; जैसे प्रतिध्वनि एवं समरूपता वाले आघात। तदनुसार किसी 'बोल' का ध्वनिरूप सौन्दर्य की एक इकाई है, जो अनुतानों में मिलती है। मूल आघात के साथ ढोल के कोण से होने वाले आघात भी नियमित परिवर्तन उपस्थित कर विविध संयोगों की रचना करते हैं।

(ख) ढोल का वादन कैसे भी हो, उसमें कुछ-न-कुछ सौन्दर्यानुरूपता अवश्य होती है। यहाँ सौन्दर्य की सार्थकता को मात्रा के साथ जोड़ा जा सकता है। ढोलों के ध्वनिरूप के क्रमों की अल्पता और अधिकता सुन्दरता को नियमित नहीं करती। महत्वपूर्ण बात है भावानुहारिता के भाव की प्रस्तुति। तदनुसार ढोल के 'बोलों' की रीतिबद्धता

ढोलवादक की रचनात्मकता को बताती है और ढोलों के 'बोलों' के श्रवण की भावानुहारिता सुनने वाले आदिवासियों की रचनात्मक क्रियाशीलता को व्यक्त करती है।

यहां यह ध्यान रखना होगा कि तानों की शृंखला राग नहीं है और न ही आघातों की शृंखला को लय कहा जा सकता है। ढोलवादक एक ही राग को तानों की विभिन्न शृंखलाओं के माध्यम से उत्पन्न करते हैं। वे एक ही राग को उच्च या निम्न सुर में बदल सकते हैं। तदनुसार आघातों की एक ही शृंखला को कई रूपों में अनुभव किया जा सकता है; जैसा कि कैप्टेन ब्लण्ट (1795) ने अनुभव किया था—

टोम-टाम, टोम-टाम-टाम, टोम-टोम-टाम आदि।

तानों की तथा आघातों की शृंखलायें ही यहाँ संकेतप्रणाली में रीतिबद्ध हैं, जिनका ज्ञान तथा अनुभव पूरे समूह को होता है। श्रोता जब ढोल के आघातों को सुनता है, तो उसमें भावानुहारिता के गुण मिलते हैं—खण्डीकरण, संसर्ग, लय आदि।

ढोल के मुख पर होने वाले विविध प्रकार के आघात या संघर्षण भी विविधार्थी होते हैं। इस प्रकार अबुझमाड़िया की इस **'ढोलसंकेतनप्रणाली'** से हम अबुझमाड़िया की **'बायोलाजी'** तथा सम्प्रेषणीयता को समझ सकने में समर्थ हो सकते हैं और इस आधार पर हम उनकी **'बायो-लिंग्विस्टिक्स'** पर नए सिरे से विचार कर सकते हैं।

टिप्पण

(i) दण्डामी माड़िया में भी पाड़ों की संरचना मुरिया के समान है। जगदलपुर तहसील के टाकरागुड़ा निवासी बोगा गुनिया को वाद्यों के अधोलिखित पाड़ों की जानकारी है—परघाव पाड़, तेलचेघानी पाड़, तेल उतरानी पाड़, परला उचानी पाड़, सगापाड़, लागिड़ पाड़, सौलोड़ी पाड़, झालियाना पाड़, माता पाड़, माटी पाड़, भंगाराम पाड़, मावली पाड़, दन्तेश्वरी पाड़, दुलारदेई पाड़, बूढ़ा डोकरा पाड़, सोनकुंअर पाड़, बनकुंअर पाड़। उसके अनुसार दण्डामी माड़िया जनों को 'कर्रे देवता' ने नृत्य सिखाया था।

(ii) किलेपाल के बोजा माड़िया के अनुसार पाड़ तीन प्रकार के होते हैं—(क) देवी-देवताओं के पाड़; यथा दन्तेश्वरी पाड़, मावली पाड़, भैरम पाड़, कंकाली पाड़। (ख) सांस्कारिक पाड़; यथा परघाव पाड़, बरात पाड़, माटी पाड़ आदि। (ग) राजकीय पाड़; यथा नवात पाड़ (राजा के उठने का पाड़) आदि।

(iii) कनेरा गांव की मुरिया गुरुमाय धनकुल के दो पाड़ों को पहचानती है—(क) गीत का पाड़ (ख) चाखना का पाड़।

□
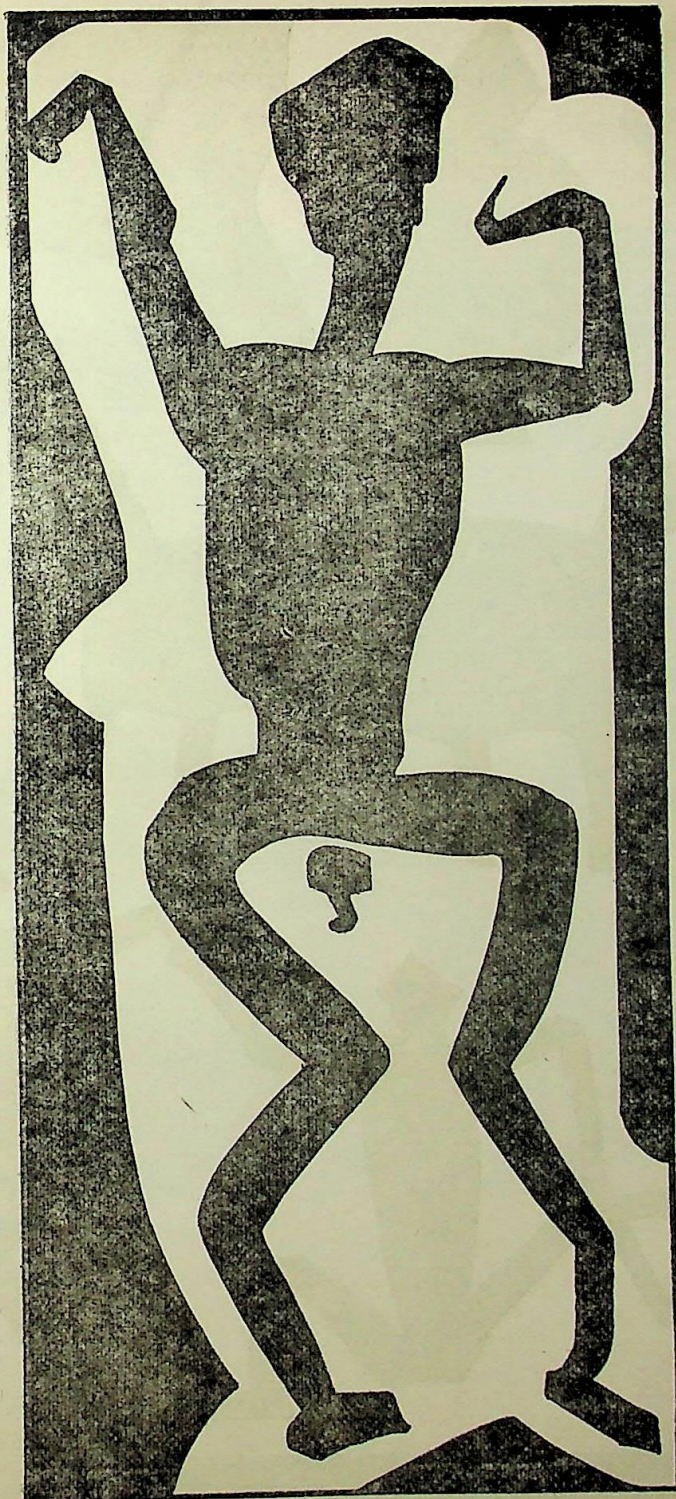
रेखाचित्र क्रमांक–12. आलमेर-घोटुल के आरेखण (सन्दर्भ 7. 10)

रेखाचित्र क्रमांक–13. नयानार-घोटुल के आरेखण (सन्दर्भ 7. 10)
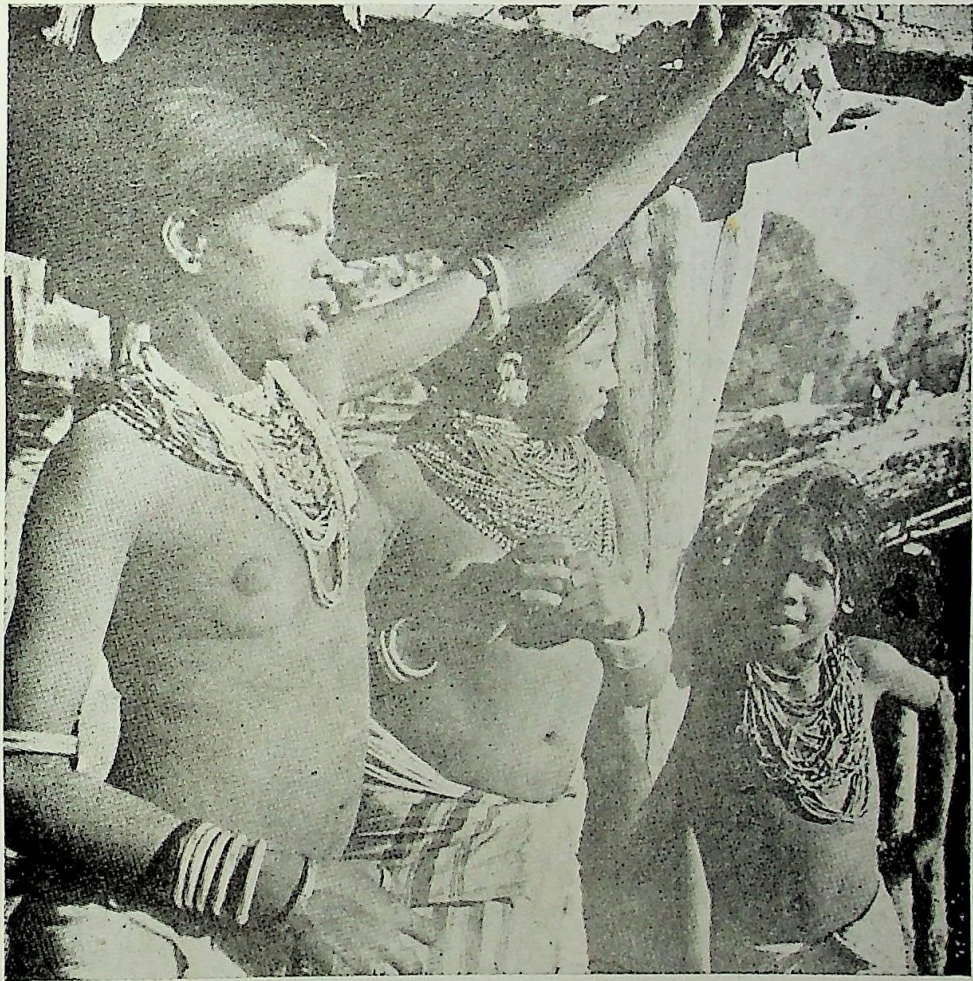
छायाचित्र क्रमांक–16. अबुझमाड़िया नवयुवतियाँ

7
दृश्य सम्प्रेषण

7.1. दृश्य सम्प्रेषण : अवाचिक भाषा

जनजातीय संगीत का अवाचिक सम्प्रेषण वाचिक सम्प्रेषण की तुलना में अधिक समर्थ है। अंगविक्षेप, दृष्टि-निक्षेप, स्पर्श तथा घोषत्व में अधिक अर्थवत्ता है। ऐसा अनुमान है कि जनजातियाँ नृत्य में 65 प्रतिशत अर्थ को अवाचिक सम्प्रेषण के माध्यम से ही व्यक्त करती हैं। जब आदिम जन यह कहते हैं कि 'कोण्डा-किसिमना' या 'आइँरव-मारामारी' से किसी बात की अनुभूति होती है अथवा किसी की आवाज से उसके 'होंग' (क्रोध) का अन्दाजा लगता है, तो स्पष्टतः वे अवाचिक सम्प्रेषण की ही बात कर रहे होते हैं। यह सच है कि उनकी क्रियायें शब्दों से भी अधिक मुखर होती हैं।

अवाचिक सम्प्रेषण पर उनके अत्यधिक भरोसे के बावजूद अब तक जनजातियों के अवाचिक सम्प्रेषण पर कोई भी अध्ययन नहीं हुआ है। विश्वविद्यालयों के भाषाविज्ञान-विभागों तथा भाषाशिक्षण में हम लगभग पूरे वर्ष वाचिक सम्प्रेषण पर जोर तो देते हैं, किन्तु अवाचिक व्यवहार की वाक्यरचना या शब्दावली पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम अवचेतन तौर पर सम्प्रेषण के अवाचिक माध्यमों से परिचित रहते हैं, किन्तु अवाचिक सन्देशों की यथातथ्य व्याख्या के प्रति हमारी योग्यता समुचित नहीं बन पाती। यहाँ जनजातियों के अवाचिक सम्प्रेषण पर विस्तार से चर्चा की जा रही है।

आदिम संगीत में अवाचिक सम्प्रेषण को समझने में एक कठिनाई यह है कि हम यह नहीं समझ पाते कि कौन-सा व्यवहार किस कोटि का है। क्या हम इसके अन्तर्गत उस व्यवहार का अध्ययन करें जो सन्देश के रूप में दर्शकों को प्राप्त होता है? अर्थात् उन सभी बातों का अध्ययन करें जो दर्शकों के लिये अर्थवान् हैं? क्या हम इसके अन्तर्गत केवल साभिप्राय व्यवहार को सम्मिलित करें अथवा अनभिप्राय सन्देशों का भी परीक्षण करें? क्या यह सम्प्रेषण केवल जनजातीय स्रोत से ही अवतरित होता है अथवा बस्तर का पर्यावरण और वहाँ की निर्जीव वस्तुयें भी सम्प्रेषण करती हैं।

जब कोई आदिम जन साभिप्राय अवाचिक सम्प्रेषण करता है तथा दूसरा व्यक्ति उसे समझ लेता है, तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ अवाचिक सम्प्रेषण हुआ है; किन्तु इससे विपरीति स्थिति यह है कि एक आदिवासी कोई सन्देश भेजता है तथा दूसरा उसे समझ नहीं पाता। कभी-कभी आदिवासी कोई सन्देश नहीं देना चाहता, किन्तु दर्शक उसमें से कोई सन्देश ग्रहण कर लेता है। यह एक प्रकार का अनभिप्रेत व्यवहार है। अभिप्रेत तथा अनभिप्रेत इन दोनों ही व्यवहारों में हमारी रुचि इसलिये है कि दोनों ही स्थितियों में अर्थ की विद्यमानता से अन्तःक्रिया अवश्य होती है।

अवाचिक सम्प्रेषण की अन्तिम कोटि वस्तु तथा पर्यावरण के माध्यम से सन्देश की अवाप्ति है। वस्तुयें अपने स्वामी से सम्बद्ध सन्देशों को सम्प्रेषित करती है। आदिवासी की 'लँगोटी' हमें उसकी सांस्कृतिक और आदिम स्थिति का परिचय देती है। उसकी 'पगड़ी' से उसके व्यक्तित्व के बारे में परिचय मिलता है। यह अलग बात है कि प्राप्त वास्तविक सन्देश भिन्न-भिन्न प्रसंगों व स्थितियों में अलग-अलग अर्थवत्ता रखते हों; उदाहरण के लिये नृत्य के समय 'धोती' पहनना एक अर्थ रखता है, किन्तु अन्य प्रसंगों में 'धोती' पहनने वाला आदिवासी 'धोतीमारा' नाम से पुकारा जाता है। एक ही वस्तु जो एक प्रसंग में सामाजिक स्वीकृति है, वहीं दूसरे प्रसंग में अस्वीकृति बन जाती है। आदिवासी जब किसी विशेष 'स्टेटस' से अपने को सम्बद्ध करता है, तो उसका सामाजिक उपहास होता है। पर्यावरण में ऐसे अनेक तत्व हैं, जिसमें घटित होने वाली अन्तःक्रिया वाचिक सम्प्रेषण को प्रभावित करती है। 'घोटुल' के अन्तर्गत बैठने वाले लोग 'घोटुल' से बाहर 'रचा' में बैठने वाले लोगों की तुलना में अपेक्षाकृत कम अन्तःक्रिया करते हैं। इस प्रकार हम वस्तुओं तथा पर्यावरण को भी अवाचिक सम्प्रेषण के अन्तर्गत रखने के लिये बाध्य हैं।

7.2. वाचिक और अवाचिक व्यवहार

मृगतृष्णा, दृष्टिभ्रम, तथा इन्द्रजाल से पूर्णतः परिचित होने के बावजूद आदिम समूह आज भी अपने सम्प्रेषणात्मक व्यवहार को प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। उसे इसकी समझ भी नहीं है। आज भी आदिमसमूह मिथकों, पिष्टपेषणों, मिथ्यार्थों तथा स्थानीय अविवेकपूर्ण व्यवहारों की निरन्तरता से परिचालित होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से क्या यह व्यवहार युक्तिसंगत है ?

अयुक्तिमत्ता का कारण सम्भवतः अर्थ है। अर्थ बहुत अधिक परिवर्त्य होता है। अर्थ की इस अतिपरिवर्तनशील प्रकृति के कारण हम सांगीतिक अर्थ की तर्कसम्मत व्याख्या नहीं कर पाते।

सामाजिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत सम्प्रेषणात्मक व्यवहार की परिवर्तनशीलता पर विचार किया जाता है। तदनुसार यह विचार सामने आया है कि भाषा प्रमुखतया अनुकूलन की एक व्यवस्था है, जो स्थान, काल, तथा परिस्थितिबद्ध है; उदाहरणार्थ जनबोलियों में 'चलना' एक व्यवस्था है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने की **स्थानगत व्यवस्था,** एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने की **कालगत व्यवस्था**। ऐसी स्थिति में भाषा का अध्ययन स्वनों तथा वाक्यविचार से ऊपर उठ कर है।

किसी खास पर्यावरण में मानव एक जीव है। सभी जीव अन्तःक्रियात्मक परिस्थिति में होते हैं—पर्यावरण में एक दूसरे के साथ। कोई भी जीव दर्शकमात्र नहीं होता। इस नाटकीय तथा गत्यात्मक विश्व में वह प्रतिक्रियाशील भी है तथा क्रियाशील भी। इस जीव में व्यवहार की अनन्त संभावनायें होती हैं, जो एक दूसरे जीव से भेदक भी हो सकती हैं। यदि हम इस प्रतिक्रियाशील और क्रियाशील जीव में भाषा के अभिव्यक्त व्यवहार को देखें, तो हमें वह अत्यधिक सांस्कारिक तथा प्रतीकात्मक प्रतीत होगा, जिसका अब तक हमने अनुभव ही नहीं किया था। इस अर्थ में वाचिक तथा अवाचिक अभिव्यक्तियाँ व्यक्ति तथा पर्यावरण के साथ सम्बन्ध या अन्तःक्रिया के स्थापन की साधन हैं। ये सम्बन्धों की अस्वीकृति की भी माध्यम हैं। सम्प्रेषण आत्मसमन्वय का एक साधन है। वह सम्बन्धों को बनाए रखने के लिये आत्म छवि को विकसित करने का भी साधन है। आदिम संगीत से भाषा के प्रतीकात्मक तथा रूढ़ प्रयोग को हम सरलता से खोज सकते हैं।

व्यवहारवादी घटनाओं की संरचना की आवर्ती अभिरचना दो प्रकार की है—

पहली वह अभिरचना जो प्रकृति के साथ चाक्रिक है तथा दूसरी वह जो प्रकृति के साथ लयात्मक है। चाक्रिक स्थिति वह है जिसमें घटना एक चक्र के रूप में स्वतः लौट आती है तथा लयात्मक स्थिति वह है, जो परिभाषित आवर्त्तन में समरूप काल के साथ चलती है।

व्यवहार की अभिरचना का तात्पर्य है कि मनुष्य की अन्तःक्रिया चाक्रिक प्रकृति की होती है, जो किसी व्यक्ति या पर्यावरण से सम्बद्ध होती है। वाचिक तथा अवाचिक संकेत उसके नियामक होते हैं। लय संगीत का एक अपरिहार्य अंग है तथा लयात्मक इकाइयाँ दृश्य प्राकृतिक घटनाओं से सहसम्बद्ध होती हैं।

7.3. सांगीतिक सम्प्रेषण में अवाचिक व्यवहार का प्रकार्य

बस्तर के सांगीतिक सम्प्रेषण के सम्पूर्ण प्रसंग में अवाचिक संकेत के छह प्रकार मिलते हैं। प्रथम प्रकार्य है **'समधिकता'** (शुक्ल :1982::64)। अवाचिक व्यवहार से प्रायः वाचिक व्यवहार को दुहराया जाता है; उदाहरणार्थ जब आदिवासी नृत्योपरान्त पाँच रुपये की याचना के साथ पाँच अँगुलियाँ दिखलाता है, तो वह **अवाचिक समधिकता** को ही प्रस्तुत कर रहा होता है।

अवाचिक व्यवहार का दूसरा प्रकार्य **'आघातन'** है, जिसके अन्तर्गत वाचिक सन्देश या अन्य अवाचिक संकेतों को प्रदर्शित किया जाता है या उन पर बल दिया जाता है; उदाहरणार्थ 'आँइख मारामारी' (अक्षिप्रहार), 'घेपल' (गर्दन पकड़ कर बाहर निकालना), 'नाकमोड़ी' (नाक दबाना), 'साय' (धक्का देना), आदि इसी प्रकार के प्रकार्य हैं। जब नृत्यमण्डली का एक व्यक्ति दूसरे के निकट पहुँचता है, उस समय वह मैत्री का ही सन्देश दे रहा होता है।

वाचिक सन्देश का **'प्रतिस्थापन'** आंगिक अभिनय का तीसरा प्रकार्य है। यदि नृत्य के बीच से आदिवासी युवक-युवती अलग होकर जंगल की ओर चले जाते हैं और कुछ ही क्षणों बाद वापस आ जाते हैं, तो उन दोनों पर नर्तकों तथा नर्तकियों की दृष्टि अनेक सन्देशों का संवहन करती है। इसी का स्थानापन्न वाचिक धमकी "मुझे भी तो" है। इसी प्रकार नृत्य में अश्लील अंगविक्षेप वाचिक चाटुकारिता को स्थानापन्न करते हैं।

आदिम संगीत में अवाचिक सम्प्रेषण का चौथा प्रयोग वाचिक सम्प्रेषण के प्रवाह का **'नियमन'** है। इसका एक अच्छा उदाहरण अक्षि-व्यवहार है। नृत्य-गीत के दौरान जब एक दल अपने गीत की समाप्ति के पश्चात् दूसरे दल की ओर देखता है, तो उसका तात्पर्य है गीत (सम्प्रेषण) प्रारंभ करने का आमंत्रण। इसके विपरीत 'अक्षिसम्पर्क' के न होने का अर्थ है गीत की समाप्ति (रुकना)।

आंगिक सम्प्रेषण वाचिक सम्प्रेषण का **'परिपूरक'** भी हो सकता है अर्थात् यह वाचिक सन्देश को या तो संशोधित करता है अथवा विस्तारित करता है। नृत्यजन्य क्लान्ति से जब कोई युवक अचेत हो जाता है तो उस समय युवती का संस्पर्श उसे जो ताजगी देता है, वाणी या शब्द से नहीं हो सकता था।

आंगिक सम्प्रेषण का अन्तिम प्रकार वाचिक सम्प्रेषण का **'खण्डन'** है। यह खण्डन साभिप्राय तथा अनभिप्राय दोनों ही हो सकता है। नृत्य में युवती जब कहती है कि "मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी", तो वह अपने वाचिक सम्प्रेषण का लहजे से निषेध कर रही होती है।

7.4. आंगिक सम्प्रेषण के आयाम

आंगिक सम्प्रेषण के प्रकार्यों को समझने के उपरान्त उनका वर्गीकरण भी किया जा सकता है। भारतीय तथा पाश्चात्य नृत्यशास्त्र में इसके लिये शास्त्रीय विधियाँ हैं। भारतीय नृत्यशास्त्र के अनुसार आंगिक अभिनय **अंग, प्रत्यंग, और उपांग** तीनों से प्रकाशित होते हैं। **भरतमुनि** (नाट्यशास्त्र 8. 12) के अनुसार अभिनय तीन प्रकार के होते हैं—

शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। नृत्य में पाँच क्रियायें प्रमुख मानी जाती हैं—**स्थान, चारी, करण, अंगहार और रेचक।** शास्त्रीय आधार पर आदिम नृत्य की परीक्षा एक प्रकार से द्रविड़प्राणायाम ही होगी। ऐसी स्थिति में आगामी परिच्छेदों में आदिम नृत्य का जातीय स्वरूप ही प्रस्तुत किया जायगा। हमारा यह वर्गीकरण अभिव्यक्ति के ही आधार पर अधोलिखित पाँच वैज्ञानिक कोटियों में है—

(क) दिग्विज्ञान या स्थानविज्ञान
(ख) मात्रकविज्ञान या कालविज्ञान
(ग) अंगविक्षेपविज्ञान
(घ) आहार्य अभिनय
(ङ) वस्तु तथा पर्यावरण

आगामी परिच्छेदों में इन्हीं के आधार पर आदिम नृत्य की वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है।

7.5. दिग्विज्ञान : स्थान की अवधारणा

आंगिक सम्प्रेषण का एक प्रमुख आयाम यह है कि नृत्य के अवसर पर आदिम जन स्थान का प्रयोग तथा विन्यास कैसे करते हैं? इनके समूह-नृत्यों में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच कितनी दूरी होती है? और समुचित दूरी न बनाने के कारण जनजातियों के मन में किस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है? इन सबका विश्लेषण यहाँ दिग्विज्ञान के अन्तर्गत अभिप्रेत है।

जनजातीय नृत्य में दिग्विज्ञान के महत्व को प्रदर्शित करने के लिये एक सुपरिचित उदाहरण 'ककसाड़' नृत्य का है। एक मुरिया नवागन्तुक महिला अनुझमाड़िया 'ककसाड़' नृत्य को देखने जाती है। मुरिया जनजाति के रीति-रिवाज के अनुसार वह महिला अबुझमाड़िया 'ककसारनृत्य' में भाग लेने के लिये आगे बढ़ी। इससे अबुझमाड़िया नृत्यदल को बहुत परेशानी हुई इसलिये वह कुछ कदम पीछे हट गया। चूँकि महिलाओं से 'ककसाड़नृत्य' में इस प्रकार दूरी प्रचलित नहीं है, अतएव मुरिया महिला पुनः आगे बढ़ी। आगे बढ़ने तथा पीछे हटने की यह क्रिया उस समय तक चलती रही, जब तक सचमुच मुरिया महिला ने अबुझमाड़िया नृत्यदल का पीछा नहीं किया। मुरिया महिला के सम्बन्ध में अबुझमाड़िया-जनों की यह धारणा थी कि यह 'धकेलू' थी, जब कि मुरिया महिला ने अबुझमाड़िया को 'रूखा' तथा 'एकान्तप्रिय' माना। स्पष्टतः यहाँ 'दिक्' के प्रयोग से ही अनभिप्रेत सन्देश प्रेषित हुये हैं।

इस उदाहरण से नृत्य में दिग्विज्ञान का यह मूल विचार सामने आता है कि आदिम जन 'थोड़ी सी दूरी' चाहता है। आदिमजन की स्थानगत यह आवश्यकता दो प्रकार की होती है—(क) प्रथम है **क्षेत्रागत**। यहाँ पशु के समान जनजातियों का भी अपना निजी क्षेत्र 'गोत्रभूमि (भुमकाल) है। प्रारंभिक स्थिति में यह 'गोत्रभूमि' ही उसका क्षेत्र थी। इस 'गोत्रभूमि' का यह तात्पर्य था कि अपरिचितों या घुसपैठियों की पहुँच से वह बाहर थी। अबुझमाड़िया को मुरिया की तुलना में अधिक क्षेत्र चाहिए; उदाहरण के लिये मुरिया या दोर्ला जनों को अपने घरों के लिए बहुत कम स्थान चाहिये, जब कि दण्डामी माड़िया को पास-पास रहने की स्थिति में घुटन महसूस होती है। यहाँ मूल परिवर्त्य यह नहीं है कि किस जनजाति को कितना क्षेत्र मिला है, अपितु यह है कि क्षेत्र की उपयुक्तता के सम्बन्ध में सामूहिक अनुभूति क्या है?

जनजातियों की स्थान-सम्बन्धी दूसरी आवश्यकता **वैयक्तिक स्थान** से सम्बद्ध है। वैयक्तिक स्थान क्षेत्र से इस रूप में भिन्न है कि यह भौगोलिक क्षेत्र तक निश्चित नहीं रहता। संभवतः स्थान का यह एक ऐसा विचार है कि

जिसे आदिम जन अपने साथ लेकर चलता है। परिस्थिति के अनुसार एक आदिम जन की स्थान की आवश्यकता में विस्तार या संकोच हो सकता है। व्यक्तिगत स्थान के लिये कोई कठोर सीमा नहीं होती। औपचारिक स्थिति में उसे अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु अनौपचारिक स्थिति में उसे अवकाश की कम आवश्यकता होती है। परिस्थितिगत निकटता की मात्रा तथा अन्य विविध कारणों से स्थान के बारे में आदिम जन की आवश्यकतायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं।

स्थान की अभिरुचि के विविध निर्धारक तत्व हैं। किसी अन्त:क्रिया में आदिम जन का **लिंग** उसकी दूरी के चुनाव में आंशिक रूप से एक निर्धारक तत्व है। आदिम महिलायें सामान्यतौर पर पुरुषों के साथ सँटकर खड़ी होने के बजाय स्त्रियों के साथ ही खड़ी होती हैं; उदाहरणार्थ

(1) 'माँदरी-नृत्य' के दौरान 'मोटियारी' नृत्य तो करती हैं किन्तु वह 'चेलिकों' से दूर लज्जाशील स्थिति में रहती है।

(2) 'डीवाड़-एन्दाना' में स्त्रियों के साथ उसी गाँव के पुरुष नृत्य नहीं कर सकते।

जनजातीय पुरुषों में इससे विपरीत स्थिति पायी जाती है। वे पुरुषों के पास खड़े होने के **बजाय** स्त्रियों के पास सँटकर खड़ा होना अधिक पसन्द करते हैं।

अनुक्रिया करनेवाले की **जाति या गोत्र** भी दूरी को प्रभावित करता है। यही कारण है कि जनजातिनृत्यों में समान गोत्र के युवक-युवती एक साथ नहीं नाचते। इसके अतिरिक्त 'पूसकोलांग' और 'पेनकोलांग' नृत्यों में दूसरी प्रजाति के लोगों से अधिक दूरी बनाए रखनी होती है।

स्थानगत दूरी का तीसरा कारण **धार्मिक प्रतिष्ठा** है। सम्मानसूचकता के कारण 'गायता' उन लोगों से दूर खड़ा होता है, जो उसकी स्थिति वाले नहीं हैं। 'डीवाड़एन्दाना' में नृत्य में भाग लेने वाली प्रमुख युवती के हाथ में **'टँगेया'** तथा प्रज्वलित **'अग्नि'** होती है और वह अन्य युवतियों से विशिष्ट होने के कारण **फासला** बनाए रखती है। इन नृत्यों में विविध लोगों के बीच व्यवहार देखकर हम दो के बीच मिलने वाले सम्बन्धों की भविष्यवाणी सरलता से कर सकते हैं।

धार्मिक प्रतिष्ठा से ही जुड़ा हुआ चौथा कारण है **अवस्था**। आदिम नृत्यों में शायद इसी कारण वृद्धों का प्रवेश नहीं है। आदिक जन अपने समकक्ष व्यक्तियों के बहुत निकट होते हैं, जब कि अपने से छोटे या वृद्ध व्यक्ति से थोड़ी-सी दूरी रखते हैं।

स्थान के निर्धारक तत्व के रूप में पाँचवाँ निर्धारक तत्व **व्यक्तित्व** है। यहाँ बहिर्मुखी लोग अन्तर्मुखी लोगों या लज्जालु किस्म के लोगों की तुलना में अधिक निकट आना चाहते हैं। यही स्थिति दण्डामी माड़िया की है, जो लोगों से अपनी दूरी अधिक बनाए रखना चाहता है। इससे यह संकेत मिलता है कि आक्रामक प्रजाति दण्डामी माड़िया अधिक दूरी चाहती है, जब कि अनाक्रमक प्रजाति मुरिया उतनी दूरी नहीं बनाए रखना चाहती। ऐसा प्रतीत होता है कि जनजातियों में स्थानगत दूरी या निकट्टता आक्रामक तथा अनाक्रामक स्थिति का संकेत है।

स्थान की दूरी का छठवाँ निर्धारक तत्व **सांस्कृतिक आदर्श** है। ये व्यवहार ऐसे मानक हैं, जिन्हें समाज उचित समझता है। बस्तर के मानवविज्ञानाश्रित परीक्षणों से अधोलिखित बातें इस तथ्य की सूचक हैं कि भिन्न-भिन्न नृत्यों में स्थान के प्रयोग के भिन्न-भिन्न मानक हैं—

(1) 'छेरतानृत्य' में युवक-युवतियों के बीच दूरी नहीं रहती।

(2) 'पूसकोलांग' नृत्यों में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकतीं। इतना ही नहीं, इस नृत्य में 'घोटुल' की सीमा या गाँव के किसी घर की सीमा में प्रवेश नहीं हो सकता। पुरुषों पर स्त्रियों की छाया भी नहीं पड़ती।

(3) 'पेनकोलांग' नृत्य में युवकों और युवतियों के बीच एक निश्चित दूरी होती है।

(4) अबुझमाड़िया के 'कगसार' नृत्य में विवाहित स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकतीं तथा वैवाहिक नृत्यों में विवाहितायें सम्मिलित नहीं हो सकतीं।

(5) 'पूसकोलांग' नृत्य का शौकिया तौर पर बाहरी व्यक्ति को नहीं दिखाया जा सकता है।

(6) 'डीवाड़-एन्दाना' नामक युवतियों के नृत्य के साथ पुरुष नहीं जाते, किन्तु पड़ाव वाले गाँव के 'चेलिक' युवतियों के साथ नाचते हैं।

(7) 'आँगापेन' के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को 'जात्रा' नृत्यों में स्वच्छन्द विचरण का अधिकार नहीं है।

(8) 'महुआदांदर' में युवकों तथा युवतियों के बीच इतनी निकटता होती है कि वे आलिंगनबद्ध हो जाते हैं। यही स्थिति 'चैतदांदर' में भी मिलती है।

क्षेत्र-परीक्षण से यह निश्चित है कि अबुझमाड़ियाजन संभाषण की स्थिति में 18 से 20 इंच तक की दूरी बनाए रखते हैं। 18 इंच से कम दूरीवाले संभाषण घनिष्ठ व्यक्तियों के साथ ही हो सकते हैं। मुरिया या हलबा की तुलना में दण्डामी माड़िया तथा अबुझमाड़िया एक-दूसरे से अधिक दूरी का निर्वाह करना चाहते हैं। जनसंचार के विकास के साथ अब धीरे-धीरे दूरियाँ कम हो रही हैं। अब अबुझमाड़िया पहले की तरह किसी व्यक्ति को देखकर जंगल की ओर तो नहीं भागता, किन्तु उससे दूर रहने की इच्छा आज भी उसमें है।

उपर्युक्त परिवर्त्यों में सातवाँ परिवर्तन **वैयक्तिक आकर्षण** से सम्बद्ध है। सभी आदिवासी युवक यह चाहते हैं कि वे ऐसी युवती के साथ नृत्य करें जो सर्वाधिक आकर्षक हो।

आकर्षण के ही समान आठवाँ कारण **परिचय की मात्रा** है। जनजातियाँ परिचित की तुलना में अपरिचित से अधिक दूरियाँ रखती हैं। अपने मित्रों से ये लोग बहुत निकट होते हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि ये जिस व्यक्ति के निकट नहीं पहुँचते, वह कम परिचित या अपरिचित व्यक्ति होता है।

नृत्य में व्यक्तिगत दूरी को प्रभावित करने के लिये अन्य कारण परिस्थितिजन्य हैं—

(1) विषय

(2) सामाजिक परिस्थिति

(3) व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक स्थिति।

किसी भी अवसर पर ये तीनों कारण किसी नर्तक या नर्तकी की स्थानगत आवश्यकता को प्रभावित करते हैं। सामाजिक घटना की विशेष परिस्थिति के कारण व्यक्तिगत स्थान की आवश्यकता में भी परिवर्तन होता है। इनकी सामूहिक दूरी पर बाधा पहुँचने पर ये विविध प्रकार की प्रतिक्रियायें करते हैं।

मैंने एक सरल परीक्षण के माध्यम से अबुझमाड़िया नर्तक के स्थान के अतिक्रमण से सम्बद्ध प्रत्युत्तर खोजने का प्रयास किया है। 'रचा' (नृत्यभूमि) के पास बैठे हुये एक नर्तक के पास मैं जाकर बैठ गया। उसने मुझे घूरना प्रारंभ किया और वहाँ से उठ कर चला गया। स्पष्ट है कि स्थान की कमी से असुविधा का अनुभव ये जनजातियाँ करती हैं।

यदि वही अबुझमाड़िया या मुरिया नृत्यदल के साथ होता है, तो उसके व्यवहार की अभिरचना भिन्न होती है। वह यह जानता है कि सामूहिक नृत्यों में वैयक्तिक 'दिक्' पर घुसपैठ होना स्वाभाविक है। वह अपने आस-पास के लोगों को अपने से हीन समझकर ऐसी परिस्थिति का सामना कर लेता है तथा अपने पदसंचार को सर्वोत्कृष्ट मानता है। सामूहिक नृत्य में परिचित और अपरिचित के प्रति होने वाला तनाव भी कम होता है।

वैयक्तिक स्थान के आक्रमण की अनुभूति से दो आदिमजनों के संभाषण में भी अन्तर हो सकता है। यदि एक पड़ोसी अपने पड़ोसी के स्थान पर बलात् **कब्जा** करता है तो उसके हाथों या शरीर में हलचल भी बढ़ती है और उसकी आवाज घोषमय हो जाती है, उसकी वाचालता बढ़ जाती है, तनाव बढ़ जाता है तथा सम्प्रेषण में लोच नहीं रह जाती। इससे सिद्ध होता है कि अवाचिक सम्प्रेषण में जनजातियों द्वारा **दिग्प्रयोग** बहुत महत्वपूर्ण तत्व होता है।

7.6. मात्रकविज्ञान : काल की अवधारणा

अवाचिक सम्प्रेषण का एक उपेक्षित किन्तु रुचिकर आयाम मात्रकविज्ञान अथवा समय की गणना से सम्बद्ध है। काल ही एक ऐसा आयाम है, जिसके कारण संगीत दूर तक सम्प्रेषित होता है। समय के सम्बन्ध में जनजातियों के विचार (वे इसका प्रयोग कैसा करते हैं) घटनाओं का कालक्रम, काल से सम्बद्ध उनकी संवेदनात्मक अनुभूतियाँ तथा अनुक्रियायें, और विराम की मात्रा भी सम्प्रेषणात्मक प्रभाव में सहायक होती हैं। संगीत के कतिपय प्रिय मुहावरों को याद करें—

(1) बार बरसकु होइली जुवा
(बारह वर्ष में मैं युवती हो गयी)

(2) एसुर काल रे खंड बरसा
(इस वर्ष अधूरी वर्षा हुई)

(3) लुचाइ नेबू छय मास समतुल
(छह मास बिता देंगे)

(4) बिहा घर न जा दानी, चैतर मासे घामे
(घाम के चैत मास में विवाहगृह न जा)

(5) तत्ते नाही देखी दिन पन्दर
(उसे पन्द्रह दिनों से नहीं देखा)

(6) उदली उदया जोन पापा
(बच्ची, द्वितीया का चाँद उदित हुआ है)

(7) उदिला रे मोर जोन-सुरिज
(सूर्य-चन्द्र उदित हुए हैं)

(8) पिचको पोड़ती पइता रोय
(सूर्य आकाश में उदित हुआ है)

(9) आजी बिस खाइ मरी जाऊ
(आज विष खाकर मर जाऊँ)

(10) नरका पाहार आते, माझी बायर वेसायता
(प्रातःकाल तुम्हारे पास आने की इच्छा होती है)

(11) सकाल पहाले दाण्डे बुलिबे
(प्रातःकाल विचरण करेंगे)

(12) आसिबि रात्तिकि
(रात्रि में आऊँगी)

(13) जे दिने बाजिबे पीतल मोहरी से दिने धरीबी हाथ
(जिस दिन पीतल की मोहरी बजेगी, उसी दिन तुम्हारा हाथ पकड़ूंगीं)

(14) बहुत दिनकु आज भेटाभेटी
(बहुत दिनों के बाद आज मिलन हुआ है)

(15) असम काल रे विपति पड़िला
(असमय में विपत्ति पड़ी)

(16) गीत गाइबि गाइबि पाहार होली
(गीत गाते-गाते एक पहर बीत गया)

(17) घड़ी-घड़ी आमके सुरता पड़ते रहू आय
(प्रतिक्षण हमें तुम्हारी याद आती है)

इन अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि जनजातियाँ काल के प्रति जागरूक हैं और उस अर्थ के प्रति सजग रहती हैं, जो काल के माध्यम से सम्प्रेषित होता है।

काल के सम्बन्ध में हमारी संवेदनशीलता घड़ियों के काँटों से जुड़ी हुई है। घड़ी के काल से हमारा मस्तिष्क इतना भर चुका है कि यदि कुछ ही क्षण बर्बाद हो जाते हैं तो हम उद्विग्न हो उठते हैं। हमारे लिये समय ही रुपया बन चुका है। हम समय को एक वस्तु के रूप में देखते हैं, जिसे व्यय किया जा सकता है, कमाया जा सकता है, बचाया जा सकता है। हम समय को लघु लाभांशों में विभाजित करते हैं। कभी-कभी तो हम सेकिण्ड के बीत जाने पर भी सचेत हो जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत आदिम संस्कृति में समय के सम्बन्ध में कोई मूर्त्त धारणा नहीं है। उनके लिये समय विद्यमानता की स्थिति का एक अस्पष्ट अर्थ रखता है। वह 'यहाँ और वहाँ' में तो होता है, किन्तु उनमें समय की पाबन्दी का कोई मूल्य नहीं होता। अबुझमाड़िया तथा मुरिया में प्रतीक्षा के लिये कोई शब्द नहीं हैं। दण्डामी माड़िया सभी कार्यों को 'ठीक समय' पर करता है, किन्तु वह ठीक समय बारह घण्टे की अवधि में कभी भी हो सकता है। समय के प्रति इस प्रकार के सांस्कृतिक भेद के कारण उनसे बाहर के लोगों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनके यहाँ प्रतीक्षा की अवधि इतनी लम्बी होती है कि इस संस्कृति को न समझने वाले लोगों को वह अपमानजनक स्थिति पैदा कर देती है।

आदिम समुदाय में समय के प्रमुख अन्तराल वर्ष, महीने तथा दिन में होते हैं। यहाँ अंग्रेजी के समान घण्टे, मिनट तथा सेकिण्ड आदि का विचार ही नहीं होता। विविध संस्कारों में दिनों से ऊपर का अन्तराल गिना जाता है तथा महत्वपूर्ण दिनों के अन्तराल में सात, पन्द्रह तथा तीस दिन।

जनजातियों में समय के लिये 'वेड़' (दण्डामी माड़िया) 'वेरा' (हलबी), 'पहर' (मुरिया) आदि शब्द प्रचलित हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि इन शब्दों के संस्कृत से आदान के पूर्व इनमें समय की कोई भी धारणा नहीं रही होगी। दिन के लिये 'पयाल' (दण्डामी माड़िया), 'दिया' (मुरिया, अबुझमाड़िया) जैसे शब्द प्रचलित हैं।

दिनों का वर्गीकरण इनके यहाँ सामान्यतौर पर नक्षत्रविद्यापरक सन्दर्भ तथा मानवीय कार्यकलापों पर आधारित हैं। तदनुसार इनमें प्रातः (कुकड़ा वासतो), दोपहर (तल्ला पोड़द, नेक नित्ता), दोपहर के बाद (मरे ज़ावा, अड़हू पाहार), सन्ध्या (मुल्पे, जामोन), गोधूलि (गोहोड़वायना, मस-मस-टेम, झुलपुल बेरा), रात्रि (नर्का, रात), अर्द्धरात्रि (नड़जाल) आदि शब्द मिलते हैं। इसे हम अधोलिखित रेखाचित्र के माध्यम से प्रदर्शित कर सकते हैं—

समय का यह विभाजन सूर्य की विविध स्थितियों से जुड़ा हुआ है तथा इसका उपवर्गीकरण मानवीय श्रम से सम्बद्ध है। यही कारण है कि आदिमजनों के नृत्य सूर्य के ढलने के साथ प्रारम्भ होते हैं और सूर्य के उदित होने के साथ ही उनका अवसान हो जाता है।

7.7. अंगविक्षेपविज्ञान

नृत्य की मानववैज्ञानिक व्याख्या एक ऐसी दृष्टि है, जिसके माध्यम से आदिम जीवन में नृत्य के स्थान को निश्चित किया जा सकता है। नृत्य के अध्ययन के प्रति अभी तक मानवविज्ञानी उदासीन हैं, जबकि इसके समुचित आकलन से अध्येय समाज की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

नृत्य एक सांस्कृतिक विधा है। यह ऐसी संरचनात्मक प्रक्रियाओं का परिणाम है, जिसमें काल तथा स्थान के अनुसार आदिम देह हस्तपादसंचालन करता है। अंगसंचालन के माध्यम से उत्पन्न इस सांस्कृतिक रूप में एक संरचित वस्तु होती है, जिसे सामाजिक सम्बन्धों की दृश्य अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत साधर्म्य पर आधारित 'इटिक' तथा 'इमिक' का भेद हमें ज्ञात है, जिन्हें जनजातीय नृत्य के अध्ययन में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत आंगिक भाषा के वे सन्दर्भ उभरते हैं, जिनसे **अंगाभिनय, प्रत्यंगाभिनय,** तथा **उपांगाभिनय** के अध्ययन को बल मिलता है। इनके माध्यम से विविध अभिनयों को सार्थक खण्ड के रूप में देखा जा सकता है। इस अंगविक्षेप को जब हम सार्थक इकाइयों के रूप में देखते हैं तो वह **आंगिक अभिनय** होता है। इसके अन्तर्गत हम **शिर, हस्त, कटि, वक्ष, पार्श्व, स्कन्ध तथा पद** को सम्मिलित करते हैं।

प्रत्यंगाभिनय एक प्रकार से उपांगाभिनय का समूह है, जिसके अन्तर्गत बाहु, पीठ, उदर, उरु, जानु, घुटने तथा ग्रीवा सम्मिलित हैं।

उपांगाभिनय के अन्तर्गत नेत्र, भ्रू, पुतलियाँ, कपोल, नासिका, हनु, अधर, दशन, जिह्वा, चिबुक, मुख, सिर, तथा अँगुलियाँ गिनी जा सकती हैं।

इन्हीं अंगों, प्रत्यंगों और उपांगों के समुचित संचालन से अभीष्ट भंगिमा का निर्माण सम्भव होता है। भरतमुनि ने इसी बात को ध्यान में रखकर विभिन्न अंगों, प्रत्यंगों की विविध क्रियाओं का विवेचन किया है। प्रस्तुत अध्ययन में भरतमुनि के साक्ष्य पर **स्वनिम** तथा **रूपिम** के सादृश्य का सहारा लिया गया है।

इस आधार पर हमने बस्तर के आदिम नृत्याभिनय की एक 'आंगिक सूची' तैयार की थी। फिर उसे **आंगिक अभिनय** को **प्रत्यंगाभिनय** के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया। इसमें मिलने वाले परिवर्त्य **उपांगाभिनय** हैं।

इस दृष्टि से मैं यह मानने को बाध्य हूँ कि आदिम नृत्य व्यवहार पर आधृत न होकर गीत या भाषा पर आधारित हैं और यही कारण है कि अबूझमाड़िया के नृत्य 'पाटा-एन्दाना' (गीतमय नृत्य) के रूप में मिलते हैं। ऐसी स्थिति में आदिम नृत्य के विश्लेषण में मानवविज्ञान की तुलना में भाषाविज्ञान अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।

7.8. अंगाभिनय

(1) **शिर** का संचालन आदिम जन के 'मूड' या विशिष्ट भावनाओं का सूचक है। स्वीकृति या अस्वीकृति में शिर-संचालन की दो स्थितियाँ देखने को मिलती हैं। वादन की स्थिति में शिर हिलाने की क्रिया आम बात है। आदिम जन का शिर पर हाथ रखना (मूंडे हात देतोर) उसकी शोकसन्तप्त स्थिति का वाचक है तथा उसके शिर का झुकना प्रणति का उपलक्षक है। नृत्यों में शिर की दो ही क्रियायें देखने को मिलती हैं। पहली क्रिया 'माँदरी' नृत्य से सम्बद्ध है, जिसमें लज्जा, नम्रता आदि भावों को दिखाने के लिये शिर अधोगत स्थिति में होता है। दूसरी क्रिया 'हुलकी' नृत्य में 'अंचित' की है। बोलचाल की स्थिति में ये 'स्वीकृति' के लिए सीधे शिर और अस्वीकृति के लिए आड़ा-तिरछा शिर घुमाते हैं।

(2) **हस्त-प्रचार** का आदिम नृत्य में पदसंचार के बाद सर्वाधिक महत्व है। चूँकि सभी आदिम नृत्य सामूहिक नृत्य हैं, इसलिये हस्त के साथ पिण्डीवद्ध क्रिया होती है और यह पिण्डीबन्धन हस्त, कटि, वक्ष, स्कन्ध, पद, ग्रीवा घुटना तथा नितम्ब के साथ होता है। शास्त्रीय नृत्य में वक्ष के पास की जाने वाली क्रिया मध्यम मानी जाती है तथा ऐसा हस्तप्रचार 'माँदरी' नृत्य में होता है। हस्त का हस्त के साथ सम्मेलन गदबा-नृत्यों की एक विशिष्टता है। गदबा जनजाति का सामूहिक नृत्य चारों तरफ घेरे में हाथ जोड़कर ही होता है। मुरिया जनजाति के 'हर-एन्दाना' में हस्तप्रचार की यह क्रिया मिलती है।

हस्त के अभिनय में बाहुओं की क्रिया केवल 'हुलकी-नृत्य' में मिलती है। यहाँ युवक और युवतियाँ एक दूसरे की भुजाओं का परिरंभण करते हैं।

हस्त के अभिनय में साथी के कटि का प्रग्रह गदबानृत्य तथा 'हरएन्दाना' में मिलता है। 'हर-एन्दाना' में युवकों तथा युवतियों का परिमण्डल साथी के हाथ या कटि को पकड़े रहता है। 'जात्रा' नृत्यों में भी पड़ोसी के कन्धे पर हाथ रखने का विधान है।

हस्त तथा स्कन्ध का संयोग 'हर-एन्दाना', 'दीवाड़-एन्दाना', 'माँदरी' नृत्य और 'जात्रा' नृत्य में होता है। साथी के कन्धे पर हाथ रखकर नाचना अबुझमाड़ियों की विशिष्ट शैली है।

हस्ततालिका का प्रयोग केवल 'माँदरी' नृत्य में होता है, जबकि हस्त और कूर्पर (घुटने) का संयोग 'काकड़ा-कर्सना की अपनी विशिष्ट पहचान है। अबुझमाड़िया नर्तकों को छोड़कर बस्तर के शेषनर्तक अपना हाथ साथी के ग्रीवा पर नहीं रखते। हस्त तथा टाँग का संश्लेषण 'माँदरी' नृत्य, 'नाकडाँडीकर्सना' तथा 'काकड़ा-कर्सना' में

रेखाचित्र क्रमांक–14. नयानार-घोटुल के आरेखण (सन्दर्भ-7.10)

होता है, जो कि एक परिश्रमसाध्य हस्तक्रिया है। हस्त तथा नितम्ब का संघर्षण 'गुगुरिंगगुस-कर्सना', 'मांदरी' नृत्य, तथा 'हुलकी' नृत्य में विपरीत लिंगी के साथ होता है। आदिवासियों में अंगुलिस्पर्श से विविध प्रकार के अर्थ उभरे हैं। ये आँखों से संकेत नहीं करते हैं।

(3) **स्कन्ध** की क्रिया केवल 'चैंतदांदर' में मिलती है, जिसमें युवक-युवतियाँ कन्धों से परस्पर आलिंगन करते हैं।

(4) **कटि** की भी पिण्डीबद्ध क्रिया केवल 'कर्सेपाटा' में 'त्रिवृत्ता' है, जिसमें युवती कटि को पीछे की ओर से सामने घुमाती है।

(5) **नितम्ब** का अभिनय मुरिया-युवकों की एक विशिष्टता है। चाहे 'पूसकोलांग' हो या 'जात्रा' अथवा 'चैंतदांदर' नृत्य; युवयियों को देखते ही इनके नितम्ब गतिशील हो जाते हैं। 'काकड़ा-कर्सना' नृत्य में युवतियाँ अपने नितम्बों से प्रहार करती हैं।

(6) **कूर्पर** अर्थात् घुटने का आदिम नृत्य-संचालन में पद तथा हस्त के पश्चात् तीसरा स्थान है। घुटने के बल पर नृत्य की यह क्रिया केवल 'मांदरी' नृत्य में मिलती है।

(7) **एँड़ी** के सहारे शरीर को उठाने, एँड़ी के अवनत और उन्नत होने की स्थिति या एँड़ी को उन्नत रखने की क्रिया केवल अबुझमाड़िया नृत्य में मिलती है।

(8) **पद** की क्रिया आदिम नृत्यों में बहुविध होती है। यह कहा जा सकता है कि आदिम नृत्य की महत्व-पूर्ण क्रिया पदसंचार है। आदिम नृत्य में पद की क्रिया को 'डाका' या 'डांहका कहा जाता है। दण्डामी माड़िया स्त्रियों में पदसंचार में विविधता नहीं मिलती है, जबकि पुरुषों में पदसंचार विविधतामय है।

करण

हस्त तथा पद का युगपत् एवं सामंजस्यपूर्ण संचालन करण कहा जाता है। करण के अन्तर्गत कूल्हों की मटक, पदसंचालन की स्थिति, शरीर की स्थिति आदि का अध्ययन होता है। 'अवनत स्थिति', 'मांदरी' नृत्य, 'काकड़ा-करसना', 'गुगुरिंगगुस-कर्सना', में होती है। 'उप्लुति' की स्थिति में 'बेंदरी-एन्दाना', एवं 'नाकडाँडी-कर्सना' में मिलती है। 'लिंगो-एन्दाना' में 'समस्थिति' रहती है। तथा 'हर-एन्दाना' में नर्तकदल दोलायमान स्थिति में रहता है।

स्थानक

नर्तक की कलात्मक भंगिमा स्थानक है। रासनृत्यों में आवर्तन सबसे पहिले दायीं ओर होता है और फिर नृत्य की शैलियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होता है। ये रासनृत्य पंक्ति, अर्द्धवलय तथा वलय इन तीन भंगिमाओं में प्राप्त होते हैं।

स्पष्टतः आदिम नृत्यों का विवेचन नाट्यशास्त्र में वर्णित पिण्डीबन्ध नृत्यों से सम्बद्ध है। यह उन सामूहिक नृत्यों में से है, जिनका प्रदर्शन संस्कृत-नाटकों में नाट्य के पूर्वरंग में किया जाता था। रेचक तथा अंगहारों के साथ ही पिण्डीबन्धों का निर्माण 'लिंगो' (शिव) ने किया था। इस नृत्य की चार आकृतियाँ आदिम नृत्यों में मिलती हैं—

(क) पिण्डी—दृढ़ समूह बद्ध
(ख) शृङ्खलिता—लतागुल्मों के समान आकृति
(ग) लताबद्ध—हस्तों का परस्पर निबन्धन
(घ) मेद्यक—समूह से बाहर नर्तकी

7.9. आहार्य अभिनय

अवाचिक सम्प्रेषण का चौथा आयाम आदिम शरीर की वेषभूषा और आकृति है। इनके शरीर की आकृति, ऊँचाई, वजन, केशविन्यास, परिधान तथा अन्य बातें इनकी वैयक्तिक विशेषताओं व्यक्तित्व तथा प्रवृत्तियों को पढ़ने में संकेत देती हैं। इनके अनुसार मोटे लोगों में आलसीपन, सहनशीलता, शालीनता, संवेदनशीलता, सद्भावना, उदारता, आत्मतोष, तथा दया होती है। मझोले कद के लोग प्रभविष्णु, उत्साही, अदूरदर्शी, तर्कशील, असहिष्णु, आशावादी, ऊर्जस्वी, विश्वासी और विचक्षण होते हैं। लम्बे कद के लोग तटस्थ, आत्मदर्शी, गंभीर, सावधान, परिश्रमी, विचारशील, भावुक, व्यूह-कुशल, शर्मीले एवं शंकालु होते हैं।

जनजातियों की यह धारणा है कि शरीर की लम्बाई और भार से उनकी क्षमता का आकलन भी होता है; उदाहरणार्थ मोटे लोगों की तुलना में लम्बे लोगों को काम-धन्धा जल्दी मिल जाता है। नृत्य में **'गाइन'** या **'जोवता'** भी उसी को बनाया जाता है, जो अपेक्षाकृत लम्बा हो। इसी प्रकार गायनदल की मुखिया भी लम्बी और चिकनी होती है।

जनजातियों में केशालंकरण के रूप में अवाचिक सम्प्रेषण को महत्वपूर्ण आयाम मिला है। केशालंकरण के निमित्त विविध प्रयुक्तियाँ मिलती हैं (द० परिशिष्ट) (द्र० छायाचित्र क्रमांक–4-8)।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जनजातियों में पुरुषों के लम्बे बाल उनकी आध्यात्मिक योग्यता के परिचायक हैं। दाढ़ी-मूँछ रखना जनजातियों में असभ्यता का सूचक माना जाता है।

परिधानों के माध्यम से भी सांगातिक माहौल बनता है। जनजातियों में वैसे परिधानों का प्रचलन उन नृत्यों में नहीं है, जहाँ सभी लोग आपस में परिचित होते हैं, किन्तु 'कर्साड़' या गोत्रदेवता के नृत्य में जहाँ अपरिचित गाँवों के हजारों युवक-युवतियाँ भाग लेती हैं, भव्य तथा पहचानयुक्त वस्त्र पहने जाते हैं। चूंकि ऐसे अवसरों पर लोग पहले से आपस में परिचित नहीं होते, इसलिये इस स्थिति में वस्त्राभूषण से ही प्रथम प्रभाव की बात होती है। परिधानों में शिर के विविध परिधान इनके यहाँ सामाजिक स्थिति का भी बोध कराते हैं। परिधानों के सम्बन्ध में नए को स्वीकार नहीं करते तथा कमर से नीचे वस्त्र पहनने के आदी नहीं हैं। शहरी प्रभाव से घुटनों तक धोती पहनने वाले लोगों का उपहास यहाँ 'धोतीमारा' (5.2) कह कर किया जाता है।

आभूषण-प्रिय हैं यहाँ की जनजातियाँ। केशालंकरण के समान आभूषणों में भी अवाचिक सम्प्रेषण का अत्यधिक सामर्थ्य पाया जाता है। अपरिचित से आभूषण या प्रसाधन सामग्री प्राप्त कर युवतियाँ शीघ्र ही मित्र बन जाती हैं। आभूषण के संधारण के आधार पर लोगों की अवस्था, सम्पन्नता तथा स्थिति का बोध होता है। आदिवासी युवकों के आभूषण भी उनके व्यक्तित्व के परिचायक हैं। अलंकृत आदिवासी युवकों को यहाँ की युवतियाँ अधिक बुद्धिमान, भरोसेमन्द, परिश्रमी, पारम्परिक, शर्मीले तथा धार्मिक मानती हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक 15-19)।

आभूषणों के समान शृङ्गारप्रसाधन भी मुरिया युवतियों के विशेष आकर्षण हैं। ये अपने शरीर में उबटन लगाती हैं, 'पाउडर' का इस्तेमाल करती हैं तथा कुछ तो 'लिपिस्टिक' का भी प्रयोग करने लगी हैं। शृङ्गार प्रसाधन की युवतियों की यह चाह स्वतन्त्रता के बाद आयी है तथा अपनी इस भूख के कारण ये चालाक सभ्य लोगों के द्वारा ठगी भी जा रही हैं।

आगामी पृष्ठों में नृत्यपरिधान की सामग्री का प्रजातिगत विवरणात्मक परिचय दिया जा रहा है।

7.9.1. मुरिया जनजाति का आहार्य अभिनय

विवाहोत्सव या किसी अन्य सामान्य अवसर पर 'चेलिक' तथा 'मोटियारी' किसी विशेष नृत्य-परिधान का उपयोग नहीं करते हैं। वे यथासम्भव आभूषण पहनते हैं। अपने बालों में मयूरपंख लगाते हैं और यदा-कदा श्वेत बिन्दुओं और तारकचिह्नों से अपने चेहरे को अलंकृत कर लेते हैं (द्र० छायाचित्र-1)।

पहले मुरिया उत्सवों में भी किसी विशेष परिधान का इस्तेमाल नहीं करते थे। **'हुलकी'** तथा **'दांदर'** जैसे नृत्यों की तैयारी भी वे सामान्य वस्त्रों को पहन कर करते थे, किन्तु गोत्र-देवताओं के उत्सवों के अवसर पर झोरिया मुरिया बहुत प्रयत्नसाध्य तथा पहचानयुक्त वस्त्र पहनते हैं। इसी प्रकार उत्तर तथा पश्चिम के मुरिया **'पूसकोलांग'** और **'चइतपरब'** नृत्यों में एक विशेष यूनीफार्म पहनते हैं।

यहाँ झोरिया जनों की उत्सवधर्मी साजसज्जा का विवरण है, जो अबुझमाड़िया के नृत्य-परिधान से मिलता-जुलता है।

इस परिधान का आधार एक बहुत ही सामान्य किस्म की बाजारू **कमीज** है तथा एक सफेद स्कर्ट है, जिस पर **लाल फीते** लगे होते हैं। 'चेलिक' अपने शिर पर या तो 'पगड़ी' बाँधते हैं या बाँस की बनी एक **'टोपी'** पहनते हैं, जिसे ऊपर की ओर लाल कपड़े से ढक दिया जाता है। इस टोपी को पंख, कौड़ी या रंगीन गेदों के माध्यम से सजाया जाता है। जब टोपी के स्थान पर पगड़ी बाँधी जाती है, तो उसे भी अलंकृत किया जाता है। उसके साथ दो लम्बी झालरें लगी रहती हैं। कभी-कभी कौड़ी की लड़ियाँ नीचे तक लटकती रहती हैं।
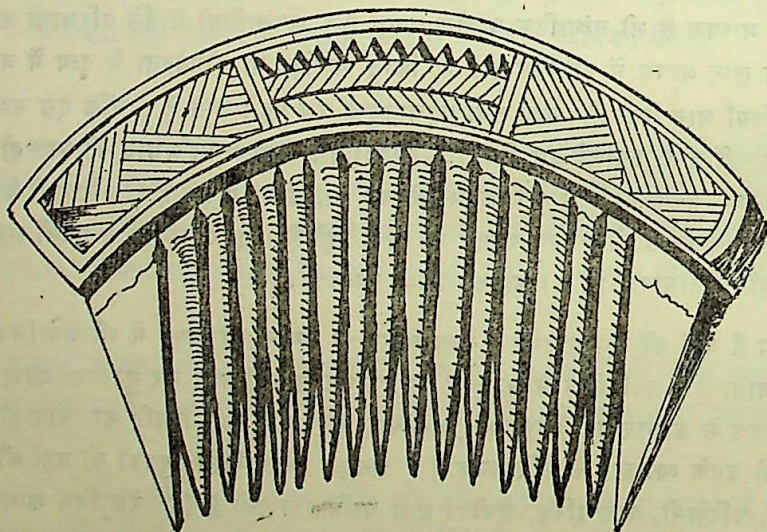
रेखाचित्र क्रमांक–15. झोरिया-कंघी (सन्दर्भ 7.10)

अपने कमर पर 'चेलिक' **करधन** बाँधते हैं। करधन पर **घण्टियाँ** लगी रहती हैं। कन्धे पर ये 'मोधी' नामक नृत्य-आवरण धारण करते हैं। यह आवरण लकड़ी का एक गोलाकृत रूप होता है अथवा बाँस की टोकनी। इसके नीचे बाँस की पट्टियाँ लगी रहती हैं, जिनमें लाल, सफेद तथा नीले रंग के **फीते** लगे रहते हैं (द्र० रेखाचित्र क्रमांक-19)।
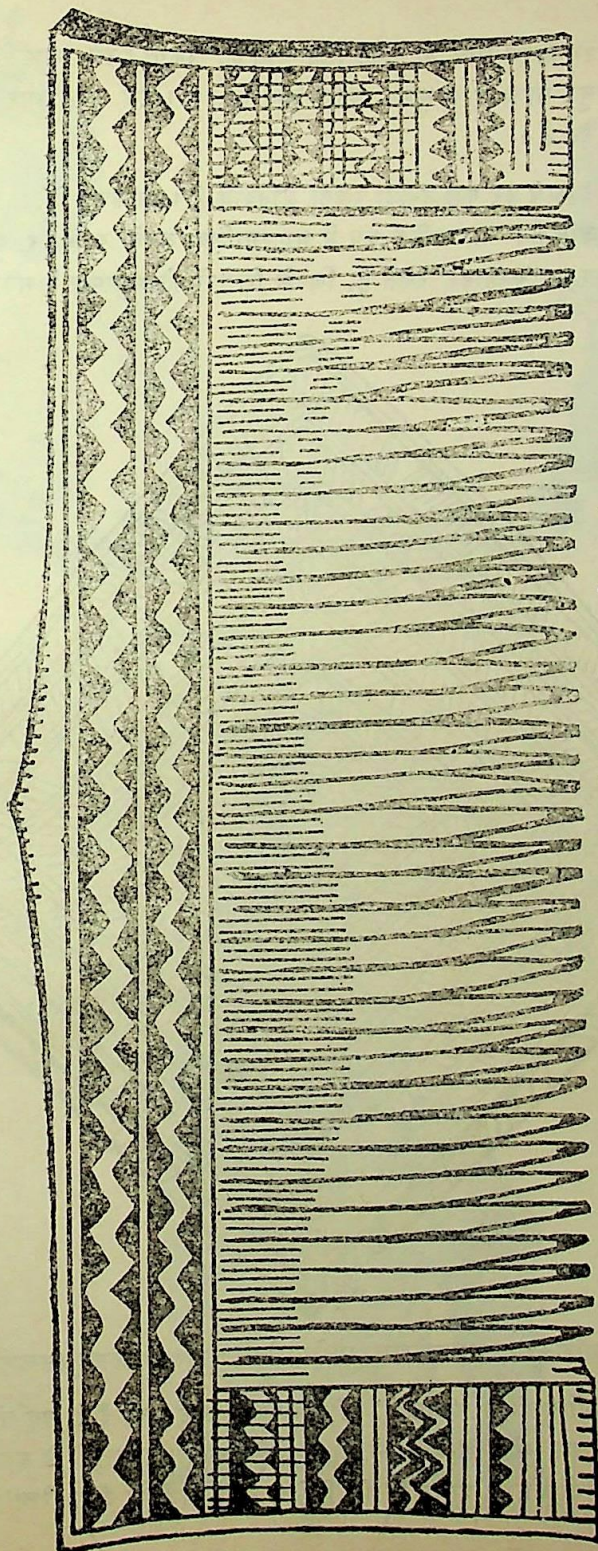
रेखाचित्र क्रमांक–16. काष्ठनिर्मित कंघी (सन्दर्भ 7.10)

कन्धों पर यदा-कदा रंग-बिरंगे शाल भी लपेट लिए जाते हैं, किन्तु इनसे 'मोधी' का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अपने गले में 'चेलिक' प्रचुर मात्रा में आभूषण धारण किए रहते हैं। इस अवसर पर इन आभूषणों को ये अपनी बहन या चाची से उधार ले लेते हैं।

प्रत्येक नर्तक को अपने कन्धे पर कुछ-न-कुछ रखना अनिवार्य है। आजकल ये 'छाता' रखते हैं, जिसमें कौड़ी या फलों के गुच्छे सजा दिए जाते हैं। पारम्परिक रूप में अबुझमाड़िया अपने कन्धे पर 'फरसा' धारण करते हैं और आज मुरिया लकड़ी का फरसा या 'कुल्हाड़ी' रखते हैं, जिनके शिखरों को मयूरपंख से सजाया जाता है।
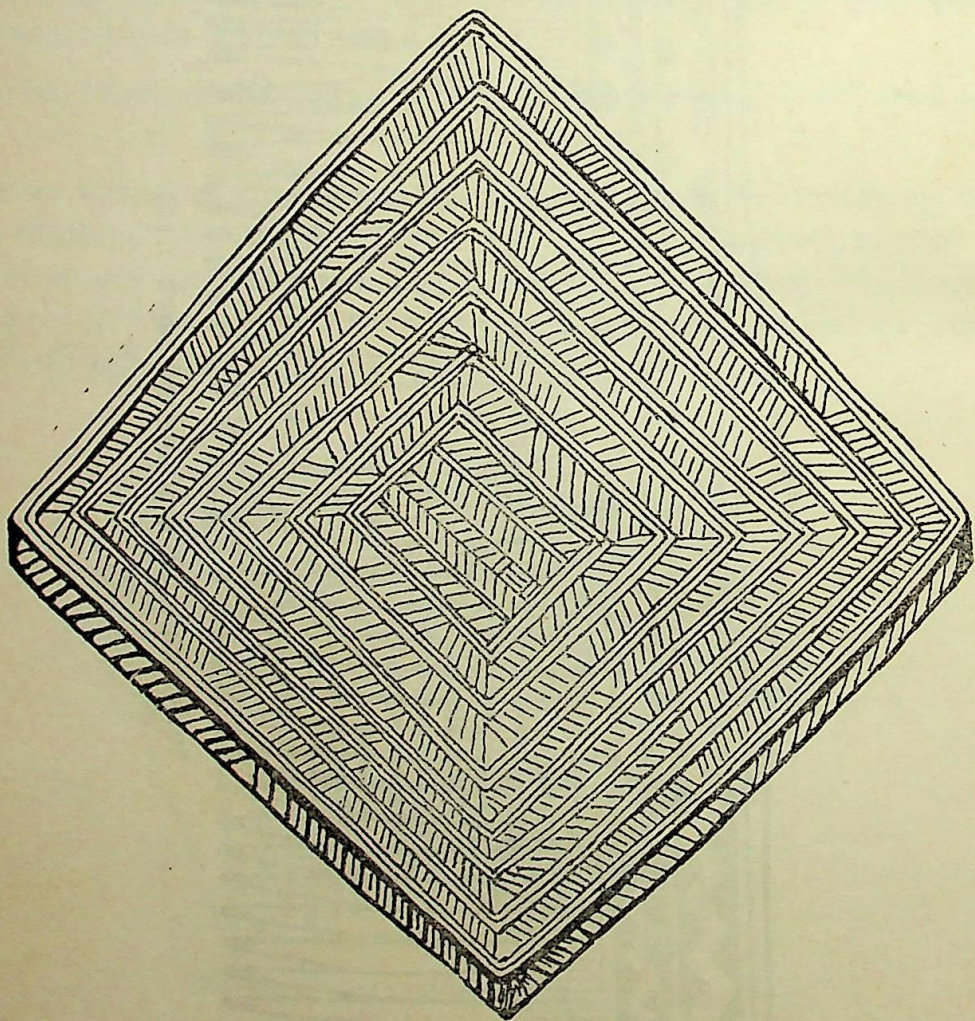
रेखाचित्र क्रमांक–17. काष्ठारेखण मोटियारियों का केशालंकरण (सन्दर्भ 7.10)

मुरिया अपने उत्सव धर्मी नृत्यों में **'कोकटी'** (घोड़ा) भी धारण करते हैं। यह घोड़े की आकृति की किसी भी वृक्ष की जड़ से बनती है। इस 'कोकटी'-घोड़े को भी विविध प्रकार की वस्तुओं से सजाया जाता है। उत्सव का उल्लास इसमें निहित है कि लोगों को यह प्रतीत हो कि विविध वर्णी घोड़ों के जैसा 'रेला' आ रहा है।
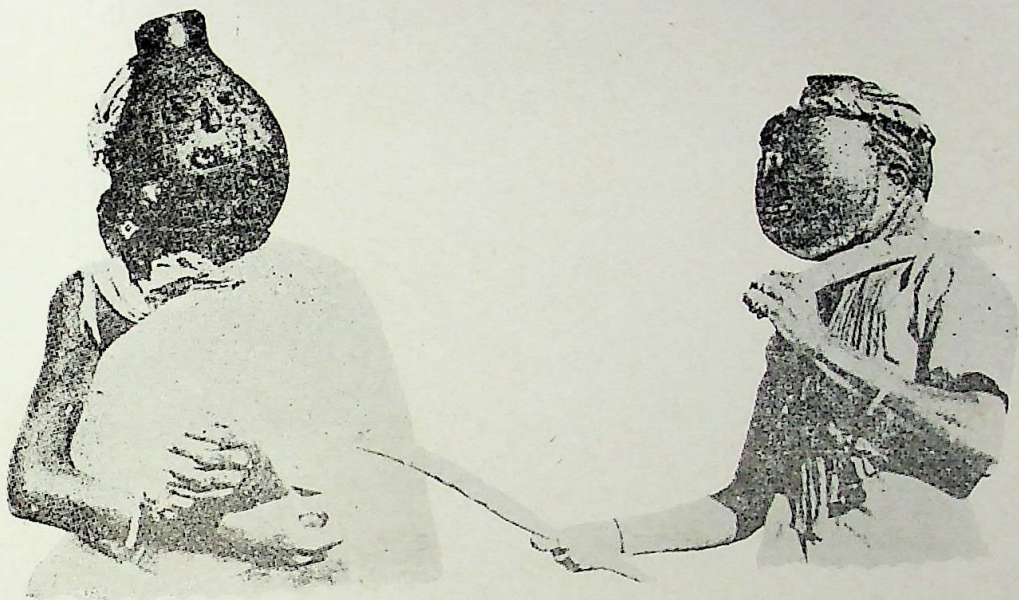
छायाचित्र क्र०–10. चैतदाँदर में मुरिया स्वांगनर्तक

छायाचित्र क्र०–11. छेरता तथा पूसकोलांग में प्रयुक्त स्वांग

छायाचित्र क्र०–12. छेरता-नृत्य में नकटे की वेशभूषा

रेखाचित्र क्रमांक–18. कर्णाभूषण (सन्दर्भ 7.10)
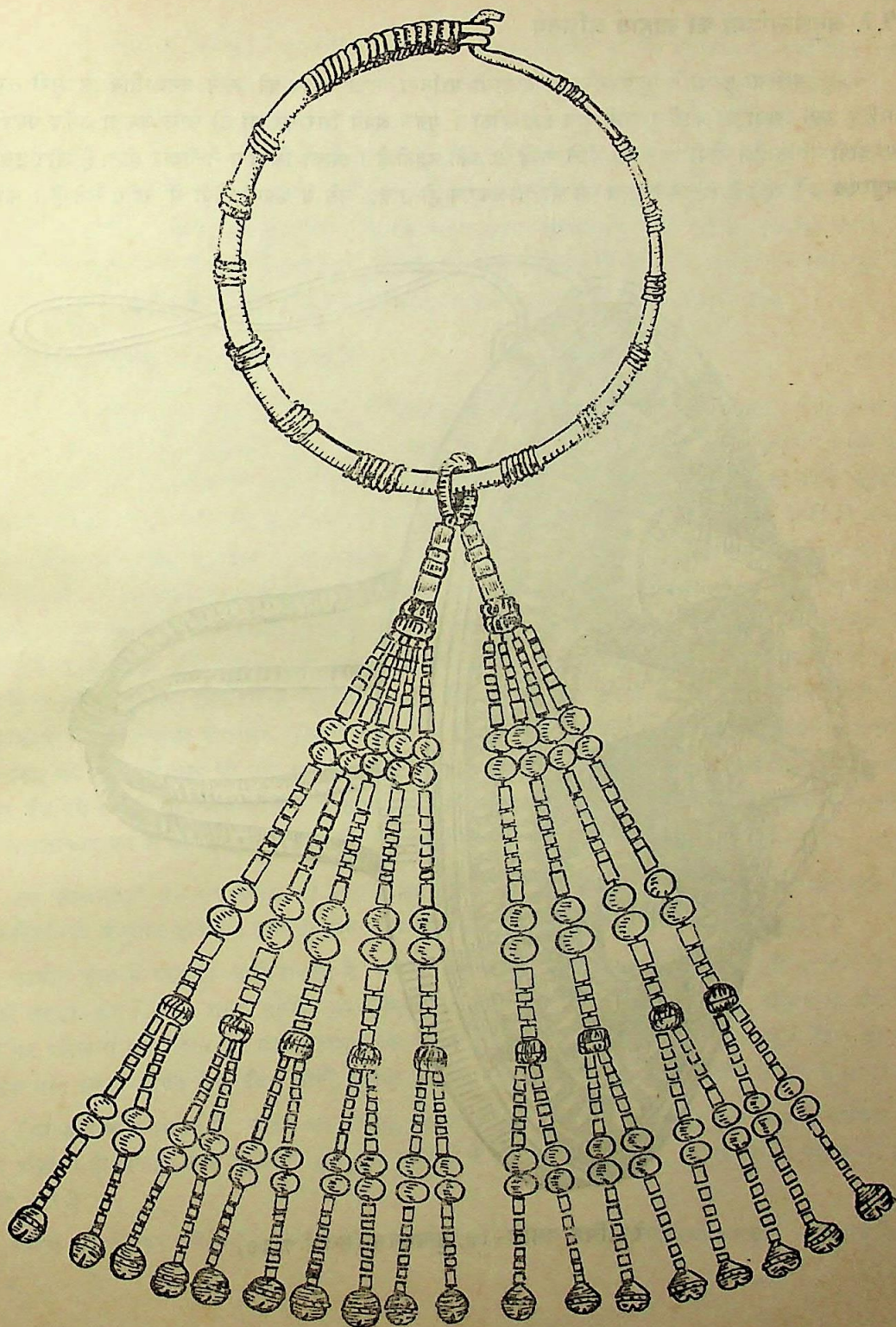
7.9.2. अबुझमाड़िया का आहार्य अभिनय

अबुझमाड़िया पुरुषों के नृत्य-परिधान दण्डायी माड़िया तथा बस्तर की अन्य जनजातियों से पूरी तरह भिन्न होते हैं। यहाँ स्त्रियों का कोई नृत्यपरिधान नहीं होता। युवक अपने शिर पर या तो लाल अथवा सफेद **पगड़ी** बाँधते हैं या **टोपी** लगाते हैं। टोपी लाल या नीले कपड़े से ढकी रहती है। इसका किनारा नलीदार होता है और इसके मध्य में **मयूरपंख** लगे रहते हैं। इसके साथ जो भी अलंकरण होता है, उसे ये अपनी टोपी में खोंस लेते हैं। कभी-कभी
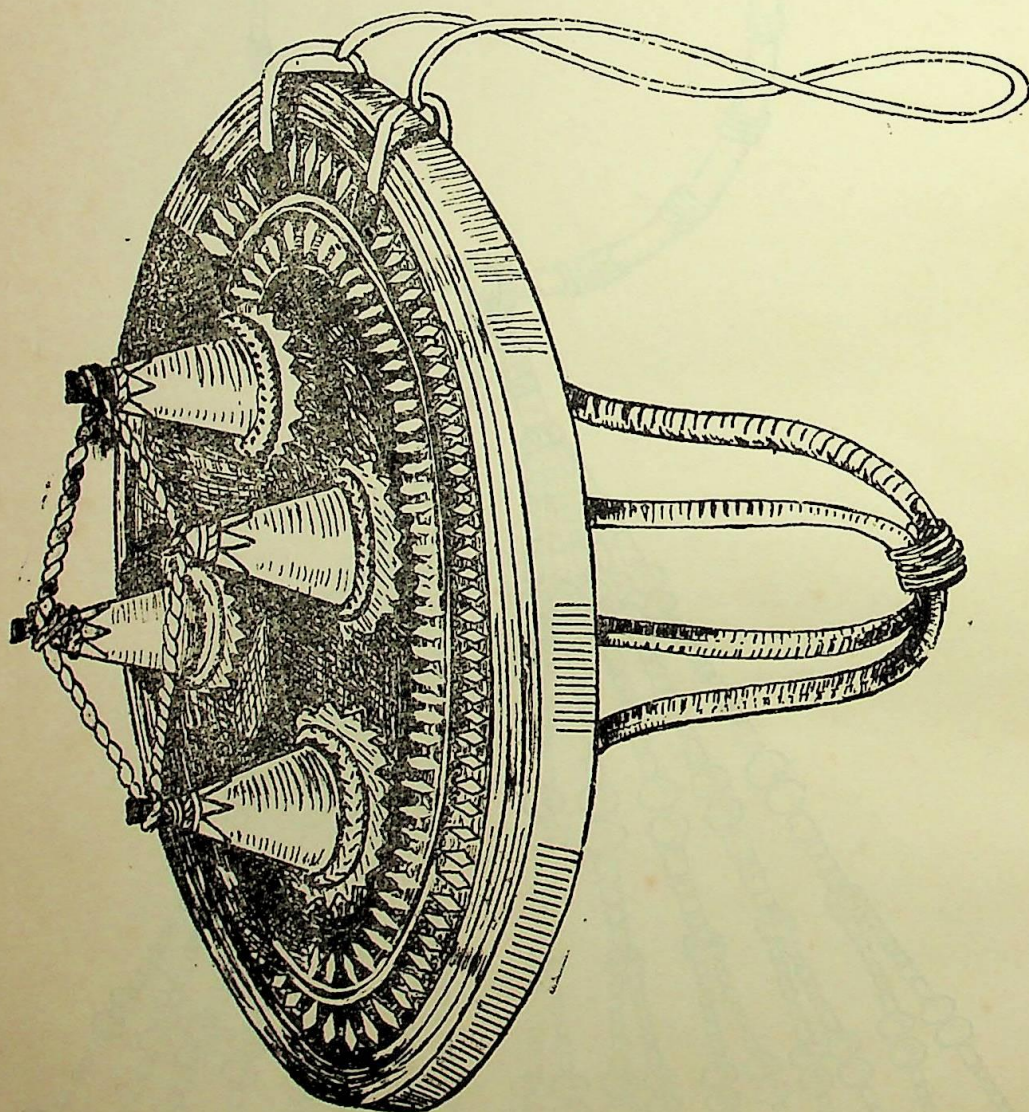
रेखाचित्र क्रमांक–19. नृत्यकवच (सन्दर्भ 7.10)

यह टोपी बाँस की खपच्चियों की जाली से बनायी जाती है। टोपी या पगड़ी के नीचे दो लाल या नीले **फीते** लटकते रहते हैं। छाती पर बिना बाहों की लाल कपड़े की पट्टीपड़ी रहती है। नीचे लाल या गहरे नीले रंग की एक लम्बी 'स्कर्ट' पहनी जाती है, जिसे **'कोचो'** कहा जाता है। इसमें जो जाली होती है, उसे **'पोड़िया'** कहा जाता है। कमर के चारों ओर जाली के ऊपर ये 'मुयाङ्ग' (घण्टियाँ) बाँध लेते हैं। इसमें बजने वाली दो या तीन घण्टियाँ लगी रहती हैं। गर्दन तथा कंधे के पीछे ये 'मोघी' लगाए रहते हैं, जो टोकनी का बना हुआ नृत्य-आवरण है। इस 'मोघी' के ऊपर रंगीन कपड़े की पट्टियाँ लगी रहती हैं। प्रत्येक नर्तक अपना **'तल्लागुड़ा'** और 'मोघी' स्वयमेव बनाता है। प्राचीन काल में प्रत्येक नर्तक के बाएँ हाथ पर एक 'फरसी' होती थी, जिसके सिरहाने पर रंगीन कपड़े लगे रहते थे। किन्तु 1910 ई० के आदिवासी विद्रोह के कारण ब्रिटिश शासन ने यह परम्परा समाप्त कर दी थी।

7.9.3. दण्डामी माड़िया का आहार्य अभिनय

दण्डामी माड़िया नृत्य के निमित्त जिस शिरोलंकरण को धारणा करते हैं, उसे 'तल्लागुड़ा' कहा जाता है। मैंने सींग और मयूरपंख देकर इनसे एक 'तल्लागुड़ा' 1964 ई० में अपने लिए बनवाया था। इन्होंने सबसे पहले मेरे शिर की नाप कनपटियों तक ली और उसके आधार पर टोकनीनुमा एक टोपी तैयार की, जो दोनों भौंहों के ऊपर तक फिट होती थी। यह ऊपर से नीचे एक निम्न शिखर के रूप में उतारी गयी थी। टोपी ढीली ही बनायी गयी थी, क्योंकि इसमें सींग, मयूरपंख के साथ कौड़ी की लड़ियों तथा रंग-बिरंगे कपड़ों की पर्त्त चढ़ायी जानी थी। इनसे कसी जाने पर वह अपने आप चुस्त तथा पहनने योग्य हो गयी थी। यह टोपी मुड़ी हुई बाँस की खपच्चियों से चतुर्भुजाकार में बनायी गयी थी, जिससे वह भौंहों के ऊपर तक की नाप में आ जाय। **'गँवर-सींग'** को एक तेज धार वाले चाकू से तराशा गया था, जिससे उसके ऊपर जमी हुई धूल साफ हो जाय तथा सींगें अपने प्राकृतिक रंग और सौन्दर्य से निखर उठें। फिर उन्हें रेत से धीरे-धीरे साफ किया गया और सरसों के तेल से चमकाया गया था। सींगों के कोणों को भी तराशा गया था, जिससे वे टोपी में ठीक से फिट हो जायँ। इन सींगों में नियमित अन्तराल पर छेद किए गये थे—गर्म लोहे की एक तार से। इन छिद्रों के आर-पार ताड़ के धागों को फँसाया गया, जो टोपी में जाकर बँध गये। धागे चार-पाँच परत के थे तथा इनकी गाँठें अन्दर की ओर बाँधी गयी थीं। मयूरपंख के डंठलों की भी आयताकार रूप में ढालकर उन्हें बाँस की खपच्चियों के साथ जड़ दिया गया था।

अब **'तल्लागुड़ा'** बन कर तैयार हो गया। उसके बाद भी उसमें बहुत से अलंकरण लोगों की रुचि और आर्थिक स्थिति के अनुसार होते हैं। इसी के साथ जुड़ा होता है टोपी या पगड़ी में कौड़ियों का अलंकरण।

प्राचीन काल में दण्डामी माड़िया-क्षेत्र में 'गंवरों' की संख्या प्रचुर मात्रा में थी, किन्तु शिकारियों ने उन्हें धीरे-धीरे समाप्त कर दिया। आज 'गँवरों' की दुर्लभता के कारण गँवर-सींग नहीं मिलती हैं, शासन ने गँवरों के शिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। यही कारण है कि उचित पूर्ति के अभाव में अब 'तल्लागुड़ा' बहुत मँहगा हो गया है, क्योंकि माँग इसकी अधिक है। जिन लोगों के पास गँवर-सींग हैं, वे उसे अब पैतृक सम्पत्ति के रूप में मानते हैं।

गँवर-सींग के न मिलने के कारण अब उसका स्थानापन्न भैंस की सींगें कर रही हैं। दण्डामी माड़िया अब बैल की सींगों से ही अपना काम चला लेते हैं। अब बाजारों में स्थानीय घसिया लोगों द्वारा निर्मित पीतल की सींगें भी आने लगी हैं।

विशेष अवसरों पर पोले लोहे की **'पायल'** पहनने के अतिरिक्त दण्डामी माड़ियों का कोई अन्य नृत्यपोशाक नहीं है।

स्त्रियाँ भी कोई विशेष नृत्यसज्जा नहीं करती हैं, जो भी आभूषण मिल जायँ, उन्हें पहन लेती हैं। इनकी एक ही विशिष्टता है और वह यह कि ये अपने दाहिने हाथ पर 'तिरडुडी' या बाँस की पटरी रखती हैं, जिसमें गुच्छ की गुच्छ लोहे की घण्टियाँ लटकती रहती हैं।

घण्टियों से युक्त इसी प्रकार का एक छोटा-सा दण्ड ढोल-वादक भी रखता है, जिससे वह ढोल बजाता है।

7.10. पर्यावरण तथा वस्तुप्रयोग

अवाचिक सम्प्रेषण का अन्तिम आयाम पर्यावरण और वस्तुप्रयोग है। नृत्य की 'रचा' (रथ्या) नृत्य का स्वतः सन्देश देती है। 'रचा' के आस-पास का वन्य परिवेश वाचिक अन्तःक्रिया को बहुत अधिक सीमा तक प्रभावित करता है। प्रकाश, तापमान, प्रकृति, पशु तथा पक्षी सभी महत्वपूर्ण तत्व हैं। वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु का पर्यावरण विशेष आनन्ददायक होता है। पर्यावरण से इनका व्यक्तित्व तथा इनकी रुचियाँ जुड़ी होती हैं। विविध रंगों के प्रयोग से भी विविध प्रकार की सम्प्रेषणीयता होती है। दण्डामी माडिया युवतियों के 'तिरडुडी' नामक नृत्यदण्ड के आघात से धरती सजीव हो उठती है तो मुरिया के दण्ड़प्रहार से 'दण्डार' नृत्य में सम्पूर्ण वातावरण भी थिरक उठता है। वातावरण के अनुसार ऐन्द्रियानुभूति में भी अन्तर आता है। इस प्रकार सगीत के लिये निर्मित आदिम पर्यावरण से सम्प्रेषणप्रक्रिया प्रभावित होती है। पर्यावरण के ढाँचे और तत्व के अनुसार इनके सांगीतिक सन्देश प्रवाहित होते हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त विविध वस्तुएँ भी सांकेतिक सम्प्रेषण करती हैं। झंडियाँ, विविध टोपियाँ, देवता, तथा पगड़ियाँ वाचिक सम्प्रेषण का स्थान लेती हैं। भूत-प्रेत से बचने के लिए ताँबे के यंत्र, लोहा एवं ताड़पत्र इनके अवाचिक सम्प्रेषण हैं, जिन्हें आदिम जनजातियाँ अपने पास रखती हैं।

टिप्पण

(1) आदिम जनजातियों में मुंह फेर लेना घृणा का सूचक है। भय की स्थिति में ये भाग जाते हैं;

(2) हलबा दण्डवत प्रणाम करते हैं, भतरा हाथ जोड़ते है एवं राजमुरिया, मुरिया, आदि 'जोहार' कहते हैं।

(3) क्रोध की स्थिति में माड़िया ओंठ लपलपाते हैं।

(4) ये शिर के माध्यम से आने, जाने, हाँ, तथा न का संकेत करते हैं। लज्जा की स्थिति में महिलाएँ शिर नीचा कर लेती हैं।

(5) द्रविड़ जनजातियों में आँख से बहुत कम संकेत उभरते हैं। पुरुष वर्ग द्वारा घूर कर देखना क्रोध का सूचक है। चिन्तन की मुद्रा में सिरहा-गुनिया आँखें बन्द किए रहते हैं।

(6) विधवा स्त्रियाँ बालों में कंघी नहीं लगातीं और न ही हाथों में चूड़ियाँ पहनती है।

(7) द्रविड़ जनजातियों में प्रेम या दया के लिए अपना कोई शब्द नहीं मिलता है। ये इतनी भौतिकवादी है कि मरणासन्न व्यक्ति के लिए इन्हें कोई दुःख नहीं होता। दाम्पत्य जीवन में भी यहाँ प्रणय की स्थिति न होकर मात्र संभोग की स्थिति रहती है। ये दिन में ही कामपूर्त्ति करते हैं। इनके प्रणय की चर्चा कहीं देखी सुनी नहीं गयी। पुरुष अपने मन का व स्त्री अपने मन का करती है।

(8) 'चुप्पी' यहाँ क्रोध का सूचक है। क्रोध की स्थिति में माड़िया जन बोलता नहीं है।

(9) व्यभिचारी व्यक्ति के प्रति माड़ियाजनों में घृणा का भाव होता है। नंगी औरत को देख कर यदि कोई हँस दे, तो ये बुरा मानते हैं। अबुझमाड़िया 'दादी' (आजा) सम्बोधन पसन्द करते हैं। सम्प्रति प्रचलित 'मामा' सम्बोधन इन्हें अप्रिय है।

(10) अबुझमाड़िया सदैव उँकड़ू बैठते हैं।

(11) अबुझमाड़ में हाथ का प्रयोग खाने या पीने के लिए नहीं होता। पत्तल में सीधे मुँह लगा कर खाते हैं और नदी या तालाब में सीधे मुँह डाल कर पानी पीते हैं। दण्डामी माड़िया हथेली पर भात रख कर चाट कर खाते हैं। राजमुरिया, भतरा तथा हलबा आदि कौर बना कर खाते हैं।

(12) आदिवासी पुरुष तथा महिलाएँ खिलखिला कर नहीं हँसतीं। मन ही मन हँसती या मुस्कुराती हैं।

(13) किसी की मृत्यु पर आदिवासी स्त्रियाँ और पुरुष मुँह फाड़ कर नहीं रोते हैं। पुरुष वर्ग तो सम्भवतः रोना जानते ही नहीं हैं।

(14) आदिवासी महिलाओं का स्तन स्पर्श नहीं करते, संभोग की स्थिति में भी।

□

8
आदिवासी संगीत और संस्कृति

8.1. आदिम संगीत और सामूहिक उत्पादन-पद्धति

'कोलांग' नृत्यों और गीतों में सृष्टि की उत्पत्ति और भूमि पर आदिम मानव की विविध कथायें मिलती हैं। इनकी इस वन्य परम्परा ने अपने पूर्वजों की आदिम जीवनप्रणाली, रहन-सहन, क्रियाकलाप और उनकी प्रगति की स्मृति को जीवित रखा है। सृष्टि के सम्बन्ध में इनके अपने ही सिद्धान्त हैं। आदिम जनों का यह स्वभाव है कि प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक प्राकृतिक घटना को, इन्होंने चेतना का रूप प्रदान कर दिया है। अपनी चेतना के अनुरूप ही ये संसार को देखते हैं। प्रकृति से अभी तक इनका आंतरिक सम्बन्ध नहीं छूटा है। वे अभी तक सम्पूर्ण प्रकृति के ही एक अंग हैं। इसलिए इन्होंने सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, ऋतुओं, वृक्ष, पत्थर, नदी तथा भूमि आदि को अपने समान जीवित और चेतन मानकर इन्हें शक्ति या देवी-देवता के रूप में देखा है। मृत व्यक्ति को वे अभी भी मरा हुआ नहीं मानते, यद्यपि उसको जमीन में दफना दिया जाता है तो भी वे मानते हैं कि वह भोजन करता है, पानी पीता है और इसी-लिये 'आनाल-कूँडा' (मृतकों के लिये भोज्यपदार्थ रखने की वस्तु) की आवश्यकता है। विज्ञान, प्रकृति और समाज का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण इस प्रकार की चिन्तनायें, सिद्धान्त और कल्पनायें होना स्वाभाविक हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों के मूल में सामाजिक जीवन, उत्पादन की प्रणाली, उत्पादन-शक्तियों का स्तर और उत्पादन-सम्बन्ध हैं। आदिम कथाएँ इन सामाजिक सम्बन्धों के बिना सुस्पष्ट नहीं की जा सकतीं। वास्तव में सामाजिक सम्बन्ध ही सांगीतिक प्रबन्ध के तत्व हैं।

सम्पूर्ण सांगीतिक प्रबन्ध में केवल **'माँग'** ही उपस्थित है। उस माँग की पूर्ति के लिये उपायों की खोज भी है। वह माँग धन है। इस धन के दो रूप हैं। एक है अन्न और दूसरा है 'कोइतोर' (मनुष्य)। धन या अन्न आदिम समाज के उत्पादन के साधनों तथा आर्थिक उत्पादनशीलता का द्योतक है, जिसका सीधा सम्बन्ध 'कोइतोर' से है। इन दोनों प्रश्नों पर आदिम संगीत में प्रचुर मात्रा में सामग्री मिलती है।

अन्न के लिये संघर्ष आज भी बहुत कठिन है। अनगढ़ औजारों के कारण इस संघर्ष को इतना अधिक कठिन होना पड़ा है। आदिम जन वन्य अवस्था के लोगों की दशा को देखकर आज भी काँप उठते हैं, क्योंकि संकटग्रस्त जीवन में भटकाव ही भटकाव है। भोजन के लिये इनके पास आज भी कोई निश्चिन्तता नहीं है। यही कारण है कि अबुझमाड़िया आज भी इधर-उधर भूमि को बदलता रहता है। कभी भोजन की कमी के कारण, कभी रोगों के कारण, और कभी वन्य शत्रुओं के भय के कारण बस्तर से लेकर चाँदा तक अपने मूल गाँव से निकल कर यह नया गाँव बसा लेता है।

संकटग्रस्तता की इस स्थिति में निजी सम्पत्ति के ऊपर अधिकार करने की समस्या ही नहीं उठती। परिणाम-स्वरूप शासक और शोषित वर्ग की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। इन्हें जो वस्तु भी मिलती है, उस पर सामूहिक

अधिकार होता है; क्योंकि वह सामूहिक परिश्रम के द्वारा ही उत्पन्न होती है। इसलिये उसका उपभोग भी सामूहिक है। प्रकृति के विरोध में संघर्ष करने और जीवित रहने के लिये आदिम जन व्यष्टि के रूप में दुर्बल है।

आदिम संगीत में अग्नि का महत्वपूर्ण स्थान है। अरणिविधि से उत्पन्न अग्नि कभी बुझती नहीं। आदिम जन को वन में ही अग्नि का ज्ञान हुआ होगा। उसने यह अनुभव किया है कि बादलों से गिरने वाली अग्नि 'भीमुन-विल' (भीम की धनुष) है, जिससे वह वनों को नष्ट कर देता है। प्रारंभ में अग्नि के इस प्रलयंकर रूप से वह भयाक्रान्त हुआ और उसे नियंत्रित करने का उपाय सोचा होगा।

अग्नि के ज्ञान से आदिमसमूह के पास एक ऐसा साधन आया, जिससे उसका जीवन तेजी से बदलने लगा। यह क्रान्ति इतनी महान् रही होगी कि इसके बाद का पूरा जीवन मानों अग्नि पर ही आधारित हो गया। सृष्टि, उन्नति, धन, सुख, आदि सब वस्तुयें अग्नि के ही अधीन हो गयीं। आग के द्वारा यह संभव हो सका कि शिकार में मारे गये मांस और मछली को भून कर या पका कर आसानी से पचाया जा सके। अग्नि आदिम जीवन का मूलाधार बनी और 'किसपेन' के रूप में आदिम समाज में उसकी स्थापना हुई। मुरिया-नृत्य का कोई पक्ष ऐसा नहीं है, जहाँ अग्नि की विद्यमानता न हो। अरणिविधि से जो अग्नि विशेष नृत्य-समारोहों में प्रज्वलित की जाती है, वह इतनी पवित्र मानी जाती है कि उसको धारण करने वाले व्यक्ति का कोई संस्पर्श नहीं कर सकता। मशालों की अग्नि के साथ ये जब कभी नृत्य करते थे, तो देखने वालों के दिल दहल जाते थे।

सांगीतिक नृत्य में अग्नि के अतिरिक्त पशुओं का भी महत्व है। अनेक नृत्यों में 'कुत्ते' का होना अनिवार्य है। इससे विकास के उस क्रम का ज्ञान होता है, जब आदिम जनों ने पशुओं के पालने की कला सीखी होगी। इससे नियमित भोजन के कठोर प्रश्न को सुलझाने में मदद मिली होगी; क्योंकि आखेट इतना दुष्कर कार्य था कि बस्तर के आदिवासियों को नरमांसभक्षण (हेले) का सहारा लेना पड़ता था। किन्तु एक बार जैसे ही 'किसपेन' (अग्निदेव) का इन्हें ज्ञान हुआ, आदिम समाज ने पशुओं का पालन प्रारंभ कर दिया, जो उसे मांस देते हैं, वस्त्रों के लिये अपनी खाल और रोम देते हैं, सांगीतिक प्रसाधन के लिये सींग देते हैं। जाहिर है कि पशुओं को पालतू बनाने की इस प्रक्रिया में सांगीतिक विकास अधिक ऊँचे युग में आ गया होगा। इसी युग में अवनद्ध वाद्यों का विकास हुआ होगा तथा आदिम मानव ने चमड़े का संगीत में प्रयोग करना सीखा होगा। इसी युग में 'अकुम' (सींगी) का आविष्कार हुआ होगा।

इन सांगीतिक परिवर्तनों की नेता फिर वही अग्नि थी। इसी ने आगे चलकर कच्चे लोहे (कच) को पिघलाना संभव बनाया, जिससे आदिम समाज में एक नयी क्रान्ति हुई। इससे उन अवनद्ध वाद्यों के 'काठों' में परिवर्तन हुआ, जो मिट्टी या काष्ठ से बनते थे। ऐसे वाद्यों में 'निसान' वाद्य का जनजाति समाज में प्रवेश हुआ। इसी युग में घनवाद्यों में 'कचटेहेण्डोर', 'मुयाङ', 'चिटकुल', आदि का आविष्कार हुआ होगा।

लोहे की खोज के साथ अगले चरण में जब ताँबे और पीतल का अग्निसंस्कार हुआ तो 'तोड़ी' और 'मोहरी' जैसे वाद्यों का विकास हुआ यह बारहवीं शताब्दी की कालावधि थी। ये लौह तथा ताम्र औजार सभी धार्मिक समारोहों में पूजे जाते हैं।

इस प्रकार आदिम सांगीतिक जीवन पशु और अग्नि पर केन्द्रित रहा है। यह उत्पादन का एक नया साधन था, जिससे सांगीतिक उत्पादन की शक्तियाँ नए स्तर पर पहुँच गयी थीं। यह एक ऐसी उत्पादन-प्रणाली थी, जिससे आदिम संगीत संस्कारित हुआ। इसके पहले वह अवसादपूर्ण था। सांगीतिक उत्पादन की इस नयी शक्ति ने आदिम मानव को वन्य अवस्था से निकाल कर अर्द्ध वन्य अवस्था में लाकर खड़ा कर दिया। घूमने का जीवन छोड़कर

झोरिया समाज के रूप में अबुझमाड़िया ने बस्तियों में रहना सीखा। भुखमरी से नरमांसभक्षण को छोड़कर वह नियमित भोजन के कारण अपने को सुरक्षित मानने लगा। नंगे रहने के स्थान पर अब उसने 'लँगोटी' पहिनना सीख लिया। प्रकृति के सामने जिस दुर्बलता और निस्सहायता का अनुभव कर रहा था, उसको त्याग कर वह शक्तिवान और उन्नत अवस्था की ओर बढ़ने लगा। पहले अबुझमाड़िया की स्थिति में वह घूम रहा था और थकावट के कारण लम्बी-लम्बी साँसें ले रहा था, अवसादपूर्ण गीत गा रहा था, किन्तु अब झोरिया के रूप में वह विश्वास के साथ खड़ा था तथा संगीत से खिल उठा था।

अग्नि का पता लगने के बाद अभिचारिक कर्म उत्पादन की नयी प्रणाली के रूप में आए। इस आभिचारिक प्रणाली में आदिम मानव नयी रीति से रहता हुआ 'महाप्रु' (महाप्रभु) को विकास और वैभव की ओर ले गया था। वह 'महाप्रु' बिना आभिचारिक कर्म के नहीं रह सकता था और न ही इस आभिचारिक कर्म के बाहर ही रह सकता था। उसके अस्तित्व का रूप ही आभिचारिक कर्म था (द्र० 8. 4)।

आदिम अवस्था की उत्पादनप्रणाली तथा उसके जीवन के मूल तत्व इस प्रकार हैं—उस अवस्था में सामूहिक परिश्रम और सामूहिक उपभोग होता है। निजी सम्पत्ति नहीं है। पर कतिपय आदिम संगठनों में उत्पादन-शक्तियों के बढ़ने पर वह प्रकट हुआ है। बस्तर में जब मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया और दोर्ला एक ही कबीले के रूप में रहते रहे होंगे, उस समय श्रमविभाजन नहीं रहा होगा; क्योंकि इनकी पुनर्रचित शब्दावली में इसके लिये कोई शब्द नहीं है, किन्तु बाद में उत्पादन-शक्तियों के बढ़ने पर यह कबीला दक्षिण और उत्तर के समूहों में जैसे ही विभाजित हुआ, वह प्रकट होने लगा। तब वर्गों का अस्तित्व नहीं था—सामाजिक संगठन का रूप 'प्रगण' संगठन था, जिसके लिये बस्तर में आज भी 'परगने' की विचारधारा प्रचलित है। इस 'प्रगण' संगठन का आधार मातृसत्ता थी। उसके सब सदस्य आपस में सम्बन्धी होते थे। मुरिया के 'बुमकाल' में आज भी इसकी स्पष्ट तस्वीर देखने को मिलती है। व्यक्तिगत परिवार और विवाह का प्रचलित अर्थ उस समय नहीं था। सभी क्रियायें 'प्रगण' के मतानुसार होती थीं। उस अवस्था में उत्पादन के सम्बन्धों को या सम्पत्ति के सम्बन्धों को बलात् आरोपित करने के लिये कोई ऐसी सत्ता नहीं थी, जिसके पास सेना और पुलिस हो या जो 'कर' लगाती हो। इसलिये सत्ता के किसी कानून को लागू करने के लिये सत्ता के यंत्र का अस्तित्व नहीं था। बस्तर में यह मातृसत्तात्मक व्यवस्था 1324 ई० तक थी (शुक्ल : 1977 : 365-74)।

आदिम समाज में आभिचारिक विद्यायें चरम सीमा पर हैं, जिन्हें हम तन्त्र कहते हैं (द्र० 8. 4.)। इन आभिचारिक क्रियाओं को सम्पादित करने वाले लोग गायता, सिरहा तथा गुनिया, आदि नामों से पुकारे जाते हैं। ये आभिचारिक क्रियायें एक सामूहिक आयोजन के रूप में होती हैं। सामूहिक परिश्रम के रूप में सभी लोग इसमें भाग लेते हैं। उनमें कोई श्रेणी-विभाजन या वर्ग-विभाजन नहीं होता। इस आभिचारिक क्रिया का फल सभी को समान रूप से मिलता है। सभी लोग एक ही बर्तन से 'सलफी' पीते हैं। अभिचार-कर्म में सम्मिलित होने वाले सभी लोग एक ही गोत्र के होते हैं। इन सबमें रक्तसम्बन्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि तांत्रिकगण के सभी सदस्य एक ही रक्त से सम्बन्धित होते हैं और उससे बाहर का व्यक्ति अभिचारक्रिया में भाग नहीं ले सकता।

इस 'गणमूलक' परिश्रम में इस बात की आवश्यकता रहती है कि एक व्यक्ति को अलग बैठा दिया जाय, जो योजना के अनुसार परिश्रम की प्रक्रियाओं का संगठन कर सके और उन्हें ठीक रास्ते पर ले जा सके। इसलिये किसी विशेष कार्य को करने के लिये कुछ समय के लिये व्यक्तियों का चुनाव होता है। यह व्यक्ति 'माझी' कहलाता है। इसका प्रचलन तब हुआ होगा जब कार्य के अनेक रूप हो गए होंगे और उत्पादक शक्तियाँ समुन्नत हो गयी होंगी।

आभिचारिक कृत्यों की एक विशेषता यह है कि पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही अनुष्ठानों में सम्मिलित हो सकती हैं। यहाँ प्रचलित 'ककसाड़' उत्सव या 'जात्रा'-उत्सव एक प्रकार से वैदिक सत्रयज्ञ ही हैं, जिनमें सभी को सम्मिलित होने का समान अधिकार प्राप्त है।

बस्तर की 'कोयतूर' प्रजातियों में चार-समूह हैं। उनके नाम मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया तथा दोर्ला है। 'महाप्रु' ने इन चारों प्रजातियों को उत्पन्न किया था। मुरिया तथा अबुझमाड़िया के जीवन के नियामक देवता 'लिंगो' है तथा दण्डामी माड़िया और दोर्ला का वरेण्य देवता 'भीमुल पेन' (भीम) है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये देवता इन आदिम गण के सदस्य हैं।

इन आदिम गणों को 'गायता' या 'लेस्के' प्रचालित करता है। 'गायता' गीत ही नहीं गाता, काम करने वाले लोगों में उत्साह भरता है। प्रत्येक सामूहिक परिश्रम में एक प्रकार की ताल या लय रहती है। परिश्रम कठोर होता है, किन्तु संगीत के कारण उसकी नीरसता समाप्त हो जाती है। सामूहिक परिश्रम से जो कुछ भी उत्पन्न होता है, उसका उपभोग करने के लिये उसे 'घोटुल' में लाया जाता है। आदिम धर्म का ऐसा ही आदेश है। देवताओं तथा पितरों को उनका भाग दे देने के बाद जो कुछ बचता है, वह सामूहिक उपभोग के लिये होता है। प्रति दिन जो बलि होती है, वह भोजन के वितरण की प्रणाली के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सामूहिक रीति से भोजन का उत्पादन किया जाता है और पूरे साम्य सघ में वितरित किया जाता है। इसलिये यहाँ होने वाली पशुबलि आभिचारिक कर्म का ही एक अभिन्न अंग होती है।

यह सब काम आरम्भ होकर आनन्ददायक 'सलफी' (शेफालिका वृक्ष का रस) रस के पीने के साथ खतम हो जाता है। 'सलफी' के साथ उड़द के आटे के पके हुये 'बोवो' (पुरोडाश) खाये जाते हैं। दिन का सर्वाधिक आनन्द देने वाला प्रमुख भोजन मांस का सहभोज है। मांस खाने के विषय में ये शायद ही किसी पशु-पक्षी को छोड़ते हैं, केवल प्रतीकपूजी पशुपक्षी को छोड़कर। खूब-खा पीकर ये आग के चारों ओर लेट जाते हैं। मुरियाजनों में 'घोटुलों' की विद्यमानता के कारण यद्यपि उनमें अनियमित सम्भोग की प्रथा विद्यमान है, पर शेष तीनों जनजातियों (अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया, दोर्ला) में युग्म-परिवार के सुदृढ़ विचार के कारण युवक तथा युवतियाँ अपने-अपने झोपड़ियों में ही सोते हैं।

8.2. आदिम संगीत और लिंग भेद

सामाजिक उत्पादनों में लिंगभेद और अवस्था भेद के अनुसार कार्य का विभाजन अनादिकाल से विद्यमान रहा है। विविध विज्ञान इसकी सार्थकता के क्रम से इसे प्रकृति के नियमों के रूप में परिभाषित करते हैं। इसी प्रकार लिंग तथा आयुवर्ग की दृष्टि से सामाजिक वर्गों का उभयपक्षी विभाजन शाश्वत नियम-सा बन गया है। स्त्रियों तथा पुरुषों के सामाजिक प्रकार्य और उनके सापेक्षिक महत्व के प्रश्न पर वैचारिक भिन्नता भी देखने को मिलती है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उत्पादन तथा समाज के इस उभयपक्षी संसार की वास्तविकतायें समय-समय पर पहचानी गयी हैं तथा उन्हें स्वीकार किया गया है, किन्तु मन पर इनका जो प्रभाव पड़ता है, उस पर कभी ध्यान नहीं दिया गया है। लोकसाहित्य सामाजिक मन का एक अति विशिष्ट प्रकार है तथा इसके अन्तर्गत भी लिंग-गत तथा आयुगत विभाजन विद्यमान रहते हैं; उदाहरण के लिये गीतों का विकास स्त्रियों ने किया तथा महाकाव्यों का विकास पुरुषों ने। लोकसाहित्य के इस पक्ष पर अभी तक लोगों का ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है। इसके मूल में एक समस्या यह रही है कि लोकसाहित्य की विधाओं में बहुत अधिक लैंगिक आदान-प्रदान हुआ है, जिससे यह प्रतीति होने लगी कि साहित्यिक विधाओं में लिंगभेद नहीं मिलता है, अपितु वे आदिवासियों के विभाजन और

संघर्ष की अभिव्यक्ति कराते हैं; किन्तु जनजातीय साहित्य के सर्वेक्षण के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इनमें लिंगगत तथा आयुगत भिन्नतायें आज भी विद्यमान हैं (द्र० शुक्ल : 1982) और सम्भवतः सदैव विद्यमान रहेंगी।

हमारे पास स्त्रियों तथा पुरुषों के लोकसाहित्य की व्यावर्तक प्रकृति को समझने के लिये प्रभूत सामग्री है, जो कि संस्कार, अभिचार तथा धार्मिक अनुष्ठान के क्षेत्र में विशेष रूप से मिलती है। प्राप्त सामग्री से लिंग के आधार पर अवसरानुसार पार्थक्य की अनुभूति होती है—इस पार्थक्य के उल्लंघन का अर्थ है गम्भीर और घातक परिणाम; उदाहरण के लिये अबुझमाड़ियों के 'ककसाड़' नृत्य में युवतियाँ युवकों के साथ पंक्तिबद्ध होकर नृत्य नहीं कर सकतीं, मुरिया जनजाति के 'पूस-कोलांग' नृत्य में युवतियाँ भाग नहीं ले सकतीं। इन नियमों का उल्लंघन करनेवाला सामाजिक तौर पर अपराधी माना जाता है तथा उसके लिये कठोर दण्ड का विधान है। समुदाय के कार्यकलापों से पार्थक्य प्रायः प्रभविष्णु वर्ग (अर्थात् पुरुषों) के द्वारा आरोपित किया जाता है तथा यह आयुवर्ग के लिये भी लागू होता है; जैसे 'घोटुल'-नृत्यों में अधिक आयुवर्ग के लोगों का शरीक होना भी वर्जित है। इन वर्जनाओं के आधार पर सामाजिक विकास के पूर्वरूपों की पुनर्रचना की जा सकती है।

स्त्रियों और पुरुषों को अन्तर्भूत करने वाली सामाजिक क्रियाएँ आवश्यक रूप से उभयलिंगों की युगपत् समानता को सूचित नहीं करती हैं; किन्तु वे एक सामयिक परम्परा को उपलक्षित करती हैं, जिनमें प्रायः नियतरूप से प्रभावशाली वर्ग का अप्रभावी वर्ग पर अधीनता का भाव रहता है। इसका सर्वाधिक रुचिकर उदाहरण समूहनृत्यों का है, जिनमें स्त्री तथा पुरुष दोनों भाग लेते हैं। इन समूहनृत्यों में उभयलिंगी लोग या तो अबुझमाड़िया के स-ान पृथक् समूहों में नृ य करते हैं या बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी होते हैं अथवा पास-पास गोलाकृति में, अर्द्धगोलाकृति में नाचते हैं। या फिर ऐसी पंक्तियों में नृत्य करते हैं जो अधिक या कम संरचनाओं के साथ पास तो आ सकती हैं, किन्तु कभी मिल नहीं सकतीं। पास के विपरीत लिंगी सहचर के कन्धें या कमर या हाथ पर हाथ रखना अभिनव विकास है। यहाँ जनजातियों के कतिपय नृत्य के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

मुरिया जनजाति के 'माँदरी'-नृत्य में युवतियों की दो पंक्तियों के सामने युवकों की पंक्ति होती है। ये दोनों पंक्तियाँ पृथक्-पृथक् रूप से लिंगानुसार कभी मण्डल तथा कभी अर्द्धमण्डल बनाती हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि लड़कियाँ लड़कों की पंक्ति से पूरी तरह मिल जायँ। दोनों के बीच पार्थक्य साफ दीखता है।

यहाँ की जनजातियों के 'ककसाड़' (जात्रा) नृत्य हजारों के समूह में सम्पादित होते हैं। यहाँ भी युवकों की एक पंक्ति होती है तथा युवतियों की दूसरी पंक्ति। यह पंक्ति जब मिलती है तो एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रखने का अभिनव प्रयोग भी करती है, विपरीत लिंगी पर। किन्तु शीघ्र ही युवक-युवतियाँ पंक्ति से पृथक् होकर अपने-अपने लिंगानुसार पंक्ति से बंध जाती हैं।

'हुर-एन्दाना' में भी युवकों तथा युवतियों का एक बड़ा घेरा होता है, जिनमें कुछ तो हाथ पकड़े रहते हैं तथा कुछ के हाथ साथी की कटि पर होते हैं। यह भी नवीन प्रयोगधर्मी नृत्य है; क्योंकि दोनों लिंगों में पार्थक्य की स्थिति अन्तिम पदसंचारण में बन जाती है।

'जलकन्नि-कर्सना' में युवक तथा युवतियों का सम्मिलित मण्डल होता है। 'नाक-डाँडी-कर्सना' में भी यही अभिनय होता है। 'पेन-कोलांग' में लड़कियाँ लड़कों के साथ यात्रा में जाती हैं, किन्तु नृत्य नहीं करतीं। 'चैत-दादर' में पृथक्-पृथक् मण्डल रहता है। इसके उपविभाग 'बेंदरी-एन्दाना' में युवक तथा युवतियाँ एक दूसरे के गले पर भुजा रख कर चलती हैं। 'महुआ-दाँदर' दोनों को आलिंगन-बद्ध करता है। 'हुलकी'-नृत्य में दो पृथक्-पृथक् पंक्तियाँ बनती हैं। 'छिरता' नृत्य में भी मिलन हेतुक होता है, किन्तु मिलन के विविध सन्दर्भों में पुनः पुरुषों का प्रभाव इस रूप

में दीखता है कि वह किसी भी युवती को नृत्य के बीच से ही पकड़ कर जंगल की ओर चला जाता है और कुछ क्षणों बाद ही लौट आता है। इससे यह सुस्पष्ट है कि जिन-जिन समूह नृत्यों में उभय लिंगियों का परस्पर मिलन हुआ, स्त्रियाँ शोषित हुई।

हम यहाँ केवल यह कहना चाहते हैं कि ऐसे सामुहिक नृत्यों में भी पुरुष ही ऐसी पहल करता है और पूर्ण समानता वाले आदिवासी समाज में भी स्त्री पुरुष का अनुगमन करती है, उसकी ही प्रतिच्छवि देती है। इन मिले-जुले नृत्यों में भी जो मुखिया होता है, वह 'गाइन' या 'जोक्ता' आदि के रूप में पुरुष ही होता है। संगत तो पुरुष ही करता है, नृत्यमय गीतों की गायिकामात्र होती हैं स्त्रियाँ। जितने भी वाद्य हैं, उनमें 'घनकुल' तथा 'चिटकुल' को छोड़कर शेष वाद्यों पर पुरुषों का ही आधिपत्य है। पदसंचार और गति भी प्रभावशाली वर्ग के माध्यम से ही प्रभावीसमाज (स्त्री समाज) को स्थानान्तरित होती है और हम इसकी उत्पत्ति का भी अन्दाजा लगा सकते हैं।

कण्ठ संगीत की तुलना में वाद्य संगीत परवर्ती विकास है, जिस पर कुछ विशिष्टता हासिल करनी आवश्यक होती है। हमने यह पहले ही कहा है कि सामान्यता संगीत प्रभावशाली वर्ग के ही अधीन रहा है, किन्तु चूंकि आदिम संगीत केवल एक संगति के रूप में था और वह क्रिया, गति, और गान का उपाश्रित था, इसलिये स्त्रियों ने कालान्तर में 'घनकुल' जैसा वाद्यसंगीत सीखा होगा, जिसमें केवल सेवा का भाव रहा होगा। इस प्रकार वाद्यसंगीत में हमें जो लैंगिक भेद मिलता है, वह प्राचीन सामाजिक भिन्नता का ही परिचायक है, उसे हम शारीरिक योग्यता के साथ न जोड़ें। इस रूप में ततवाद्य 'घनकुल', तथा घनवाद्य 'मुयाङ्ग', 'कटवाकिग' एवं 'चिटकुल' स्त्रियों के वाद्य हैं, जिनकी सामाजिक संरचना उपर्युक्त विवरण से सुस्पष्ट है। जनजातीय स्त्रियों का वितत तथा सुषिरवाद्यों के बजाने पर निषेध पुनः हमारे उपर्युक्त मत का समर्थक है।

प्रारंभ से ही मौखिक कविता लिंगभेद के आधार पर रची जाती रही है। काव्यविधा तथा लिंग को एक सीमा तक उस समय सहसम्बद्ध भी किया जा सकता है, जब हमें यह ज्ञान हो कि कौन सा 'सेक्स' अधिक प्रभविष्णु है; उदाहरण के लिये लोरी, विरहगीत, विवाहगीत एवं अन्य सामयिक गीत स्त्रियों की सूची से सम्बद्ध हैं, जब कि महाकाव्य या वीरकाव्य पुरुषों से सम्बन्धित हैं। जहाँ लिंग के आधार पर यह विभाजन आज भी औचित्यपूर्ण है, वहाँ केवल आठ या दस प्रतिशत गीत की विधायें ऐसी मिलेंगी, जो स्त्रियों तथा पुरुषों के समान मानसिक उपलब्धि के वाचक कही जा सकती हैं। इसकी विस्तार से चर्चा हमने 'जनभाषा और साहित्य' (शुक्ल : 1982) में की है।

विविध कलाकृतियों और उनके प्रकार विपरीत लिंगों से जब लिये जाते हैं, तो सामान्यतौर पर वे नए सामाजिक परिवेश के अनुसार पौरुष अथवा स्त्रैण विशेषतायें अपने में आत्मसात् कर लेते हैं, किन्तु ऐसे उदाहरणों में प्रायः प्राचीनढाँचे अथवा पूर्ववर्ती स्त्री-पुरुषजन्य परिवेश को खोजा जा सकता है; उदाहरणार्थ उत्तर बस्तर की हलबा, भतरा तथा अन्य जनजातियों में 'गुरुमाय' (स्त्री वादिका तथा गायिका) का अवतरण होता है, किन्तु यहाँ यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि उनकी सूची पुरुषजन्य ही थी। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कला की कोई विधा पहले पुरुषों तक सीमित थी, तो कालान्तर में वह स्त्रियों तक भी आ गयी; उदाहरणार्थ माड़िया जनजाति के 'गँवर-नृत्य' में पहले पुरुष वर्ग ही भाग लेता था, कालान्तर में स्त्रियों का भी उसमें समावेश हो गया। यही स्थिति अबुझमाड़ की अनेक गीत-विधाओं की है।

इस प्रसंग में यहाँ हलबी में प्रचलित 'छेरता' और 'तारा' गीतों की चर्चा की जा सकती है। दोनों ही गीत सामाजिक व्यंग्य से सम्बद्ध हैं, जिनमें प्रथम को युवक गाते हैं तथा द्वितीय को युवतियाँ। ऐसा लगता है कि पहले पुरुष शताब्दियों तक 'छेरता' गाते रहे होंगे तथा कुछ पीढ़ियों के पश्चात् वही 'छेरता' जब स्त्रियों तक पहुँचता है, तो वह

'तारा गीत' का रूप ले लेता है। इनका मूल परिवेश एक ही है, जिसे आज भी खोजा जा सका है (स्त्रियों ने न केवल टेक की पंक्तियों में परिवर्तन कर लिया अपितु अन्य अनेक परिवर्तन भी जुड़ गए)। ऐसे अनेक गीत हैं, जिन्हें एक लिंग से दूसरे लिंग तक स्थानान्तरित होने में शताब्दियाँ लगी हैं (उदाहरण के लिये पहले लड़कों को चिढ़ाने के लिये तथा उनके वरण के लिये जो गीत थे, कालांतर में वे लड़कियों को चिढ़ाने के लिये और उनके वरण के रूप में परिवर्तित हो गए)। दोनों ही लिंगवर्ग के युवकों-युवतियों के गीतों में भी यही बात मिलती है। 'चइतपरब' जैसे सभी प्रणयगीत एक दूसरे का उपहास करने की प्रक्रिया से प्रारम्भ होते हैं, जिसमें प्रत्येक लिंगवर्ग समान शब्दों का प्रयोग करता है। इस प्रकार 'चइतपरब' के रूप में हम एक ऐसी गीतविधा की संभावना करते हैं, जिसमें खासतौर पर किसी लिंगवर्ग को उभरता हुआ हम नहीं देखते हैं।

ऐसा निष्कर्ष दिया जा सकता है कि प्रणयगीत स्त्री अथवा पुरुष की ही सम्पत्ति नहीं है, किन्तु यहाँ भी प्रभाव-हीनता पर कोई निर्णय देना उचित न होगा; उदाहरण के लिये 'परजी' में प्रणयगीत पुरुष गाते हैं, जब कि 'मारी' में सभी प्रणयगीत स्त्रियाँ गाती हैं। यदि पुरुष तथा स्त्री साथ-साथ गाते हैं, तो नृत्य का नेता जैसे पुरुष होता है, वैसे ही गीत का मुखिया भी पुरुष ही होता है। मुरिया के नृत्यगीतों में यह बात हमने विशेष रूप से देखी है।

जिस प्रकार नृत्यगीतों में पुरुष तथा स्त्रीभेद से परिवर्तन होता है, उसी प्रकार गीतों की संगति में भी परिवर्तन होता है। यदि संगीतज्ञ स्वयमेव संगत नहीं करता तो बद्ध समुदाय में उसी लिंग का व्यक्ति संगत करता है तथा मुक्त समुदाय में विपरीत लिंग का व्यक्ति। हलबा चूँकि एक बद्ध समुदाय है, इसलिये 'धनकुल' गीतों में वाद्य की संगत 'चेली-गुरमाय' ही करती है, जब कि मुरिया के मुक्त समुदाय के कारण 'माँदरी' नृत्य में पुरुष ही संगत करता है। यहाँ भी सामूहिक गान चिरकाल तक विपरीत लिंगो में सुरक्षित रहा और उसी सिद्धान्त के आधार पर वाद्यों का वर्गीकरण किया गया।

आदिम समाज में बच्चे का कोई लिंग नहीं होता। उचित संस्कार के बाद ही उसका लिंगविधान होता है। इसके अवशेष आज भी हमें आदिम समाज में इस रूप में मिलते हैं कि बालक तथा बालिकाओं का पहिनावा एक-सा होता है। इसलिये बच्चों के संगीत में लिंगभेद की स्थिति अपेक्षाकृत कम ही होती है किन्तु बच्चे जैसे ही 'घोटुल' में प्रवेश करते हैं, उनका लैंगिक भाव जाग उठता है और तब उनके संगीत की शैली भी बदल जाती है।

8.4. सौन्दर्यपरक मूल्यों का उत्पादन

कार्लमार्क्स (1955 (1847) : 96) ने एक बार कहा था कि 'प्रत्येक समाज में उत्पादन के सम्बन्ध उस समाज की समग्रता के वाचक हैं'। जनजातीय समाज के उत्पादन और संरचक तत्व इसी समग्रता से सहसम्बद्ध हैं।

हम जनजातियों के पारिस्थितिक तथ्य को मात्र परिस्थिति कहने का भ्रम पालते हैं और इसीलिये सामंती-पूंजीवादी संगीत प्रतिनिधि माना जाने लगा है एवं वही सभी सांगीतिक शैलियों और सौन्दर्यमूलक संभावनाओं के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। जिस क्रम से यह सामंती-पूँजीवादी संगीत आज हमारे सामने विद्यमान है, वह संगीत का असद्पक्ष है; क्योंकि इसे सद्पक्ष स्वीकार कर लेने से सामाजिक परिस्थितियों का बोध नहीं हो सकता। सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पादनों के सम्बन्ध के साथ निर्मित होती हैं और मानवीय उपलब्धि उन्हीं के अधीन सम्भव है। तथ्यों की खोज के बजाय उन प्रक्रियाओं की खोज करनी चाहिये जो सामाजिक तथ्यों को यथास्थिति प्रस्तुत करती हैं।

जनजातीय संगीत को समझने के लिये कलासमीक्षक को उन प्रक्रियाओं का ज्ञान होना चाहिये, जिनसे आदिम संगीत का जन्म हुआ है। यह भी जानना आवश्यक है कि कौन-से ऐसे सामाजिक सम्बन्ध हैं, जिनसे सांगीतिक रचना का जन्म हुआ है। सौन्दर्यपरक उपादानों की समग्रता क्या है?

सामान्यतौर पर उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता ही आदिम संगीत का यथार्थ है। अन्य उत्पादनों के समान यहाँ सौन्दर्य का उत्पादन भी मेहनत के हाथों होता है। यह सामाजिक उत्पादन का एक रूप है, जो सामाजिक सम्बन्धों के संश्लेषण से जन्म लेता है। अतएव जनजातियों में सौन्दर्य का उत्पादन एक विशेष घटना है।

अनेक लोगों की आज भी यह भ्रान्त धारण है कि संगीत का उत्पादन सामन्तवर्ग की सामाजिक परिस्थितियों से हुआ है। हम यह जानते हैं कि उत्पादन का तरीका निश्चित उपभोग के तरीके से जुड़ा होता है। इस रूप में व्यक्ति के लिये केवल वस्तु का ही उत्पादन नहीं होता, वस्तु के लिये व्यक्ति का भी उत्पादन होता है। ऐसी स्थिति में उत्पादन भी एक प्रकार का उपभोग है। जिन मानदण्डों पर किसी वस्तु का उत्पादन होता है, वही मूल्य है। संगीतज्ञ जिन मूल्यों का उत्पादन करता है, वे ही सौन्दर्यपरक मूल्य हैं।

इस प्रकार जनजातीय संगीत की उत्पत्ति उत्पादन से हुई है और उत्पादन से मूल्यों का जन्म हुआ है। मूल्य मानवीय रचना है और यही इतिहास का एक निश्चित विकास है। पूंजीवादी समीक्षकों की यह भ्रान्त धारणा है कि मूल्य अभाव से उत्पन्न होते हैं और उनका सम्बन्ध माँग और पूर्ति से है। ऐसी धारणा बना लेने पर सूर्य, चन्द्र या बादल के मूल्य को कैसे निर्धारित करेंगे? इसलिये केवल अभाव से ही मूल्य का निर्धारण नहीं होता, अपितु वह जीवन की आवश्यकताओं से ही उत्पन्न होता है। चूंकि प्रकृति परिश्रम के कारण ही मूल्य देती है, इसलिये सभी मूल्यों में परिश्रम अन्तर्निहित रहता है। तदनुसार हस्तान्तरित परिश्रम का ही सूक्ष्म रूप मूल्य है। यही कारण है कि मुरिया किसी वस्तु को इसलिये नहीं चाहते कि वह सुन्दर है, अपितु वह सुन्दर इसलिये है क्योंकि वे उसकी कामना करते हैं—

उड़ि गला अयँड़ी री उड़ि गला अयँडी।
ए घरो बाई पिधँलीसे, **बाजनी पैंड़ी**—
री बाजनी पैंड़ी ॥ 1 ॥
उड़ि गला चटिया री, उड़ि गला चटिया।
ए घरो बाई पिंघलीसे आचे, **बाजनी-झुटिया**—
री बाजनी झुटिया ॥ 2 ॥

अर्थात् कुकड़ा उड़ गया री, जलकुकड़ा उड़ गया।
इस घर की महिला ने बाजने वाली **पायजेब** पहन रखी है।। 1 ॥
उड़ गयी चिड़िया री उड़ गई चिड़िया।
इस घर की महिला ने पहनी है बजने वाली मुँदरी ।। 2 ॥

'बाजनी पैंड़ी' तथा **'बाजनी झुटिया'** चूंकि जनजातीय महिलाओं को काम्य है, अतएव सुन्दर हैं।

यह तथ्य कि वे किसी वस्तु को चाहते हैं, इस बात का सूचक है कि चाह वाली वस्तु हस्तान्तरित भी हो सकती है। 'बाजनी पैंड़ी' तथा 'बाजनी झुटिया' का हस्तान्तरण भी हो सकता है। जनजातियाँ ऐसी वस्तुओं की कामना ही नहीं करतीं, जो अप्राप्य हों। यदि कोई वस्तु अप्राप्य है तो वह है मूल्य।

आदिम संगीत का अर्थ है कि वर्गहीन समाज का सौन्दर्योत्पादन। 'वर्गहीन' से हमारा तात्पर्य ऐसे समाज से है, जिसमें कोई एक समाज दूसरे समाज के उत्पादन को हस्तान्तरित न करे। वर्ग से हमारा अभिप्राय शोषण के सामाजिक सम्बन्ध से है, न कि किसी सापेक्षिक स्थिति के उत्तराधारक्रम से।

आदिम संगीत के प्रति जानकारी हासिल करते हुए मूल प्रश्न यह होता है कि क्या अध्येय समाज में सौन्दर्य-दृष्टि विद्यमान है और यदि हाँ, तो उसकी सर्जना कैसे हुई है? विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जनजातियों

में सौन्दर्यपरक मूल्य इसलिए विद्यमान है; क्योंकि अन्य मूल्यों से उनका पार्थक्य है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्यपरक मूल्य मात्र उपयोगितावादी मूल्य नहीं हैं। ये सर्वथा भेदक तथा नवीन हैं। क्या वर्गहीन मुरियासमाज में इस प्रकार का अलगाव है ? क्या मुरिया जनजाति में अन्य कोटियों के समान सौन्दर्य की कोटि विद्यमान है ?

इस प्रश्न पर विचार करते हुये मैंने बहुत पहले (शुक्ल : 1982 : 257-266) उपयोगितावादी तथा सौन्दर्यवादी दृष्टि की चर्चा की थी। इस दृष्टि से स्त्री या पुरुष पर जिस क्षेत्र पर अधिकार होता है, उसी के उत्पादक अंश में सौन्दर्य खोजता है। एसी स्थिति में उपयोगिता वाली किसी भी वस्तु में सौन्दर्य अन्तर्निहित रहता है; यथा 'माचा' (मचान), 'घोटुल', 'धाना' (कोल्हू), 'मसनी' (चटाई), 'झापी', 'टाकरा' (टोकना), 'काँड' (तीर), 'कुस' (सव्वल) आदि। पाकोट (1971) ने भी उपयोगिता को सौन्दर्य का आधार माना था; किन्तु उत्पादन की कोटि को सौन्दर्य मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

मेरी दृष्टि में जनजातीय संगीत परिश्रम का ही दूसरा नाम है, जो सामयिक संसार से जुड़कर नए-नए यथार्थ की रचना करता है। दूसरी कलायें प्रकृति की सामग्री को केवल रूपान्तरित करती हैं, जब कि संगीत में वस्तुओं के प्रति जनजातियों की समझ ही रूपान्तरित हो जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आदिम संगीत का इतिहास शोषण के इतिहास से जुड़ा हुआ है। मुरिया-समाज में भी परिश्रम का विभाजन शासकवर्ग के हाथों में ही रहा है। यह योग्यता ऐतिहासिक दृष्टि से परिश्रम के वर्गीकरण के साथ प्रारम्भ हुई। मुरिया-क्षेत्र पर समय-समय पर सातवाहनों (72 ई० पू०-350 ई०), नलों (350 ई०-920 ई०), नागों (920 ई०-1210 ई०), हलबाओं (1210 ई०-1320 ई०), पूर्वी चालुक्यों (1320 ई०-1780 ई०), मुगलों (सत्रहवीं शताब्दी), मराठों (1780 ई०-1820 ई०) तथा अंग्रेजों (1820 ई०-1947) का आधिपत्य रहा है (शुक्ल : 1978)। यह शक्ति का प्रकटीकरण था, जहाँ कि कुछ सामन्तवादी या पूँजीवादी परिवारों ने मुरिया-समाज को स्वाधीन कर रखा था। इसी प्रक्रिया में विविध सामन्तों ने अलग-अलग कालखण्डों में मुरिया समाज को उत्पादक कार्य करने के लिये प्रेरित किया। यह उत्पादक कार्य विविध कालखण्डों में विशिष्ट प्रकृति का था। इस प्रकार मुरियासमाज में हमें आज जो संगीत सुनाई पड़ता है, वह विविध युगों के स्वत्व-हस्तान्तरण की क्रिया से भी सम्बन्ध है। द्वितीय अध्याय में जनजातीय वाद्यों के विकास के सन्दर्भ में यह कथन प्रमाणित होता है। 'घोटुल' की विविध उपाधियों से हमें मुरियासमाज पर वर्गबद्ध समाज के प्रभाव के विविध स्तर देखने को मिलते हैं।

जनजातियों का शोषण करने वाले ये सामन्त तथा पूँजीपति शेष शोषित जनजातियों का एक प्रतिशत ही थे, किन्तु चूँकि जनजातियाँ अपने सामाजिक सम्बन्धों को वस्तुपरक नहीं बना सकीं इसलिये इनके सौन्दर्यपरक मूल्यों का शोषक वर्ग के हाथों अवमूल्यन ही हुआ है। जब तक जनजातियाँ अपनी इच्छाएँ और प्राचीन मूल्य नहीं बदलतीं, अपनी उत्पादन की प्रक्रिया को वैज्ञानिक समझ नहीं देतीं, तब तक उसका संगीत भी पूँजीपति का खिलौना ही बना रहेगा। मात्र प्रदर्शन की वस्तु बन जाएगा।

प्रदर्शनजन्य उपभोग की विचारधारा आर्थिक मानदण्डों से सम्बद्ध है। इसीलिये आज मुरिया जनजाति के कुछ समूह अपनी धनदौलत के प्रदर्शन से खुशी का अनुभव करने लगे हैं। किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके उत्पादन और उपभोग पर निर्भर करती है। प्रदर्शनजन्य उपभोग से जनजाति-सदस्यों पर यह प्रभाव पड़ा है कि वह अपने को दूसरे वर्ग से जोड़ने लगा है; यथा राजकीय सम्बन्धों से जुड़ने के कारण यह समूह अब अपने को 'राजमुरिया' भी कहता है। यह भी एक प्रकार का दिखावा है; क्योंकि वर्गबद्ध समाज से जुड़ने वाला 'राजमुरिया' ही अब अपने ही समुदाय के परिश्रम को स्वहस्तान्तरित करने लगा है। इसी प्रक्रिया से अब कोण्डागाँव तथा राजमार्ग से संलग्न

क्षेत्र का मुरियासंगीत उच्चसमाज के संगीत का अनुकरण करने लगा है। उच्च समाज या तथाकथित सभ्य समाज मुरिया संगीत को मात्र कामपूर्ति का साधन मानने लगा है। उसने अपने शास्त्रीय संगीत में जनजातीय संगीत के अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं की है।

पूंजीवादी समाज में काम्य वस्तुएं ही सुन्दर मानी जाती हैं। यहाँ सुन्दरता ऐसी संवेदनशीलता है, जिसमें अपनी इच्छा से व्यक्तिगत चेतना जुड़ जाती है।

वर्गबद्ध समाज में इच्छाएँ सम्बन्धों को बदलने के लिये होती हैं और वे सदैव ऊर्ध्वमुखी बनी रहती है। पूंजीवादी समाज की अनुकृति ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है। जनजातियाँ इच्छा को किस प्रकार सौन्दर्य में बदल लेती हैं, यह परिमापन तो कठिन है; किन्तु ऐसा आभास तो होता ही है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि मुरिया की सामाजिक संरचना उसकी संस्कृति को आरेखित करती है और मुरियाजन की चेतना संस्कृति के मानदण्डों से आकार ग्रहण करती है। सामाजिक संरचना के नियमन का प्रासंगिक अर्थ है वर्ग। संस्कृति का तात्पर्य है प्रतीकों का ऐसा समुच्चय जो वर्गगत गत्यात्मकता को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में इच्छाशक्ति व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक मानदण्डों पर सौन्दर्यपरक मूल्यों की रचना करती है।

आज मुरिया जनजाति की युवतियाँ "लाल" चेहरा (साहेब लाले लाल) पसन्द करती हैं, तथा युवकों को 'गोरा' चेहरा पसन्द है—

कारी आमा लूरे, पँडरी आमा लूरे।
महांदेव चो परताप ने, पँडरी बायले मिरे—
हो पँडरी बायले मिरे ।। छेर-छेर ।।
(द्र० छेरता नृत्य)

किन्तु डेढ़ सौ वर्ष पहले सामन्ती युग में यह स्थिति नहीं थी। उस युग में युवकों का 'लाल चेहरा' या युवतियों का 'गोरा चेहरा' न तो सुन्दर माना जाता था और न ही काम्य था। यह परिवर्त्तन परिश्रम को बाह्यान्तरित करने के **बजाय** अभ्यान्तरित करने के कारण हुआ। आज 'लाल' या 'गोरे' चेहरे का अर्थ है कि बस्तर का आदिम जन भी अब उत्पादक कार्य नहीं करना चाहता। आरक्षण की नीति ने उसकी उत्पादक मनोवृति पर भयंकर आघात किया है।

जहाँ परिश्रम का मूल्य **गायब** होने लगता है, वहाँ शारीरिक अंगों में पुष्पों और फलों का सादृश्य आरोपित होने लगता है—

रे रे लोयो रेला रेला रे रेला रे रेला।
रे रे लोयो रेला रेला, रे रेला रे रेला ।।
नूनीन मोहा [नूनीन सोभता नूनीना रोय रोय नूनीन।
तिरकर काया नूनीन न तामा, नूनीना रोय रोय नूनीन ।।1।
नूनिन तलाय नूनिन सोभता, नूनिना रोय रोय नूनिन।
केडीर गाभो नूनीना मेंदुल, नूनीना रोय रोय नूनिन ।।2।।
नूनिन दुदो नूनीन सोभता, नूनीया रोय रोय नूनिन।
इड़का काया नूनीन डण्डा, नूनीया रोय रोय नूनिन ।।3।।
नूनीन डण्डा नूनीय सोभता, नूनीना रोय रोय नूनिन।
रे रे लोयो रेला रेला रे रेला रेला रे रेला ।।

हिन्दी-अनुवाद

युवती का मुख, सुन्दर है
इसली के कच्चे फल-सा युवती का चिकना चेहरा ।।1।।
युवती का शिर, सुन्दर है
केले के तने सा युवती का शरीर शोभन है ।।2।।
युवती के स्तन, शोभन हैं
ककड़ी के कच्चे फल-सी युवती की भुजा ।।3।।
युवती की भुजा, युवती को बहुत शोभा देती है ।।4।।

अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँ धन का स्रोत है, सौन्दर्य भी वहीं जन्म लेता है। आज मुरियासमाज का युवावर्ग अपने को पश्चिमी प्रभाव में ढालकर उसी पूँजीवादी-संस्कृति और मूल्यों को अपना रहा है, जिसमें परिश्रम करना अच्छा नहीं माना जाता।

मुरिया-समाज में आज चाय, सिगरेट, विदेशी मदिरा तथा प्लास्टिक के अनेक उपकरण स्वीकृत हो रहे हैं। इन वस्तुओं में सौन्दर्य का अर्थ ही निषेधात्मक है। मुरियाजन विदेशी वस्तुओं को रखकर अपने को विदेशी जैसा मानने का अहंकार पाल रहे हैं और उनको संस्कृति में ईसाईकरण के माध्यम से विदेशी मूल्य प्रवेश कर रहे हैं। वे भ्रम से इन्हीं विदेशी वस्तुओं को सौन्दर्य मान रहे हैं। इन वस्तुओं के प्रति इनकी कामना उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

उपर्युक्त विवेचन से मेरा यह अभिप्राय है कि आज आदिम सांगीतिक संस्कृति का प्रभाव समाप्त हो रहा है और उस पर पूँजीवादी समाज की सांगीतिक संस्कृति का मुलम्मा चढ़ता जा रहा है। अब सौन्दर्यपरक मूल्यों के उत्पादन पर जनजातियों का नियंत्रण समाप्त हो रहा है और उनके प्राचीन मूल्य उन्हीं के लिये दीवार बन कर खड़े हो रहे हैं। यही कारण है कि मुरिया 'घोटुल' जो कभी संगीत के केन्द्र थे, उनको समाप्त करने के लिये जब मुरिया वृद्धों ने प्रस्ताव रखा तो मुरिया युवकों ने पूँजीवादी मूल्यों से प्रभावित होकर तथा 'घोटुल' को कामपूर्ति का केन्द्र मानकर वृद्धों के प्रस्ताव का विरोध किया (चालका परगने के भुमकाल का दि० 2-8-68 का प्रस्ताव)।

मुरिया युवक पूँजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के कारण अब नए मूल्यों से परिचालित हो रहे हैं। इनका उत्पादन अब मानवीय आवश्यकताओं के साथ जुड़ कर नयी आवश्यकताओं को जन्म दे रहा है। अब पूँजीवादी समाज में जनजातियों की सौन्दर्यपरक आवश्यकताएँ जनजातियों के नियंत्रण से बाहर हो रही हैं और यही कारण है कि प्राचीन वाद्यों का स्थान अब सारंगी, सितार-जैसे वाद्य ले रहे हैं। अनेक मुरियाजन यह नहीं जानते कि वे किसी वस्तु को क्यों पसन्द करते हैं ! किस कारण चाहते हैं ? उनके जीवन का एक पक्ष इस ऊहापोह में अब पुनः रहस्यात्मक होता जा रहा है। उनकी इच्छाएँ भी नई तरह की हो गयी हैं। अब सांगीतिक प्रदर्शन के माध्यम से वे प्राप्त धन का सामूहिक वितरण नहीं करते; अपितु धन के व्यक्तिगत संचय की उनकी मानसिकता बनती जा रही है।

पूँजीवादी सभ्यता ने मुरिया जनजाति की शिक्षा और वृत्ति को जकड़ लिया है। अब वे आर्थिक तौर पर पहले से भी अधिक शोषित हो रहे हैं। उनका जीवन बहुत ही अशालीन, क्रूर और संकुचित होता जा रहा है। इस व्यवस्था में नए-नए आश्वासनों के माध्यम से शासकवर्ग उन्हें ठग रहा है। दृश्यतौर पर उनका संगीत भी अरुचिकर हो रहा है। अब इनके संगीत से शासकीय कर्मचारियों का मनोरंजन होता है। अब इनका संगीत समय और शक्ति की बर्बादी बन कर रह गया है। दैनिक जीवन में छलावा आ रहा है। जो ये दीखते हैं, वे नहीं हैं। अब इन्होंने उन्हीं मुखौटों को लगा लिया है, जो नृत्य में ये अपने 'नकटा' या 'नकटी' के लगाते थे। सभ्यजगत् के सम्पर्क से अब

छायाचित्र क्रमांक–13. झोरिया-मुरिया-नृत्य

संगीत का परिश्रम के साथ नाता नहीं रहा। आज इनका संगीत अन्तिम साँसें ले रहा है। संगीत संस्कृति का सूक्ष्म ब्रह्माण्ड होता है और संगीत से कट जाने पर ये अपनी आदिम संस्कृति से कट रहे हैं। यही भवितव्य है। विकास का क्रम है।

8.4. आदिम संगीत की आगम संगीत में प्रतिष्ठा

'आदिवासियों की तांत्रिक साधना' नामक पाण्डुलिपि में मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि बस्तर की जनजातियों के जीवन का प्रत्येक पक्ष आज भी तंत्र से अनुप्राणित है और बस्तर में तंत्र के विकास का हमें विस्तृत इतिहास 920 ई० (नागयुग) से मिलता है। इस रूप में उनके संगीत से तंत्र कैसे विलग हो सकता है! जनजातियों के संगीत और आगम संगीत में अधोलिखित रूप से आश्चर्यजनक समानताएँ मिलती हैं—

(क) आदिम संगीत के जनक 'लिंगो' तथा आगम संगीत के जनक शिव एक ही अभिधान हैं।

(ख) आदिम संगीत के 'लिंगो' 18 वाद्य बजाते हैं (2.1), नृत्य करते हैं (4.4.1), आगम संगीत के शिव चौदह बार बजाते हैं, नृत्य करते हैं।

(ग) आदिम संगीत 'लिंगों' की स्तुतियों से भरा हुआ है (4. 4. 1) आगम की परम्परा में लिखित गान्धर्व ग्रन्थ में शिव-पार्वती के सम्वाद थे। आगम संगीत में भी शिव की अनेकशः स्तुति है।

(घ) आगम संगीत के अनेक वाद्य—सारंगी, किन्नरा, डमरुक, मृदंग, घण्टिका, सुषिर, श्रृंगी, त्रोटक, मधुकरी, तथा शंख—आगम संगीत में यथावत् मिलते हैं।

(ङ) आदिम संगीत में 'लिंगों' के अपर पर्याय 'भीमुल' मृदंगगुरु है, आगम संगीत में शिव के अपर पर्याय 'नन्दिकेश्वर' मृदंग-गुरु हैं।

(च) आदिम सुषिर वाद्य 'उलुड़' चार छिद्रों की होती है, आगम संगीत में प्रचलित 'मुरली' भी चार छिद्रों की होती थी।

(छ) आगम संगीत में बासुरी को 'सुषिर' भी कहा गया है, आदिम संगीत में 'सुलुड़' या 'उलुड़' उसी का अपभ्रंश है।

(ज) आदिम संगीत में (दे० 6.2) वाद्यों के 'बोलों' (पाटाक्षरों) के नाम देवताओं के नाम पर हैं, आगम संगीत में भी यही परम्परा थी।

(झ) आदिम संगीत में वाद्यों के बोल को 'पाड़' कहा जाता है, जो आगम संगीत के 'पाट' का ही क्षेत्रीय उच्चारण है।

(ञ) आदिम गीतों की टेक या तेनाक्षर में तांत्रिक महाविद्याओं के मंत्रों का ही उच्चारण होता है। विशेषकर रेलाक्षर या भंगाराम-गीत के अक्षर (दे० 3. 5) एवं तारा नामक महाविद्या के मंत्र में ध्वनिसाम्य मिलता है।

(ट) आदिम 'जात्रा' नृत्यों (4.2) में वैदिक युग से पौराणिक युग तक के सूत्र मिलते हैं।

(ठ) आदिम 'हुलकी' नृत्य (4.3.2) तथा पौराणिक 'हल्लीसक'–नृत्य में पर्याप्त समानता है।

(ड) आदिम 'छेरता' नृत्य (4.4.4) पौराणिक या आगमिक 'शरदोत्सव' है।

(ढ) आदिम 'तारा' नृत्य (4.4.5) आगम की दस महाविद्याओं में से एक विद्या 'तारा' का ही प्रतीकात्मक नृत्य है।

(ण) मुरिया तथा आगम संगीत के तेनाक्षर समान हैं।

(त) आगम के 'ओम्' अक्षर का प्रयोग मुरिया और माड़िया में उसी सन्दर्भ में होता है।

(थ) आगम संगीत में 'पिण्डीबद्धनृत्य' का ही माहात्म्य है तथा आदिम संगीत के सभी नृत्य 'पिण्डीबद्ध' ही होते हैं।

(द) 'आदिवासियों की तांत्रिक साधना' नामक पाण्डुलिपि के अन्तर्गत हमने साक्ष्यों के आधार पर यह भी विचार किया है कि तन्त्रोक्त साधना, मकार-तत्व, सप्त आचार, भावत्रय, आदि का विकास आदिम जीवन में तो हुआ ही है, बस्तर के चक्रकोट, दन्तेश्वरी, शाक्तदेवियाँ, दस महाविद्या, सप्तमातृका, कौल-कापालिक-संस्कृति तथा नरबलि ने ऐतिहासिक तौर पर जनजातियों में तंत्रसाधना को प्रबल बनाया है।

ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि आदिम तंत्र का ही विकास आगम-तंत्र में हुआ होगा, जिससे आदिम संगीत को आगम सगीत के रूप में पुराणकारों ने प्रतिष्ठा दी। आगम संगीत के समान आदिम संगीत भी सामूहिक सगीत है। सामूहिक परिश्रम के रूप में ही दोनों में लोग भाग लेते थे। इसमें शास्त्रीय संगीत के समान श्रमविभाजन या वर्गविभाजन नहीं है और न कभी आगम संगीत में था। आगम या आदिम संगीत में आभिचारिक क्रिया का सर्वाधिक महत्व है और उसका फल सबको समान रूप से मिलता है।

8.4. सांगीतिक संस्कृति

वस्तर की मुरिया-माड़िया जनजातियाँ प्रकृति के पर्यावरण में निवास करती हैं। इनके जीवननिर्वाह का प्रमुख साधन कृषि है। कृषि के अतिरिक्त वन्य उत्पादन से इनकी जीविका चलती है। जीवन-यापन का तीसरा साधन आखेट है। ये विविध प्रकार के जालों का उपयोग करते हैं। वन्य पशुओं के लिए बागुर, काँदा, तथा बेवर प्रमुख हैं, जब कि मछली पकड़ने के लिए ये पेलना, ताँगड़ी, थापा, दाँदर, बोड़ना, सोड़ेया, त्रिसर, गरी तथा झाला आदि जालों का प्रयोग करते हैं। इनके यहाँ चीक, खुजी, तथा जोहरा जैसे पक्षियों को पकड़ने के लिए विविध फन्दे हैं।

उत्पादन में नातेदारी तथा पारिवारिक सम्बन्धों का इसलिए गौण स्थान है क्योंकि यहाँ कार्य का विभाजन लिंग और अवस्था के अनुसार है। जब हम इनके आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की गहराई के साथ परीक्षा करते हैं, तो हमें उत्पादन के तरीकों में तीन आन्तरिक प्रतिबन्ध मिलते हैं—(क) कृषिपरक प्रतिबन्ध जो समूह के द्वारा परिचालित होता है, (ख) आखेट पर आधारित प्रतिबन्ध जिसमें वन्योपज का संग्रह भी सम्मिलित है। (ग) सामुदायिक प्रतिबन्ध जो उत्पादन की प्रक्रिया में लिंग तथा आयुवर्ग के अनुसार होता है।

जनजातियों का सामाजिक जीवन उत्पादन के उपर्युक्त तरीको तथा संगठन से सम्पृक्त है। इनकी अर्थव्यवस्था आज भी आदिम प्रकृति की है, जिसमें आखेट, मत्स्यपालन, पशुचारण तथा कृषि की आदिम स्थितियाँ मिलती हैं। यहाँ के आदिम जनों में आज भी भूमि तथा श्रम पर लोगों का समान अधिकार है तथा यह विविध गोत्रवर्गों पर आधारित है।

इनकी गोत्रव्यवस्था 'लैंगिक' तथा दाम्पत्यमूलक निषेधों को मानकर चलती है, जिससे गोत्रसम्बन्धों की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। कतिपय स्त्रियों (माता, बहन, पुत्री आदि) के प्रति अपने अधिकारों का परित्याग कर लोग इन्हें दूसरों के लिए प्राप्य बनाते हैं और इस प्रकार दूसरी स्त्रियों पर इनका अधिकार हो जाता है।

ऐसी स्थिति में यहाँ सगोत्र विवाह वर्जित हो जाता है और उसके लिए सामाजिक संविधान बन गया है। इसके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विविध समूहों के बीच आदान-प्रदान की व्यवस्था लागू हुई है। यहाँ प्रचलित विवाह के विविध प्रकारों—मांगनी, माहला, बिहा, टीका, पैसामुँडी—में दाम्पत्य वर्जना ही मिलती है; क्योंकि यहाँ विवाह प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप में नहीं होता, अपितु वह सामाजिक सम्बन्ध के रूप में होता है, जिससे विविध समूह आपस में जुड़ जाते हैं। समुदाय की जीवनरक्षा के लिए यह समूहबद्धता अनिवार्य है। यही कारण है कि यहाँ विशुद्ध सगोत्र सम्बन्ध नहीं हो सकते। नातेदारी में सगोत्रता तथा सहगण समझौता आवश्यक है। इसलिए सगोत्र-वर्जना और असगोत्र-सम्बन्ध की व्याख्या शरीरविज्ञान की दृष्टि से करने के बजाय सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से करना चाहिए। आदिम जनजातियों में नारी की निर्णायक भूमिका होती है, जिसे वह अपने उत्पादक तथा आर्थिक कारणों से प्राप्त करती है। इसी महत्व के कारण स्त्री का समाज पर वांछित नियन्त्रण रहता है; किन्तु उसके इस नियन्त्रण का अभ्यास पुरुषों पर ही अवलम्बित रहता है। तदनुसार बस्तर की जनजातियों में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध असमान और अपारस्परिक होता है। पारस्परिकता केवल पुरुषों के बीच होती है। कभी (1320 ई० तक) मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत यह अधिकार स्त्री के भाई तथा मामा का पश्चापसरण करता था जबकि पितृसत्तात्मक समाज में आज यह पिता और पति का अनुगमन करता है। इस रूप में दोनों ही व्यवस्थाएँ सरल नहीं हैं। दोनों में एक दूसरे की प्रतिच्छवि विद्यमान है। पितृसत्तात्मक समाज में पत्नियाँ ही गोत्रों को जन्म देती हैं, जब कि मातृ-सत्तात्मक समाज में बहनें वह कार्य करती रही हैं। प्रश्न यह है कि क्या पत्नी पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय अथवा वह नियंत्रण उसकी बहन पर छोड़ दिया जाय? मातृसत्तात्मक स्थिति तब भी नहीं रही होगी, जब मातृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत उन्नत थी, इस तथ्य के बावजूद कि पति का बच्चों पर कोई अधिकार नहीं होता। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि यह स्थिति इसलिए आई कि आदिम युग में पुरुष की पहचान सुनिश्चित नहीं थी। यह इसलिए थी कि नातेदारी मातृसत्तात्मक होती है तथा तब पिता की पहचान का वैसा सामाजिक महत्व नहीं होता, जैसा आज पितृसत्तात्मक समाज में होता है।

मुरिया-माड़िया के नातेदारी के शब्दों तथा विवाह के बीच सहसम्बन्ध का सत्यापन इसलिए नहीं किया जा सकता; क्योंकि यहाँ नातेदारी के शब्द केवल वैवाहिक नियमों को ही नहीं बताते, अपितु वे निवास, सम्पत्ति तथा उत्तराधार के भी आख्यापक होते हैं, जिसके अन्तर्गत समूचे सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध भी आ जाते हैं।

ऐसा अनुमान है कि बस्तर की जनजातियों की अर्थव्यवस्था को बताने के लिए ग्रिग्सन (1938) तथा एल्विन (1947) द्वारा सुझाई गयी 'जीवननिर्वाह की अर्थव्यवस्था' या 'आत्मवृत्तिव्यवस्था' जैसी विचारधारा इसलिए त्रुटि-पूर्ण है क्योंकि इससे वह यथार्थ छिप जाता है कि अर्थव्यवस्था जीवननिर्वाह की वस्तुओं के उत्पादन तक सीमित नहीं रहती, अपितु 'अतिरिक्त' वस्तुओं का भी उत्पादन करती है, जो सामाजिक संरचना के प्रकार्य के लिए पूर्व निर्दिष्ट होती है। असगोत्र विवाह से समुदायों के बीच विधि या निषेधपरक सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्ध के साथ समाज में किसी मूल्यवान् वस्तु का प्रचलन होता है, जिसका सीमित कार्य होता है। उदाहरण के लिए वधूमूल्य के रूप में अबुझमाड़िया में कभी सांगीतिक वाद्य 'चिटकुल' देने का प्रचलन था (द्र० 2.4.30)। बस्तर का आदि-वासी केवल 'सलफी' के सहारे जीवित नहीं रहता और न ही उसका पूरा जीवन प्रकृति के संघर्ष में ही बीतता है। मेरे अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्नत कृषिप्रधान समुदायों की तुलना में उनके पास अवकाश का समय अधिक है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कृषि के उन्नत तरीकों और बैलाडीला लौह अयस्क के उत्खनन के कारण बस्तर का आदिम समुदाय निर्दय या उपान्त क्षेत्रों की ओर भाग रहा है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

'आदिवासियों के पास 'अतिरिक्त' समय होने के बावजूद उनकी उत्पादक शक्तियों का विशेष विकास नहीं हो पाया। इसका मूल कारण यह है कि जीवननिर्वाह की विविध वस्तुएँ यहाँ सामाजिक प्रतिद्वन्द्विता में परोक्ष रूप से आ रही हैं, जिससे इनकी आवश्यकता की पूर्ति तो हुई है, किन्तु उत्पादन नहीं बढ़ा है। यदा-कदा उत्पादक शक्तियों के विकास से यहाँ अनुत्पादक क्रियाएँ ही आई हैं। जैसे ही सांगीतिक वाद्यों में इन्होंने धातु का प्रयोग सीखा, इनके पूर्व के उत्पादक वाद्य अनुत्पादक हो गए। इसी प्रकार के अन्य कारणों से इनका लगभग चालीस प्रतिशत परिश्रम बेकार चला गया। इसी प्रकार 'ट्रेक्टर' के आने के साथ अनेक आदिवासी अनुत्पादक हो गए और अपने खाली समय को बिताने के लिए चूँकि इनके पास कोई दूसरा साधन नहीं था, इसलिए ये मदिरा के नशे में चूर रहने लगे। फुरसत के क्षणों ने इन्हें पहले से अधिक आभिचारिक बना दिया। इन सबसे पारम्परिक सामाजिक संरचना तो नहीं बिगड़ी, किन्तु इससे समूह के बीच के लोगों के सम्बन्धों में ही अन्तर आ गया। उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ सामाजिक असमानता में भी विकास होता है, जो कालांतर में परोक्षरूप से पुनः उत्पादक शक्तियों को जन्म देती है। इस आधार पर यदा-कदा सामाजिक स्तर भी बन जाते हैं; उदाहरणार्थ बस्तर के लोहार माड़िया या मुरियासमूह के ही हैं, किन्तु उत्पादन के नए तरीकों के कारण वे अपने ही समूह से पृथक् हो गए। इसी प्रकार माड़िया तथा मुरिया-क्षेत्र में परगने के माझी, चालकी, एवं पाइक आदि के उत्तराधारक्रम बने, तो इनके साथ भी अनुत्पादक शक्तियाँ जुड़ीं और ये विविध विधि-निषेधों के कर्त्ता-धर्त्ता बन गए।

आदिवासी समाज में अर्थव्यवस्था और नातेदारी को दो स्वतंत्र संरचनाओं के रूप में देखने की भूल मानव-विज्ञानी आज भी कर रहे हैं। अर्थशास्त्री उत्पादक शक्तियों (आखेट, कृषि, पशुपालन, वन्योपज-संग्रह) को तो सरलता से पहचान लेते हैं, किन्तु वे उत्पादन के स्वायत्त सम्बन्धों की पृथक् पहचान नहीं बना पाते। इससे व्यक्ति का भूमि और उत्पादन पर अधिकार होने के साथ यह भी ज्ञात होता कि उसकी लेनदारी, देनदारी या सहयोग किस प्रकार का है। नातेदारी भी धार्मिक और राजनैतिक सम्बन्धों की तरह आधिकारिक होती है। इस प्रकार नातेदारी उत्पादन के प्रकार्य से जुड़ जाती है। इस रूप में नातेदारी 'असंरचना' के साथ-साथ 'अतिसंरचना' भी है।

सामाजिक संरचना (नातेदारी, राजनीति, धर्म तथा अर्थ आदि) के विकास की वैज्ञानिक व्याख्या एक प्रकार से प्रकार्य तथा रूप का अध्ययन है। प्रत्येक सामाजिक संरचना का दूसरी सामाजिक संरचना के साथ जो सम्बन्ध होता है, वही पूर्ण सामाजिक संरचना है। ऐसी स्थिति में आदिवासी समाज के विकास के सिद्धान्त को प्रस्तुत करने के लिए हमें नातेदारी, राजनीति, तथा मूल्यों की वैज्ञानिक व्याख्या करनी होगी। हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि नातेदारी अर्थशास्त्र है एवं धर्म भी उत्पादकता के सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है।

बस्तर के आदिम मानव ने प्रकृति पर सादृश्य का आरोप करते हुए धर्म का अविष्कार किया है। उसने प्रकृति को मानवीय सृष्टि के अनुरूप चित्रित किया है। यह सादृश्य या तुल्यरूप प्रकृति की अदृश्य शक्तियों व यथार्थ का वस्तु जगत् के रूप में आरेखण है। तदनुसार प्राकृतिक वस्तुओं में चेतना तथा इच्छाशक्ति का आरोपण हुआ है, जो मानव के साथ संवादात्मक स्थिति में रहती हैं। दृश्य रूप न होने के कारण प्रकृति में चेतना का दुहरा आरोप होता है, जिससे प्रकृति रहस्यात्मक शक्तियों से जुड़ जाती है। मानवीय विचार से उत्पन्न स्वप्नों तथा अस्पष्ट आदर्शों के कारण यहाँ एक काल्पनिक सृष्टि हुई है। यह एक ऐसी काल्पनिक सृष्टि है, जो आदिम मानव की क्रिया और चेतना को स्वाधीन कर लेती है।

इस प्रकार आदिम धर्म आदिम मानव के मन में उन बाहरी शक्तियों की काल्पनिक छाया है, जो उनके दैनिक जीवन को नियंत्रित करती है। यह एक ऐसी परछाईं है, जिसमें लौकिक शक्तियाँ पारलौकिक शक्तियों का रूप ग्रहण

कर लेती हैं। इतिहास के प्रारम्भ से ही प्रकृति आदिम मानव पर अध्यारोपित हो गई थी और विकास के क्रम में वह विविध मानवीकरणों से जुड़ गई। तुलनात्मक मिथकविज्ञान ने वैदिक काल से ही इसकी उत्पत्ति को खोजा है।

आदिवासी संगीत में निहित धार्मिक चित्रण का काल्पनिक स्वरूप द्विविध है—

(क) स्वतःस्फूर्ति के कारण आदिम चिन्तन मानवीयेतर जगत् को प्रस्तुत करता है। वह प्रकृति के भौतिक यथार्थ को मानवजगत् मान लेता है। इसलिए सृष्टि के प्रति काल्पनिक चित्रों को ही उभारता है।

(ख) स्वतःस्फूर्ति के कारण आदिम चिन्तन से गोलमाल आदर्शों का जन्म होता है, जिनकी यथार्थ स्थिति नहीं होती। वे केवल विचारों तक ही काल्पनिक रूप में रहते हैं, जिनमें मिथ्या चेतना के दर्शन होते हैं। यह चेतना अन्त में अपने ही चित्र से विलग हो जाती है; क्योंकि तब अपना ही अस्तित्व मिथ्या लगने लगता है।

इस प्रकार स्वतःस्फूर्ति तथा अवचेतना आदि की प्रक्रिया से आदिम चिन्तन का स्वरूप ही बदल गया है—

(क) वह वस्तुओं की सृष्टि को मानवसृष्टि मानने लगा है।

(ख) व्यक्तिनिष्ठ मिथकीय और धार्मिक कल्पनाओं को वह वस्तुनिष्ठ मानने लगा है, जो आदिम जन के चिन्तन से स्वाधीन हो गई हैं।

प्रकृति के रहस्यात्मक कारणों और अदृश्य शक्तियों की छवि को चित्रित करने के लिए जनजातियाँ मिथकीय और धार्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करती हुई उनमें मानव के तुल्यरूप अस्तित्व का स्फुरण करती हैं, जो कि स्वाधीन होता है। इस प्रकार आदिम चिन्तन वस्तुओं के काल्पनिक रूपों में सम्बन्धों की खोज करता है तथा उनमें भी मानव के तुल्यरूप नातेदारी स्थापित कर लेता है; उदाहरणार्थ अबुझमाड़िया के ककसाड़-गीतों में देवी-देवताओं में इसी प्रकार रिश्तनाते खोजे गए हैं—(द्र० शुक्ल : 1982 : 63-91)। इस प्रकार आदिम जन जब अदृश्य शक्तियों का मानवीकरण कर लेता है, तो वे ही मिथक और धर्म की काल्पनिक चित्र बन जाती हैं एवं प्रकृति दो रूपों में विभाजित हो जाती है—

(क) संवेदनशील प्रकृति, और

(ख) ऊर्ध्व संवेदनशील प्रकृति।

इस रूप में 'लिंगो' शारीरिक भी है तथा देवता भी। इसी प्रकार 'भीमुल' नाक्षत्रिक होने के साथ दैविक है। जलकन्याएँ मानवी होने के साथ देवियाँ हैं।

प्रकृति के इस तुल्यरूप और काल्पनिक चित्रण की फलश्रुति भी दुहरी है। प्रथमतः यथार्थ की व्याख्या और ज्ञान के लिए धर्म (जैसे विज्ञान आया) का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें वस्तुओं के क्रम के निर्धारक कारण और कार्य की व्याख्या हुई। द्वितीयतः धर्म इन कारणों को मानवीय आकृतियों में चित्रित करता है, जिनमें आदिम मानव के समान चेतना तथा उच्च शक्तियाँ निहित रहती हैं। इस रूप में वह क्रिया का साधन बनकर इन आदर्श चरित्रों को प्रभावित करता है, जो मानवचरित्रों के तुल्यरूप हैं और यही कारण है कि ये उसकी प्रार्थना को सुनते हैं, गुनते हैं और समझते हैं और आदिम मानव के हित में कार्य करते हैं। इस प्रकार जनजातियों का कोई भी धार्मिक चित्र काल्पनिक चित्र से अलग नहीं है। चूंकि अदृश्य रूपों का संसार चेतना, इच्छाशक्ति, तथा काल्पनिक यथार्थों से भरपूर होता है और आदिम जन के ही समतुल्य होता है, इसलिए आदिम मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि वह सृष्टि को नियंत्रित करने वाले इन काल्पनिक चरित्रों की चेतना या इच्छाशक्ति को (गायता या सिरहा आदि के रूप में)

प्रभावित कर सकता है। धार्मिक चित्र की विषयवस्तु से ही धार्मिक मान्यताएँ बनती हैं। इससे धर्म चित्रण की एक व्यवस्था ही नहीं बनता, अपितु वह प्रयोगधर्मी भी हो जाता है। इस कारण वह प्रभावोत्पादक भी बन जाता है।

इस प्रकार उत्पत्ति और विषय की दृष्टि से आदिम धर्म सृष्टि का स्वतःस्फूर्त और भ्रान्त चित्रण है, किन्तु यह चित्रण कुछ इस प्रकार का होता है कि इसमें ढेर सारी आनुष्ठानिक क्रियाएँ जुड़ जाती हैं। व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए हम यह कह सकते हैं कि धर्म आदिम संसार पर केवल प्रभाव की ही सृष्टि नहीं करता, वह व्यक्ति पर भी प्रभाव डालता है; उदाहरण के लिए कोई भी सांगीतिक अनुष्ठान या अभिचार किसी-न-किसी वर्जना के साथ होता है। सांगीतिक यात्रा में जाने वाले नर्त्तकदल को विविध विधिनिषेध स्वीकार करने पड़ते हैं और कभी-कभी पूरा समाज किसी 'टैबू' को मानने लगता है। आदिम संसार को धार्मिक रूप से नियंत्रित करने का भाव है—उन रहस्यात्मक शक्तियों को नियंत्रित करना जो आदिम संसार की नियामक हैं। इनसे आदिम मानव का अपने आप नियमन हो जाता है और वह अदृश्य शक्तियों का नियंत्रण करने लगता है एवं उनसे अपना संवाद स्थापित कर लेता है। उन तक अपनी बातों को पहुँचा देता है। भोजन तथा 'सेक्स' आदि की वर्जनाओं के साथ ही आभिचारिक शक्तियाँ सन्तुष्ट हो जाती हैं और वह आदिम जन का आभार मान कर उसे अनुग्रहीत करती है। इस रूप में नृत्य में मिलने वाले 'टैबू', वर्जना, एवं संयम का अर्थ **शक्ति का नियन्त्रण** न होकर **शक्ति का संचयन** है।

इस प्रकार आदिवासी धर्म आदिम जन का प्रकृति के साथ एक ऐसा रिश्ता है, जो नातेदारी के विकास के साथ विकसित होता है। प्रारम्भिक स्थिति में इन जनजातियों में यदि कोई असमानता थी, तो वह पुरुष-स्त्री तथा विविध आयुवर्गों के बीच थी। समाज जैसे-जैसे गायता, सिरहा, गुनिया, तथा पाँजियार (द्र० नवम अध्याय) जैसे धर्माधिकारियों के वश में आया, सामाजिक शक्तियों ने जैसे ही रूप और वर्ग को स्वीकारा, वैसे ही विविध जाति-वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ और आदिम समाज का अपने ही ऊपर नियंत्रण न रहा। तब यथार्थ विचारों का स्थान अतिप्राकृतिक शक्तियों ने ले लिया। कालांतर में धार्मिक विचारों की एक स्थिति वह आई, जिसमें सामाजिक सम्बन्धों का दैवीकरण हुआ तथा आदिम समुदाय पर शासन करने वाले लोग अपने ऊपर देवत्व का गुण आरोपित करने लगे (द्र० भंजदेव : 1962)। उन्हीं के माध्यम से आभिचारिक क्रियाओं का विकास हुआ। 1213 ई० में मधुरान्तकदेव नामक नागराजा इसी प्रकार का एक अभिचारी था। प्रवीरचन्द्रभंजदेव (19 5) भी उसी परम्परा में थे।

बस्तर की जनजातियों की संगीतमूलक आभिचारिक क्रियाओं में प्रमुखतः तीन तत्व मिलते हैं—(क) आभिचारिक भाषा, (ख) आभिचारिक वस्तु, तथा (ग) आभिचारिक संकेत।

सांस्कारिक भाषा के अन्तर्गत आभिचारिक मन्त्र होते हैं, जो गुप्त नामों के आह्वान के साथ आदेश या इच्छा को व्यक्त करते हैं; उदाहरण के लिए 'माँदरी' ढोल के लिए 'काठा' तैयार करने के लिए वृक्ष से निवेदन (2. 3. 23), 'दन्तेश्वरी' व 'डूमादेव' से निवेदन (तदेव), आदि; तथा गोचर्म के शोधन के लिए 'जलकन्यायों' से निवेदन (तदेव) एवं ढोल कसते समय 'भीमुल' से निवेदन के प्रसंगों में सीधे देवता को लक्ष्य कर मंत्रमय निवेदन होते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत विविध नृत्यों को सम्पादित करने से पूर्व विविध मंत्रों को प्रस्तुत किया गया है, जो लिंगो, भीमुल, ग्रामदेवी, दन्तेश्वरी, आदि को लक्ष्य करके होते हैं।

इन मंत्रों का मूल तत्व है गुप्त नाम का अभिधान। इससे आदिवासी यह सन्तोष कर लेते हैं कि देवता ने उनकी बातों को सुन लिया है और अब देवता उनके वश में है। इन गुप्त नामों का ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है एवं इस प्रकार से आहूत देवता द्विविध यथार्थों से सम्बद्ध हो जाते हैं—

(क) भौतिक यथार्थ, जिसके अन्तर्गत वाद्य, गीत, नृत्य तथा नाट्य आते हैं, एवं

(ख) अदृश्य यथार्थ, जिसके अन्तर्गत विविध देवता आते हैं ।

मंत्रों के माध्यम से यह माना जाता है कि अदृश्य शक्ति उनकी बातों को सुन रही है और वह सब कुछ समझ रही है और इसीलिए उनका सांगीतिक आयोजन सफल होता है । इस प्रकार अदृश्य शक्तियों के नामों के ज्ञान का यह अभिप्राय निकलता है कि जनजातियों की अदृश्य शक्तियों तक पहुँच है और वे इन अदृश्य शक्तियों को प्रेरित कर सकते हैं ।

अदृश्य शक्तियाँ इनकी बातों को सुनें तथा ये उन मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण कर सकें, इसके लिए इन्हें कतिपय नैतिक नियमों का पालन करना पड़ता है (द्र० चतुर्थ अध्याय) । इन नियमों के अन्तर्गत विविध प्रकार की वर्जनाएँ मिलती हैं । आभिचारिक संस्कारों के कारण स्त्रियाँ अनेक नृत्यों को नहीं कर सकतीं (द्र० चतुर्थ अध्याय), वे गायता अथवा सिरहा की पत्नी ही क्यों न हों । नातेदारी में आनेवाले लोगों के अतिरिक्त नृत्यों में किसी बाहरी व्यक्ति को प्रवेश नहीं मिलता है । आभिचारिक क्रिया करने वाले व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य होता है तथा नृत्य के पूर्व की अवधि से लेकर संशुद्धि-सस्कार तक उसका किसी भी स्त्री से सम्बन्ध नहीं होना चाहिए ।

इन वर्जनाओं की उपेक्षा से नर्तक की मृत्यु हो जाती है, फसल विनष्ट हो जाती है तथा भुखमरी का सामना करना पड़ता है । सामाजिक दृष्टि से भी उस व्यक्ति की उपेक्षा या भर्त्सना होती है । वर्जनाओं की इस व्यवस्था का फलितार्थ यह है कि जनजातियाँ मानती हैं कि अदृश्य शक्तियों के माध्यम से मनुष्य प्रकृति से जुड़ा हुआ है । प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं के क्रम का समर्थन अपने व्यवहार से करता है या अपने व्यवहार से उन्हें संकटग्रस्त भी बना देता है । इससे यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के उत्तरदायित्व का एक ब्रह्माण्डीय आयाम है । अपनी क्रियाओं से वह समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होता है । एक प्रकार से यह दृश्य तथा अदृश्य यथार्थ है । ये दोनों ही यथार्थ आंशिक रूप से दुष्टात्माओं के द्वारा अनुशासित होते हैं; यथा डूमा (मृतात्मा) एवं इतर यथार्थ, जिन्हें हम आधिभौतिक या दैविक कहते हैं । इन व्यवस्थाओं को तोड़ने पर व्यक्ति प्रकृति में अव्यवस्था फैलाने का दोषी होता है, जिसके कारण फसल खराब हो जाती है और सामाजिक दुष्परिणाम के रूप में भुखमरी, या अनैतिकता आदि के आरोप उस पर लगते हैं । ब्रह्माण्डीय आयाम से सम्बद्ध यह उत्तरदायित्व वर्जना के मानसिक प्रवेग की ओर भी संकेत करता है ।

वर्जनाओं की यह व्यवस्था प्रमुख रूप से 'सेक्स' सम्बन्धी वर्जना है । इसका यह भावार्थ है कि ब्रह्माण्डीय अदृश्य शक्ति से जनजाति का गुप्त सम्बन्ध उसके 'सेक्स' सम्बन्धी जीवन से सम्बद्ध है । मुरियासमाज यद्यपि घोटुल-व्यवस्था के कारण लैंगिक सुखानुभूति का पक्षधर है, किन्तु सामूहिक नृत्यों में उसके 'सेक्स' सम्बन्धी नियम बहुत कठोर हैं । इन विवरणों से हमें मुरिया-माड़िया समुदायों में स्त्री-पुरुष के बीच के सम्बन्धों का भी ज्ञान होता है । पुरुषवर्ग स्त्रियों को अपने से निम्न मानता है और यह सोचता है कि स्त्रियाँ स्वयं उसके लिए और समूची सामाजिक व्यवस्था के लिए एक स्थायी खतरे के रूप में हैं । 'घोटुल' की व्यवस्था में ही हमने देखा है कि बारह वर्ष में रजस्वला होने के साथ ही माता-पिता अपने लड़कियों को 'घोटुलों' में सोने के लिए क्यों भेजते हैं (वे धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के नियमों तथा व्यवस्था को सीख लें) । विवाहयोग्य होने के बाद वे पुनः अपनी जोड़ी के साथ अपना घर बसा लेती हैं । तब 'सेक्स' सम्बन्धी भय उन्हें बिल्कुल ही नहीं रहता । सामाजिकीकरण की प्रक्रिया के कारण वे 'घोटुल' के 'सेक्स'-सम्बन्धों से आतंकित नहीं होते हैं ।

मुरिया-माड़िया-समाज में आभिचारिक ज्ञान रखने वाले लोग हैं कौन ? यह आभिचारिक ज्ञान व्यक्तियों एवं सामाजिक वर्गों में असमान रूप से वितरित होता है। प्रथमतः आभिचारिक ज्ञान तथा शक्ति की दृष्टि से स्त्री-पुरुष में सामान्य असमानता मिलती है, चाहे वह सांस्कारिक हो या राजनैतिक अथवा आर्थिक। स्त्रियों का अपना प्रजनन-मूलक अभिचार है, जो पुत्री को माँ से विरासत के रूप में मिलता है। ऐसी स्त्रियाँ जो अभिचार करती हैं, वे आभिचारिक क्रियाओं में पुरुषों जैसी ऊँचाई तक नहीं पहुँच पातीं, उदाहरणार्थ 'वोहरानी' समारोह में स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकतीं तथा उन्हें एक स्थान पर बैठे रहना पड़ता है। 'पूस कोलांग' (द्र० 4. 4. 1) नृत्य का उदाहरण पहले दिया गया है। जहाँ-कहीं पुरुष दुष्टात्माओं से आतंकित रहते हैं, वहाँ स्त्रियों को प्रवेश नहीं मिल सकता। स्त्री-पुरुष में इस प्रकार की असमानता के अतिरिक्त एक ही रिश्तेनाते या गोत्र व उनसे भिन्न लोगों के साथ भी वही असमानता देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति चूँकि अदृश्य शक्ति रखता है, इसलिए गोत्रेतर व्यक्ति के साथ भय का अनुभव भी अधिक होता है। चूँकि आभिचारिक शक्ति में इस प्रकार की असमानता देखने को मिलती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह आभिचारिक विद्या में अधिकाधिक निष्णात हो जाय।

इनके पास यह आभिचारिक ज्ञान आता कहाँ से है और इसके असमान वितरण की व्याख्या किस प्रकार की जाय ? अपने जीवन के दौरान प्रत्येक व्यक्ति ज्ञानार्जन करता है या यह ज्ञान उसे विरासत के रूप में मिलता है। यह ज्ञान स्वप्न या दृश्य रूप में किसी को भी प्रत्यक्ष हो सकता है। स्वप्न या दृश्य रूप में अदृश्य शक्तियाँ साकार होती हैं तथा व्यक्ति को ज्ञान का सम्प्रेषण कराती हैं। दूसरे दिन वह किसी निशान की तलाश में राख (द्र० चतुर्थ अध्याय) आदि का परीक्षण करता है, जहाँ वह उन वस्तुओं को देखता है, जो स्वप्न में उतरी थीं। किसी खास गोत्र-वर्ग के कारण (यथा सेमुरगाँव के लिंगो का पुजारी, द्र० आगामी अध्याय) भी युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसे विशेष प्रकार का ज्ञान हासिल हो जाता है। यहाँ शक्तियाँ मिथकीय ढंग से उतरती हैं, जो कि मुरिया-माड़िया-समाज को सृष्टि के विकास के साथ ही मिल चुकी थीं। यदि हम विविध गोत्रवर्गों की आभिचारिक शक्ति का परिमापन करें, तो हम यह पाएंगे कि उनमें भी एक प्रकार का उत्तराधारक्रम विद्यमान है। आभिचारिक शक्ति के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति समूह से जुड़ा हुआ है—सभी विवाहोत्सवों में भाग लेते हैं, नृत्य में सम्मिलित होते हैं, आखेट में एक साथ जाते हैं। समाज को गतिशील बनाए रखने के लिए ये परस्पर सहयोग करते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बद्ध मुरिया-माड़िया-समाज के मिथकों का विश्लेषण मैंने (शुक्ल : 1982 : 267-90) विस्तार के साथ किया है। मिथकों का विश्लेषण करते हुए मैंने कहा है कि सूर्य की अवधारणा के साथ ही विविध जीवधारियों के सम्बन्ध में दृश्य तथा अदृश्य संसार का विकास हुआ। दृश्य और अदृश्य जगत् तब भी रहस्यात्मक सम्बन्धों से जुड़े हुए थे। सम्भवतः इन्हीं रहस्यात्मक सम्बन्धों के कारण आभिचारिक क्रियाओं में मंत्रों का विकास हुआ। दैनन्दिन जीवन में प्रयुक्त शब्द ही विशेष दीक्षा के कारण रहस्यमय हो गए। एक प्रकार से ये मंत्र उस स्रोत भाषा के अवशिष्ट रूप है, जिसके माध्यम से मानवेतर जगत् से सम्भाषण हो सकता था। इन गुप्त शब्दों के उच्चारण से अन्तःसम्बन्ध पुनः स्थापित हो जाता है, जो अब तक टूट-सा गया था। ऐसा करने से देवता द्वारा समझे जाने तथा यथार्थ पर अधिकार प्राप्त करने का भी भाव होता है।

अब हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि मुरिया-माड़िया-जनों के लिए ये मंत्र कितने गोपनीय हैं। ये प्राचीनता के बोधक हैं—उस प्राचीनता के जब मनुष्य पृथ्वी पर पहली बार आया था। उस प्राचीनता के जब जनजातियों का जन्म हुआ था। इसके साथ ही ये सृष्टि के वर्तमान अदृश्य रूपों के भी प्रमाण हैं। ये गोपनीय विश्वास हैं। नई परिस्थितियों में जनजातियों को जिन्दा रखने के लिए औषधि हैं। ये ऐसी सांस्कृतिक निधि हैं, जिनसे गायता, सिरहा,

गुनिया एवं पाँजियार (द्र० आगामी अध्याय) को मुरिया-माड़िया-समाज में प्रतिष्ठा मिली है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि मुरिया-माड़ियासमाज में संगीत और अभिचार पृथक्-पृथक् नहीं हैं, तथा धर्म को भी हम अभिचार से जुदा नहीं कर सकते।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मुरिया-माड़िया समाज में व्यक्तियों या सामाजिक वर्ग के बीच कोई खास आर्थिक असमानता अभी नहीं है, किन्तु आभिचारिक कृत्य में असमानता है, जिससे गायता तथा सिरहा आदि की सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरों की तुलना में अधिक है; किन्तु यह असमानता विरोधात्मक न होकर सहयोगात्मक है; क्योंकि व्यक्ति और समूह अपने-अपने सामाजिक और ब्रह्माण्डीय उत्तरदायित्वों का पहचानता है। आर्थिक और राजनैतिक असमानता न होने के कारण यहाँ अभी तक अभिजात वर्ग जन्म नहीं ले सका।

□

9

आदिवासी संगीतज्ञ

9.1. आदिम संगीतज्ञ

यद्यपि प्रस्तुत प्रबन्ध में आदिम संगीत के स्वरूप का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है, किन्तु उन लोगों के बारे में अभी तक कुछ नहीं कहा गया, जिन्हें आदिम बोलियों में—लिंगो, गायता, सिरहा, गुनिया, पाँजियार, बजनेया, माँदरी-गुरु, मोहरेया, कोटनिया, गीतकरिन या गीतकुरिन, गीतकुरया या गीतगाऊ, गुरुमाय, पाटगुरुमाय, चेलीगुरुमाय, वारवाल, गाइन, जोक्ता, नचकार या नाचकुरया, नचकरिन या नाचकुरिन, कपड़दार, कपड़दारिन, नाटकरया या नाटकुरया तथा नाटगुरु (देखिए, परिशिष्ट) आदि नामों से पुकारा जाता है। इन्हीं के अनवरत उत्साह और क्रियाशील सहयोग का परिणाम है कि आदिम संगीत विषम परिस्थितियों में आज भी जीवित है।

जनजातियों का काल्पनिक आद्य संगीतज्ञ 'लिंगो' आज भी इनके मन में छाया हुआ है और विगत अध्यायों में विश्लेषण के दौरान यह बात अनेकशः प्रतिपादित की गयी है कि संगीत के विविध घटकों में आदिम जन 'लिंगो' का भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं और यह मानते हैं कि 'लिंगो' की कृपा से ही वे संगीत में पारंगत हो सके हैं। 'लिंगो' अप्रतिम प्रतिभा का धनी है तथा वाद्य, गीत, नृत्य एवं नाट पर उसका समान अधिकार है। आदिम उत्सवों में 'लिंगो' सदैव उपस्थित रहता है। उपस्थित ही नहीं रहता, अपितु वह भी जनजातियों के संगीत में सम्मिलित होता है। उनके साथ बजाता है, गाता है, नाचता है, अभिनय करता है। वह विविध रूपों में अवतरित होकर आदिम जनों के सांगीतिक ज्ञान को सुसंस्कारित करता है और यही कारण है कि आज विविध मत-मतान्तरों के आक्रमण के बावजूद इन आदिम जनों ने अपनी संस्कृति नहीं भुलाई। 'लिंगो' की यह व्यापक संस्कृति समूचे मध्य भारत में आज भी प्रभविष्णु है, जिसका विवेचन आगामी परिच्छेद में है।

9.2. आद्य संगीतज्ञ—लिंगो

9.2.1. लिंगो देवता का तीर्थस्थान

अन्तागढ़ से आमाबेड़ा के वनाच्छादित प्रदेश के पर्वतकों के शिखर पर एक छोटा सा गाँव है, जिसे सेमुरगाँव कहा जाता है। गाँव के पास से एक लघु सरिता प्रवाहित होती है। उसी से संलग्न एक टीले पर 'लिंगो' देवता का पुण्यस्थान है, जिसे कभी मध्यदेश के गोंड और परधान तीर्थस्थान मानते थे। आज सेमुरगाँव की 'लिंगो-संस्कृति' केवल उत्तर बस्तर के मुरियों तक सीमित है। 'लिंगो' ने इन्हें अनेक देवपरिवारों के साथ 'घोटुल' जैसी संस्था प्रदान की है।

सेमुरगाँव में 'लिंगो' का पुण्यस्थान घासफूस की बनी एक झोपड़ी है, जिसकी सुरक्षा का भार मुरियों पर है, किन्तु उसका पुजारी एक परधान है। एलविन के समय (1947) में उसका पुजारी कोरेटी नाग गोत्र का देवसिंघ

था। पुजारी 'लिंगो' के सम्मुख गीत गाता है। नृत्य करते हुये विभोर हो उठता है। यह तीर्थस्थान है उत्तर बस्तर के आदिवासियों का। एक विस्तृत छप्पर के नीचे 'लिंगो' का 'आँगा' भी दण्डायमान है, जिस पर मयूरपंख लगे हुए हैं। उसके हिंदोले के चारों कोनों पर मयूरपंख के गुच्छ लटक रहे हैं तथा 'आँगा' की ओर 'लिंगो' का 'जीवा' (आत्मा) है, जो तृणाच्छादित एक लौहखड के रूप में है। 'लिंगो' की वर्तुलाकार ग्रीवा में उसके पुत्र नेतुरगुण्डी' घण्टे के रूप में विराजमान है। दाहिनी ओर 'लिंगो' का सिंहासन एक अर्धगोलाकृत कपालनुमा प्रस्तरखण्ड है। उसके ऊपर लोहे का एक ढोल व आखेटार्थ 'तुरही' लटक रही है। छप्पर के ऊपर कतिपय 'पालो' (दुग्ध) पात्र है, पुण्यवस्त्र है। वहीं 'लिंगो' के दो अश्व और वर्तुलाकार दण्ड है, जिन पर ध्यानावस्था में 'सिरहा' आरूढ़-से होते हैं।
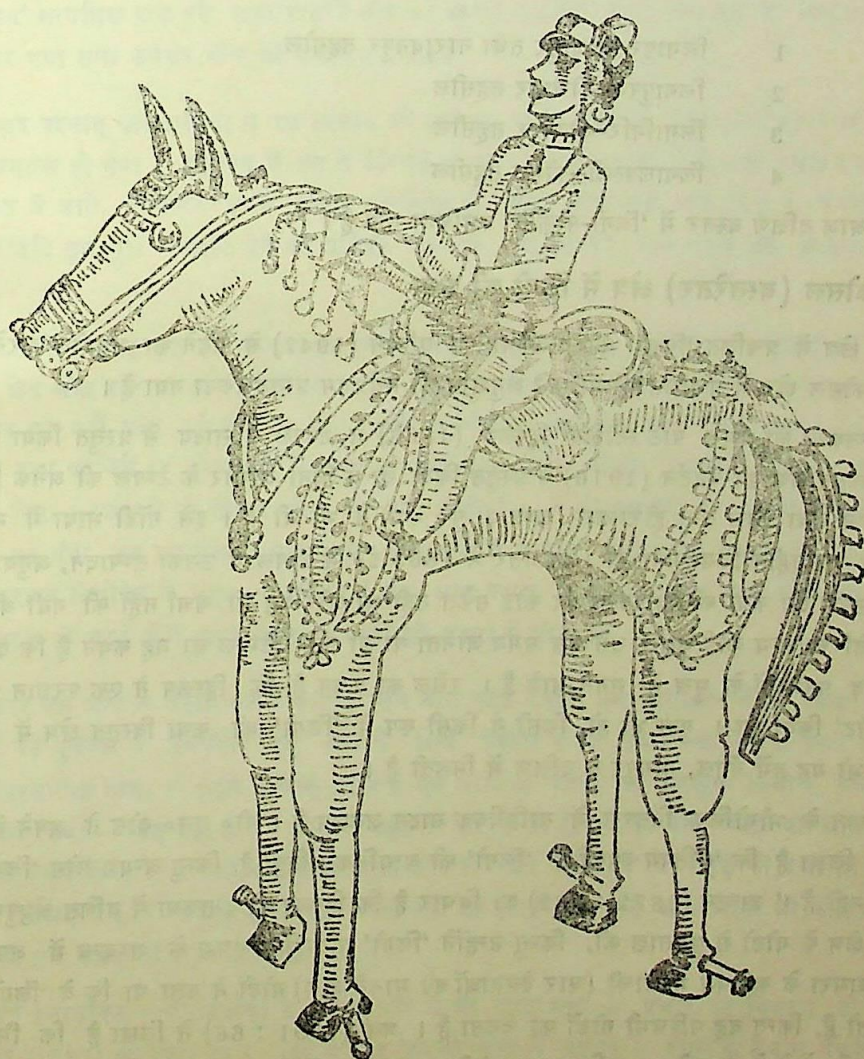
रेखाचित्र क्रमांक 20. सेमुरगाँव नामक लिंगों के तीर्थस्थल में अश्वारोही (सन्दर्भ 9. 2.)

प्रति तीन वर्षों के पश्चात् सेमुरगाँव में एक भव्य उत्सव होता है। उस समय 'लिंगो' पुण्यस्थान से बाहर लाए जाते हैं तथा शूकर, अजा, व बलीवर्दों से उनकी पूजा होती है। उस समय झोरिया, आमावेड़ा तथा अन्तागढ़ परगनों व कांकेर तहसील के गोंड अपने-अपने देव-परिवारों के साथ उस पुण्यभूमि की यात्रा करते हैं; क्योंकि 'लिंगो' उनका राजा है तथा बस्तर उसका राज्य है। इसी प्रकार आलोर में भी वनाच्छादित प्रदेश के एक कुटज में मधूक के चार स्तम्भों से 'लिंगो' का प्रतीक निर्मित है, जहाँ प्रत्येक तीनवर्ष में महोत्सव होता है। सम्पूर्ण उत्तर बस्तर में 'लिंगो' के सम्बन्धी व उनके मिथक छाए हुये हैं, जिससे 'लिंगो-संस्कृति' की व्यापकता समझ में आ सकती है। दक्षिण बस्तर में 'लिंगो' के स्मारक अनेक तीर्थ व स्थान हैं। तीर्थस्थानों मे दन्तेवाड़ा तहसील के चेरपाल में 'लिंगाल पेन' नाम का एक तीर्थस्थान है। इसी प्रकार अधस्तन स्थाननाम यह बताते हैं कि यहाँ कभी 'लिंगो-संस्कृति' का बोलबाला रहा होगा—

1 लिंगापुर–बीजापुर तथा नारायनपुर तहसील
2 लिंगापुरम–बीजापुर तहसील
3 लिंगागिरि–बीजापुर तहसील
4 लिंगालपल्ली–कोण्टा तहसील

किन्तु आज दक्षिण बस्तर में 'लिंगो-संस्कृति' प्रभविष्णु नहीं है।

9.2.2. महाकोसल (बस्तरेतर) क्षेत्र में लिंगो की कथा

बस्तर क्षेत्र में प्रचलित 'लिंगो' की दन्तकथा को एल्विन (1947) से पढ़ने का अनुरोध करने से पूर्व यहाँ बस्तरेतर महाकोसल क्षेत्र में प्रचलित 'लिंगो' की अनुश्रुति को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है।

इस दन्तकथा का प्रथम पाठ स्टीफेन हिस्लप (1866) ने टेम्पल के साक्ष्य से प्रस्तुत किया था। हिस्लप की कथा के विस्तृत अंश को चैटर्टन (1916) ने प्रस्तुत किया था व बिना आभार के टेम्पल की अनेक टिप्पणियाँ ली थीं। एक संक्षिप्त कथा रसेल तथा हीरालाल (खण्ड 3, पृ० 47) ने भी दी है। इसे गोंडी भाषा में **नागपुर के एक परधान पुजारी** से संगृहीत किया गया था। कालांतर में 1866 ई० में टेम्पल ने उसका सम्पादन, अनुवाद व प्रकाशन किया था। उसमें इस कथा की व्यापकता पर कोई संकेत नहीं था और यह भी चर्चा नहीं की गयी थी कि परधान पुजारी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति उसे उस समय जानता था या नहीं। टेम्पल का यह कथन है कि दन्तकथा अनेक पीढ़ियों से गोंड़ परधानों के मुख से सुनते आये हैं। रसेल का कथन है कि हिस्लप ने एक परधान पुजारी से एक मिथक को 'नोट' किया था। कुछ भी हो, किसी न किसी रूप में 'लिंगो' की कथा विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त रही है; क्योंकि आज भी यह हमें बैतूल, नागपुर व दक्षिण में मिलती है।

दन्तकथा के भौगोलिक वितरण में साहित्यिक साक्ष्य अत्यल्प है। पी० एन० बोस ने अपने लेख (1890 : 281) में यह लिखा है कि 'कतिपय स्थलों में 'लिंगो' की अत्यधिक प्रतिष्ठा है, किन्तु अन्यत्र लोग 'लिंगो' के नाम से भी परिचित नहीं हैं।' डाल्टन (1872 : 282) का विचार है कि हिस्लप की दन्तकथा में वर्णित श्रेष्ठपुरुषों के सम्बन्ध में मैंने उसी क्षेत्र के गोंडों से पूछताछ की, किन्तु उन्होंने 'लिंगो' व उनके पराक्रम के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। **बामरा** के कतिपय मुरवाची (चार देवताओं को मानने वाले) गोंडों ने कहा था कि वे 'लिंगो' की अनुश्रुति से परिचित तो हैं, किन्तु वह पश्चिमी गोंडों का देवता है। क्रुक (1891 : 66) ने लिखा है कि मिरजापुर (उत्तर प्रदेश) के पतरी गोंडों के पुजारी व प्रशस्तिगायक **मंझी** तथा **खरवा** 'निंगो' नामक एक देवता की उपासना करते हैं; जो 'लिंगो' ही हैं।

9.2.3. राजनाँदगाँव जिले में लिंगो-संस्कृति

दुर्ग जिले (सम्प्रति राजनाँदगाँव) की डोंडी-लोहारा जमींदारी से एलविन ने एक दन्तकथा 'नोट' की थी, जिसमें 'लिंगो' का अन्य गोंडों के देवताओं के तुल्य स्थान वर्णित है। इसमें नरवलि के निमित्त केकड़ा (कर्कट) की स्थानापन्नता एक मनोरंजक बात है। कथा इस प्रकार है—

"द्वारका ग्राम में एक गोंड ने एक सरोवर का निर्माण किया। इस सरोवर में अनेक प्रकार के कमल पुष्पित हुए। इन कमलपुष्पों में एक से 'लिंगोपेन' का जन्म हुआ। वह एक गोंड के स्वप्न में आया तथा उससे कहने लगा 'तुम मुझे अपने पुत्र की वलि दो और मैं तुम्हारे धन को द्विगुणित कर दूंगा'। गोंड मान गया तथा वह अल्प ही दिनों में अत्यधिक सम्पत्तिशाली बन गया; किन्तु जब पुत्र की वलि का समय आया तो गोंड अपने वचन से मुकर गया। इस पर 'लिंगोपेन' अत्यधिक रुष्ट हुये तथा उन्होंने गोंड की सम्पूर्ण सम्पत्ति, पत्नी और पुत्र का विनाश कर दिया। गोंड स्वयमेव मर गया तथा उसका गोत्र भी समाप्त हो गया।

कुछ समय पश्चात् ग्रामवासियों ने उस तालाव का उपयोग करना बन्द कर दिया और कालांतर में अनुपयोग के कारण यह समतल हो गया। वह खेत के रूप में परिणत हो गया। अनेक लोगों ने खेत का उपयोग करना चाहा, किन्तु जब वे खेत में आते, 'लिंगोपेन' उनके समक्ष उपस्थित हो जाता और उन्हें खदेड़ देता। 'लिंगोपेन' उनसे यही कहता कि 'यदि तुम मुझे नरबलि देने की प्रतिज्ञा करो तो तुम खेत को जोत सकते हो, अन्यथा यहाँ कभी मत आना।"

वहुत दिनों के पश्चात् राहपाल नामक एक गोंड दूसरे ग्राम से आया व अपना हल लेकर वह खेत जोतने लगा। जब वह खेत जोत रहा था तो 'लिंगोपेन' उसके समक्ष उपस्थित हुआ और उससे कहा—"तुम कौन हो? तुम मेरे शिर पर हल क्यों चला रहे हो?" गोंड उसके चरणों पर गिर पड़ा और कहने लगा—'मैं एक निर्धन व्यक्ति हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।" 'लिंगोपेन' ने कहा—"तुम्हें मुझे द्विपाद जीवों (मनुष्यों) की बलि देनी होगी।" गोंड ने प्रत्युत्तर दिया—"आपने तो द्विपाद जीवों की पूजा चाही है। मैं तो दशपादों से आपकी पूजा करूँगा। यह वलि मैं आपको तब दूंगा, जब इस खेत से फसल पक कर कटने के पश्चात् बैलों द्वारा गाहनी का कार्य समाप्त हो जाएगा।" तदुपरान्त लिंगोपेन ने कहा—"तथास्तु! जब आप फसल काटें, उस समय बीस छोटे-छोटे गट्ठर बना लें। धान के जितने ही गट्ठे होंगे, धान उतने ही गाड़ों की संख्या में होगी।"

इस प्रकार जब गोंड ने अपनी फसल काटी, उसने बीस गट्ठे बनाए तथा खलिहान तैयार किया। तब उसने अपने सजातीयों को बुलाया व 'लिंगोपेन' हेतु वलि के लिये तैयारी की। उसने नदी से एक केंकड़े को पकड़ कर खलिहान में प्रतिस्थापित किया। इसके पश्चात् अग्नि व धूप आदि से 'लिंगो' का आह्वान किया। देवता प्रकट हुए और उन्होंने प्रश्न किया—"यह क्या है?" गोंड ने कहा—"आपने तो द्विपाद की बलि चाही थी और मैंने दशपाद की बलि देने का वचन दिया था। यह रहा दशपादयुक्त जीव।" जब 'लिंगोपेन' ने केंकड़े को देखा तो वे प्रसन्न हो गये तथा उसके पश्चात् उन्होंने नरबलि की इच्छा व्यक्त नहीं की। सम्प्रति चाहे अन्य किसी भी जीव की वलि दें, किन्तु 'लिंगो' को हम केंकड़े की बलि अवश्यमेव देते हैं।

दुर्ग जिले (आधुनिक राजनाँदगाँव) के औंधी क्षेत्र में भी तद्वत् कथा के प्रचार का विवरण डी० भागवत ने एलविन (1947 : 227) को दिया था। वहाँ से प्राप्त 'हुलकी'-गीत में बस्तर के गीतों के समान 'लिंगो' को नृत्य और गीत का संरक्षक माना जाता है—

जोहार जोहार, हे लिंगो !
मिंदा-वीणा अनुनादित है,
कदुर कुम नाद,
कटि में लिंगो पहनें पीतल की घंटियाँ,
चरणों में उनके नूपुर,
अधर में उनके बाँसुरी,
उनके कर्णगुहरों से भी
गूँजित हो संगीत
चतुर्दिक् व्याप्त रहे।

9.2.4. रायपुर जिले में लिंगो-संस्कृति

बिन्द्रानवागढ़ जमीदारी के गोंड 'लिंगो' को भीमसेन या भीमुल से सम्बद्ध करते रहे हैं। यहाँ 'लिंगो' वृष्टि के देवता के रूप में हैं। यहाँ के गोंड चतुस्तम्भों का एक पवित्रस्थान बनाकर उसके मध्य में प्रस्तरखंड स्थापित करते हैं। जब वर्षा नहीं होती तो वे मानते हैं कि यह 'लिंगो' के प्रकोप से हुआ है तथा वे 'लिंगो' के स्थान पर नाचते-गाते हुये उन्हें मनाने जाते हैं।

9.2.5. आदिलाबाद जिले में लिंगो-संस्कृति

हैमेनडोर्फ (1978 : 620) ने आन्ध्र प्रदेश के आदिलाबाद जिले के गोंडों में 'पहिण्डी कुपार लिंगाल' नामक देवताओं के पूजा की चर्चा की है। यह देवता गोंडों के देवपरिवार का मुक्तिदाता माना जाता है। उसने गोंडों को गोत्रों में विभाजित किया है तथा उनके महान् देवता 'पेरसा-पेन' की स्थापना की है। किन्तु 'लिंगो' की महत्वाकांक्षा की दन्तकथा वहाँ प्रचलित नहीं है; तथापि अन्य स्थानों के समान वहाँ भी वह संगीत का संरक्षक है। वह अपनी वीणा से अठारह प्रकार के तान छेड़ता रहा है। उसकी वीणा की ध्वनि के प्रभाव से ही कारागार में पड़े हुए गोंड देवताओं को मुक्ति मिली थी तथा उनमें नवजीवन का संचार हुआ था। उसने अपने कौशल से अपने जीवन की रक्षा की थी तथा संसार में उसी के कारण संगीत और नृत्य का प्रवर्त्तन हुआ है।

9.2.6. शहडोल जिले में लिंगो की संस्कृति

अमरकंटक से बीस मील की दूरी पर नर्मदा नदी के तट पर 'लिंगो' नामक एक मनोरम पर्वत है तथा उसके वनाच्छादित ढाल (अवसर्पिणी भूमि) से प्रेतों के संगीत की मनोरम ध्वनि यथावसर सुनने को मिलती है। इस क्षेत्र के परधान तथा गोंडों में प्रचलित दन्तकथा के अनुसार पर्वत का नामकरण धुरवा गोत्र के संस्थापक देवगढ़ के राजा के पुत्र 'रार्यलिगा' के नाम पर हुआ है। कथा इस प्रकार है—एक बार भीमसेन मछली पकड़ने की टोकनियों में कन्दमूल लेकर काँवड़ सहित अमरकंटक पहुँचे। दो टोकनियों में एक 'मोहरा' नामक टोकनी थी तथा दूसरी 'ढुटी' नामक टोकनी थी। रास्ते में काँवड़ का बाँस टूट गया तथा कन्दमूल की दोनों टोकनियाँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं। कालान्तर में ये पहाड़ियों के रूप में रूपान्तरित हुई। तभी से इन्हें 'मोहरा डोंगर' तथा 'ढुटी डोंगर' कहा जाने लगा।

इसी समय 'रार्यलिगा' का देवगढ़ में अपने भाइयों के साथ संघर्ष हुआ तथा वह वहाँ से निकल पड़ा व अपने सैनिकों के साथ उसने 'मोहरा डोंगर' में पड़ाव डाला। उसे वह स्थान इतना अधिक मोहक लगा कि उसने वहाँ एक राजमहल बनाने का निश्चय किया। उसी समय से पहाड़ी को 'राय-लिंगा-डोंगर' कहा जाने लगा। कुछ काल के बाद 'बड़ा देव' भी आकर वहाँ 'रार्यलिगा' के साथ रहने लगा। (एल्विन 1947 : 227)।

9.2.7. बस्तर में लिंगो-संस्कृति

बस्तर में प्रचलित 'लिंगो'-संस्कृति की विशद व्याख्या वैरियर एल्विन ने अपनी पुस्तक 'मुरिया एण्ड देयर घोटुल' (1947 अष्टम अध्याय) में की है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि उत्तर बस्तर के मुरिया 'लिंगो' को आद्य संगीतज्ञ मानते हैं। एल्विन के विस्तारपूर्वक विवेचन के पश्चात् यहाँ उसकी आवृत्ति अनावश्यक है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बस्तर में लिंगोपासना का सर्वप्रथम उल्लेख 831 ई० के नलराजा भीमसेन के पाण्डियापाथर-ताम्रपत्र (इपीग्राफिआ इण्डिका, खण्ड 34, पृ० 233-8) में मिलता है और इसी तिथि को यहाँ लिंगोपासना की प्रामाणिक तिथि माना जा सकता है और यही तिथि है बस्तर के आदिम संगीत के आगम संगीत में परिवर्तित होने की; क्योंकि आगम संगीत में भी शिव को संगीत का जनक माना गया है।

शिव के 'शिश्न' के प्रतीक (लिंग) के लिये नागयुगीन बस्तर में यूप (इपीग्राफिआ इंडिका, खण्ड 10, क्रमांक 9) का विकास हो चुका था। शिव का यह प्रजननांग आज 'आंगादेव' के रूप में 'जात्रा' नृत्यों का संचालन करता है। 'लिंगो' के आद्य संगीतज्ञ होने से यह प्रतीत होता है कि आदिम संगीत उत्पादकता का संगीत है। 'लिंगो' उत्पादन के ही प्रतीक हैं।

9.3. गायता, सिरहा, गुनिया और पाँजियार

आदिम जनजातियों के संगीत की आगममूलकता के प्रमुख मानवीय संरक्षकों में गायता, सिरहा, गुनिया तथा पाँजियार हैं। ये संस्कारमूलक तांत्रिक क्रियाओं के जनक तथा संरक्षक हैं। इन्होंने तांत्रिक साधना के माध्यम से जो ज्ञान अर्जित किया है, उसके माध्यम से सांगीतिक कोश समृद्ध हुआ है तथा उसमें परिस्थिति के अनुसार विकास भी हुआ है। इस प्रकार इन्होंने संगीत के माध्यम से न केवल प्राचीन परम्पराओं की सुरक्षा की है, अपितु विविध स्रोतों के माध्यम से नवीन विचारधाराओं का भी प्रवेश किया है। इस प्रकार एक अर्थ में ये संगीत के 'प्रोड्यूशर' हैं तथा इनकी प्रेरणा से ही संगीत का 'रिहर्सल' होता है। मौखिक परम्परा से जुड़े होने के कारण ये आदिम सगीत के अनुभवी व्यक्ति होते हैं। लोकगीत और लोककथाओं के ये जीवित कोश हैं। ये ही 'घोटुल' के युवक-युवतियों को सामूहिक कला का प्रशिक्षण देते हैं और दर्शकों की भावनाओं को जगाने में इनकी पद्धति तथा योग्यता श्लाघनीय होती है।

इन 'प्रोड्यूशरों' को अपना पाठ कण्ठस्थ रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर ये 'प्राम्टर' का भी कार्य करते हैं। ये ही पात्रों का चयन करते हैं तथा ये ही यह निश्चित करते हैं कि नृत्यदल को किस गाँव में नृत्य के लिये जाना है। बिना इनकी स्वीकृति के किसी भी प्रकार का संगीत प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता।

विविध युवकों तथा युवतियों का सांगीतिक प्रदर्शन के लिए चयन ये ही लोग करते हैं। किसे 'जोक्ता' बनना है, कौन 'गाइन' बनेगा तथा किसे 'नकटा' की भूमिका करनी है; यह इन्हीं के परामर्श से होता है। वादकों, नर्तकों, तथा गीतकारों का चयन ये इसी आधार पर करते हैं कि उनकी आवाज कैसी है। संगीत में ऐसे लोगों को प्रवेश नहीं मिलता, जिनमें जातीय स्वरमाधुर्य नहीं होता।

सांगीतिक यात्रा में सम्मिलित होने के लिये उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त शारीरिक विधि-निषेध तथा योग्यताओं का भी परीक्षण किया जाता है। किस नृत्य में युवक को सम्मिलित होना है और किस नृत्य में युवती को, यह विधि-निषेध ये ही लोग निश्चित करते हैं। अवस्था, ऊँचाई तथा शारीरिक गठन का भी इसमें विचार किया जाता है; उदाहरणार्थ 'नकटे' का अभिनय स्थूल तथा दीर्घकाय व्यक्ति को नहीं दिया जाता है।

आगामी पृष्ठों में इन व्यक्तियों के सामाजिक प्रकार्य को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

9.4. गायता (1213 ई० से प्रारम्भ)

नागयुगीन दक्षिण बस्तर में बारहवीं शताब्दी में जिस प्रकार नरवलि के प्रचलन का अभिलेखीय प्रमाण मिलता है, उसी प्रकार उत्तर बस्तर में गायता या गैंता-संस्कृति की विद्यमानता का भी अभिलेखीय प्रमाण मिलता है, जिससे पुन: इस स्थापना को बल मिलता है कि तद्युगीन बस्तर की आदिम प्रजातियों में आर्यसंस्कार विद्यमान थे।

गैंता-संस्कृति का सर्वप्रथम उल्लेख 1213 ई० के पम्पराजदेव के कांकेर-ताम्रपत्र (इपीग्राफिआ इंडिका, खण्ड 9, पृ० 166) में मिलता है। यह ताम्रपत्र एक दानपत्र था तथा इसके माध्यम से लक्ष्मीधर नामक गैंता को जैंपरा तथा वणिकोट्ट नामक ग्राम पादप्रक्षालनपूर्वक (पादप्रक्षालनं कृत्वा) समर्पित किये गये थे—जैंवरा वणिकोट्ट मर्यादाकृत्य ग्रामपत्रोऽयं गैंता लक्ष्मीधराय प्रदत्तम्।

इस दान के साक्षियों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—अस्मिन्नर्थे साक्षिण: गोविन्द गैंता लक्ष्मीधर गैंता महेश्वर नायक छंतू नायक दामोदर साव पालाटु।

गायता या गैंता तद्युगीन ग्रामपुजारी (ग्रामदैवतक) थे तथा ग्राम की पूजा को सुचारु रूप से सम्पादित करने के कारण यह दान दिया गया था—एते निजव्यापारं कुर्वन् तिष्ठन्ति।

ये गैंता ब्राह्मण थे, इसका सुस्पष्ट संकेत ताम्रपत्र की इन पक्तियों से मिलता है—

> एते निजव्यापारं कुर्वन् तिष्ठन्ति। वृतकौशिक–
> गोत्रान्वयप्रसूतसमस्ताद्विजवर्य्योद्द्योतकारक–
> गैंतामाधवशर्म्मण: पौत्राय गैंत्ता गदाधरपुत्राय
> सकलगुणांलक्रत गैंता लक्ष्मीधरशार्मणे याजुर्वेदा–
> ध्यायिने—अस्माभि:प्रदत्तम्।"

उपर्युक्त वितरण से अधस्तन बातों की ओर संकेत किया जा सकता है—

(क) मध्ययुगीन बस्तर में गैंता–या गायता संस्कृति विद्यमान थी।

(ख) ये गायता ग्रामपुजारी थे तथा इनको प्रदत्त पत्र को दानपत्र न कहकर ग्रामपत्र कहा गया है।

(ग) इससे गायता को उद्गाता से निष्पन्न माना जा सकता है।

(घ) ये गायता जात्या ब्राह्मण थे तथा अभिलेख में इन्हें द्विजवर्य्य कहा गया है।

(ङ) इन गायतों को 'धृतकौशिक' गोत्र का माना गया है।

(च) ये गैंता यजुर्वेदाध्यायी थे।

(छ) इन्हें 'सकलगुणांलंकृत' कहा गया है।

(ज) ये अपने उपनाम में 'शर्मन्' शब्द का व्यवहार करते थे।

(झ) इनकी कुलीनता और विद्वत्ता से प्रभावित होकर सोमवंशी नृपति पम्पराज भी इनका पाद-प्रक्षालन करते थे।

बस्तर के ये गायता वैदिक उद्गाता से बहुत अधिक साम्य रखते हैं। उद्गाता गीत गाते थे, गायता भी गीत गाते हैं। उद्गाता गीत गाकर काम करने वालों में उत्साह भरते थे, गायता भी वही करते हैं। वैदिक के समान आदिम सामूहिक परिश्रम में लय और ताल है। वैदिक उद्गाता के गीतों में जो ताल और लय मिलती थी, वह
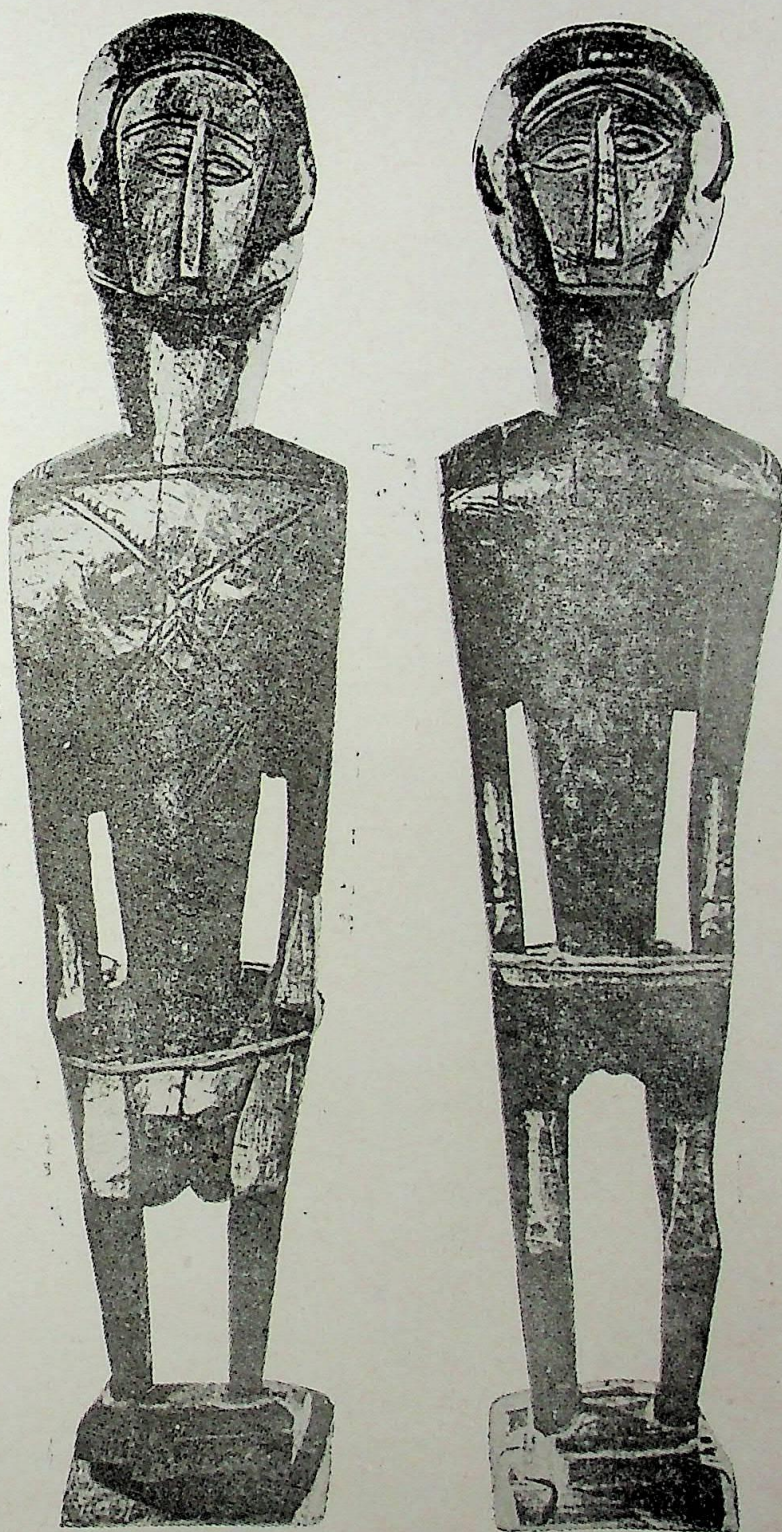
छायाचित्र क्र०–14. तारानृत्य में प्रयुक्त मुरिया-पुत्तलिका

गायता में भी है। वैदिक और आदिम परिश्रम आसान न थे और न हैं, फिर भी उद्‌गाता या गायता के कारण उसमें न नीरसता थी और न ही आज है।

आधुनिक गायता

नागयुगीन गायता के उत्तराधिकारी आधुनिक गायता (पुजारी) हैं तथा इनमें कतिपय साम्य व वैशम्य इस प्रकार मिलते हैं—

(क) आधुनिक बस्तर में भी गायता संस्कृति यथावत् विद्यमान है।

(ख) ये गायता ग्रामपुजारी होते हैं।

(ग) यह माना जा सकता है कि महापात्र के ही समान प्राचीन काल में ब्राह्मणों का ग्रामपात्र वर्ग भी था।

(घ) आधुनिक गायता आदिवासी हैं तथा यह एक खोज का विषय है कि द्विजों के उत्तराधिकारी आदिवासी कैसे बने!

(ङ) इन गायतों के गोत्र भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

(च) ये गायता तांत्रिक हैं।

(छ) ये तंत्र के सकलगुणों से अलंकृत हैं।

(ज) ये अपने को शर्मा नहीं कहते।

(झ) इन पर समस्त आदिवासियों की आस्था होती है तथा इनके अभाव में आदिवासियों का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता।

संक्षिप्त परिचय

मुरिया तथा अबुझमाड़िया में धर्माधिकारी को 'गायता' कहा जाता है तथा दंडामी माड़िया व दोर्ली में इसके लिये 'पेरमा' शब्द प्रचलित है। निजव्यापार के अनुसार गायता की अनेक कोटियाँ यहाँ प्रचलित हैं।

(क) **पेन-गायता** : इसे मुरिया तथा अबुझमाड़िया में 'पेनपुजारी' भी कहा जाता है तथा दोनों का ही अर्थ है—देवता का पुजारी। यह गोत्रदेवता या 'आँगा' का पुजारी होता है। दंडामी माड़िया में इसके लिये 'वड्डे' या 'पेन-वड्डे' शब्दों का इसी अर्थ में प्रचलन है। दंडामी माड़िया तथा अबुझमाड़िया के सम्मिश्र प्रभाव के कारण छोटाडोंगर तथा परतापुर क्षेत्र (दोनों नारायनपुर तहसील के अन्तर्गत) में यह सम्मिश्र शब्द 'पेन वड्डे' के नाम से अभिहित होता है। इसे 'धुरवा' भी कहा जाता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि दक्षिण बस्तर की धुरवा प्रजाति प्राचीन काल में पुजारी का कार्य करती थी; क्योंकि वह धर्मधुरी का वाहक थी (धुरवाहक)। इससे धुरवा प्रजाति की प्राचीनता का भी बोध होता है।

(ख) **भूमगायता** : उत्तर बस्तर में भूमगायता (भूमि पुजारी) के अर्थ में 'कसेर-गायता' या 'कसेग-गायता' (छुरिका पुजारी) या 'कड्री-गायता' (छुरिका पुजारी) भी प्रचलित है तथा इसे अभिलेखीय (नरबलि का) प्रसंग के (ई० आई० 9 : 166) 'छुरिकाप्रबन्ध' से सम्बद्ध करते हुए यह कहा जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दी से ही भूमि की पूजा में यहाँ नरबलि देने का कार्य यह पुजारी करता आ रहा है। दक्षिण बस्तर में इसके लिये 'पेरमा' शब्द का व्यवहार होता है। 'भूमगायता' के अन्य पर्यायों में हलबी-मुरिया-अबुझमाड़िया में मिश्रित अन्य शब्द भी प्रचलित हैं, जिनमें 'माटी-गायता', 'माटियार', 'भुमिया', तथा 'नेलगायता' की ओर संकेत किया जा सकता है।

'भूम-गायता' भूमि या पृथ्वी को याज्ञिक अनुष्ठानों (बलि) के माध्यम से प्रसन्न करता है, जिससे रोगादि से ग्राम की रक्षा होती है। 'भूम-गायता' का कार्य अधिक व्यापक है तथा यह कृषियोग्य खेतों को तैयार किये जाने से लेकर फसल के घर आ जाने के मध्य विविध प्रकार के अनुष्ठानों को सम्पादित किया करता है।

(ग) **हानाल गायता** : झोरिया तथा अबुझमाड़िया क्षेत्र में 'हानाल-गायता' भी होता है, जिसे 'प्रेत-पुजारी' कहा जा सकता है तथा यह मृतकसंस्कार को सम्पन्न कराता है।

(घ) उपर्युक्त पेन-गायता', 'भूम-गायता' तथा 'हानाल-गायता' से भिन्न इस क्षेत्र में विविध देवी-देवताओं के पुजारी भी होते हैं जो उन्हीं नामों से अभिहित होते हैं; यथा दन्तेश्वरी का पुजारी (परम्परया बस्तर राजगद्दी का उत्तराधिकारी) व भंगाराम का पुजारी आदि। इससे यह ध्वनित होता है कि बस्तर के राजा को यहाँ के आदिवासी प्रमुख पुजारी मानते रहे हैं; क्योंकि वह राज्य की अधिष्ठात्री देवी दन्तेश्वरी का पुजारी था। कालांतर में उस पुजारी को भी देवता के रूप मे स्वीकार किया गया तथा यह दिव्यीकरण की भावना इतनी अधिक प्रबल हुई कि बस्तर के अन्तिम राजा प्रवीरचन्द्र भंजदेव अपने को आदिवासियों का देवता ही मानने (1965) लगे।

आज इन पुजारियों को किसी विशेष 'पुजारी-वर्ग' के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता और न ही इनमें कोई ऐसे विशेष लक्षण मिलते, जिनके आधार पर यह पहचाना जा सके कि ये पुजारी हैं, किन्तु अभिलेखीय प्रमाण से यह स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी तक बस्तर के पुजारी या 'गायता' विविध गुणसम्पन्न यजुर्वेद के विद्वान् ब्राह्मण ही होते थे। बस्तर के राजनैतिक इतिहास (अप्रकाशित) के प्रगण-शासन (परगना शासन) के अन्तर्गत हमने देखा है कि नागयुग के अन्तिम चरण में बस्तर में एक बहुत बड़ी क्रांति हुई थी तथा यहाँ की भूमि का विभाजन विविध गोत्रों के अनुसार हुआ था। अर्थात् तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में एक परगने में एक गोत्र के स्वामित्व का सिद्धान्त बना। इससे यह स्वाभाविक है कि इतरगोत्रीय पुजारियों का महत्व घटा होगा तथा गोत्र के लोगों को ही पुजारी के रूप में नियुक्त करने की परम्परा आई होगी। निस्संदेह यह बहुत बड़ी धार्मिक क्रान्ति थी—अभिजात वर्म के विरुद्ध। ऐसी ही क्रांति मध्ययुग में महाराष्ट्र के कोल्हापुर राज्य में हुई थी तथा वहाँ भी ब्राह्मण पुजारियों के स्थान पर क्षत्रिय राजा ने क्षत्रिय पुजारी नियुक्त किये थे। राजिम के मन्दिरों में आज भी क्षत्रिय पुजारी की परम्परा है।

बस्तर के ये 'गायता' भोले-भाले किन्तु अच्छे व दयालु लोग हैं, जिनका अधिकांश जीवन खेतों तथा वनों में बीतता है; किन्तु ये यहाँ के आदिवासियों के द्वारा उत्तराधार क्रम से 'गायता' चुने गये हैं। ये मानव व मानवेतर रहस्यों के बीच एक माध्यम का कार्य करते हैं। ये साधक प्रकृति के आत्मसंयमी लोग हैं। ये आत्मसंयम व साधना उस मुरियाक्षेत्र में करते हैं, जहाँ प्रायः अधिकतर लोग असंयमी हैं। सभी ग्राम-पुजारी (गायता) उस समय व्रतोपवास भी रखते हैं, जब गाँव में कोई बड़ा उत्सव होने की तैयारी होता है। कभी-कभी इनके उपवास-व्रत व आत्मसंयम की अवधि एक सप्ताह तक चलती है।

'छोटे डोंगर' परगना के कतिपय ग्रामों में यह नियम मिलता है कि '**कसेग-गायता**' ग्राम के पुजारी का कार्य उसी समय तक करता है, जब तक वह अविवाहित रहता है। इस प्रकार वह सोलह वर्षों का एक बालक ही होता है। 'कसेग-गायता' को घोटुल में जाने की स्वीकृति नहीं होती तथा स्त्रियों के साथ उसका संसर्ग भी अत्यल्प ही होता है। इतना ही नहीं, कतिपय स्थानों में तो यह भी विधान मिलता है कि 'कसेग-गायता' पर किसी स्त्री की छाया भी नहीं पड़नी चाहिये। इसी भय से वह किसी के हाथ से तम्बाखू भी नहीं लेता। इसी भय से वह बाजार नहीं जाता कि कहीं किसी स्त्री के शरीर से स्पर्श न हो जाय। इतना ही नहीं, वह मासिकधर्मवाली स्त्री के पति से भी वार्तालाप नहीं कर सकता। उसके घर में भी उसके भोजन पकाने की सामग्री अलग होती है। स्पष्ट है कि

इतनी कठिन साधना थोड़े ही किशोर कर सकते हैं। अतएव यहाँ 'गायता' का कार्यकाल केवल चार वर्षों तक रहता है। इसके पश्चात् 'महाप्रभु' स्वप्न में आकर 'चेलिकों' के मध्य भावी गायता के बनने की सूचना देते हैं।

किसी पारम्परिक गायता की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी तुरन्त ही नियुक्त नहीं किया जाता। पूर्वी कोण्डागाँव में यद्यपि पिता की मृत्यु पर बड़ा पुत्र अपने आप गायता हो जाता है, किन्तु वह उस समय तक अपना कार्यभार ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक वैसा करने के लिए उसे स्वप्न नहीं होता। बस्तर के अन्य क्षेत्रों में गायता की मृत्यु पर उसके पुत्र या भाई के उस पद में अभिषेक के पूर्व एक सांस्कारिक आखेट की परम्परा मिलती है। मृतक व्यक्ति के नाम पर ग्राम के सभी लोग शिकार के लिये जाते हैं और शिकार में प्राप्त पशुओं के आधार पर वे शुभ या अशुभ का निर्णय करते हैं। यदि शिकार में कोई हिरण मारा जाता है, तो उसका तात्पर्य है कि मृतक अपना उत्तराधिकार अपने पुत्र व भाई को नहीं देना चाहता। वैसी स्थिति में गायता का उत्तराधिकार-पद उस परिवार से चला जाता है। यदि वे शिकार में नर पशु पाते हैं, तो उसका अर्थ है कि गायता किसी प्रकार का उत्तराधिकारी नहीं चाहता है, किन्तु यदि वे मादा साँभर, चीतल या बारहसिंगा का शिकार करते हैं, तो उसका वे यह अर्थ मानते हैं कि गायता के पुत्र या भाई को उस पद पर अभिषिक्त करना है। यदि शिकार में वे कोई भी पशु नहीं प्राप्त करते, तो वे दिन भर व्रत रखते हैं। अपने घरों के बाहर खाना पकाते व खाते हैं। अपनी पत्नियों से अलग सोते हैं। इस प्रकार के व्रत को धारण करते हुए तीन दिनों तक वे शिकार के लिये जाते हैं। यदि इस बीच वे किसी शिकार को प्राप्त कर लेते हैं, तो गायता का चुनाव हो जाता है; अन्यथा इसके लिये उन्हें एक वर्ष की प्रतीक्षा के उपरांत वही विधि-विधान पुनः दुहराने पड़ते हैं।
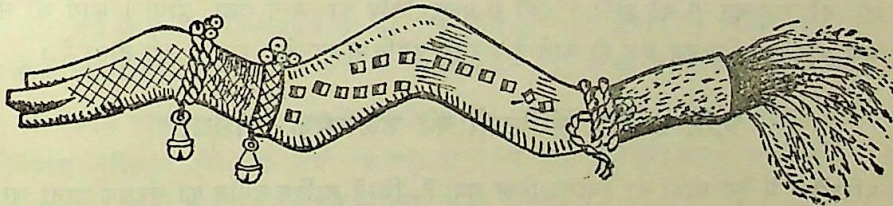
रेखाचित्र क्रमांक 21. आँगादेव (सन्दर्भ 9. 5.)

9.5. सिरहा

आदिवासी बस्तर में पुजारी के सहायक के रूप में 'सिरहा' (सं०ऋषि) का प्रभाव अत्यधिक है। पुजारी तथा सिरहा का कार्य जब एक ही व्यक्ति करता है, तो उसका प्रभाव द्विगुणित हो जाता है; अन्यथा प्रत्येक उत्सव, प्रत्येक संस्कार, सभी प्रकार के रोगों, मृतक संस्कार, आदि में पुजारी को सिरहा से परामर्श लेना पड़ता है; क्योंकि कोई भी संस्कार ऐसा नहीं है जो किसी एक विधान से ही सम्पन्न होता हो। यहाँ संस्कारों की एक लम्बी तालिका मिलती है। उत्सवों की दीर्घसूची है, जिसके अनेक संभव संयोग मिल जाते हैं। ऐसी स्थिति में देवदूत या भविष्यवक्ता के रूप में सिरहा ही उन्हें बताता है कि कैसी पूजा देनी है, देवता को कौन-सा विशेष संस्कार स्वीकार्य होगा।

'सिरहा' हलबी शब्द है। 'लेस्के' गोंडी शब्द है। 'लेस्के' 'सिरहा' का सहायक होता है। कुछ क्षेत्रों में 'सिरहा' तथा 'लेस्के' पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन दोनों का अर्थ है भविष्यद्रष्टा। यही भाव ऋषि शब्द का है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि सिरहा याज्ञिक (बलिकारक) नहीं होता। वस्तुतः वह पुजारी नहीं है, अपितु वह एक माध्यम है, जिसके द्वारा देवता अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। सिरहा में यह शक्ति निहित होती है कि वह समाधि

में लीन हो सके। समाधिस्थ होकर नृत्य कर सके। रोगों की व्याख्या कर सके तथा इस सम्बन्ध में दैवी आदेश पर विचार कर सके। इस प्रकार के दर्जनों लोग किसी बड़े उत्सव में देखे जा सकते हैं—आज भी। लम्बे-लम्बे बाल, हाथ में धूमकेतु तथा कशा, चेहरे से मन्दोन्मत्त, बेहोश, व आकृष्ट करने वाले ये लोग किसी भी धार्मिक मेले में पहचाने जा सकते हैं। इतना होते हुए भी सामान्य जीवन में ये सामान्य लोगों की ही भाँति होते हैं।

9.6. गुनिया

गुनिया वह है जो आभिचारिक गुणों से सम्पन्न होता है (सं० गणक)। यह एक प्रकार से औषधिविशेषज्ञ माना जा सकता है। गुनिया की आवश्यकता रुग्ण को विरुज बनाने में, खोई हुई सम्पत्ति को प्राप्त कराने में तथा चोरी हो जानेपर चोर की खोज करने में होती है। गुनिया सूप या दीपक के द्वारा आभिचारिक कृत्य करता है।

9.7. पाँजियार

पाँजियार एक दैवज्ञ (सं० पंचीकार) है, जो घास के टुकड़ों की गणना करके सही भविष्यवाणी करता है। यह अन्नकणों से भी नक्षत्रविद्या का कार्य करता है।

बस्तर के आदिवासियों में गायता, सिरहा, गुनिया, पांजियार तथा अन्य नामों से साम्य संघ की इस आवश्यकता का ज्ञान होता है कि एक व्यक्ति को अधिकृत कर कार्य के संचालन का उसे दायित्व दे दिया जाता है। इसीलिये इन व्यक्तियों का चयन किया जाता है। यह विधि तब प्रयोग में आई होगी, जब कार्य के अनेक रूप हो गए होंगे और उत्पादक शक्तियाँ समुन्नत हो गई होंगी। इसी से प्रवरणविधि का जन्म हुआ होगा। कार्य की सम्पन्नता के पश्चात् सभी प्रमुख कार्यकर्ता मिलकर एक हो जाते हैं। उनमें वर्गविभाजन-जैसा स्वरूप नहीं होता है।

9.8. आदिम संगीतज्ञों की कलात्मक विधियाँ

विगत परिच्छेदों में ऐसे लोगों का हवाला दिया गया है, जिन्हें आदिम संगीत का संरक्षक माना जा सकता है। सम्प्रति यहाँ यह विवेच्य है कि किन परिस्थितियों में इन संगीतज्ञों को अपनी कला का प्रदर्शन करना होता है तथा स्वर एवं अभिनय में उत्कृष्टता लाने के लिये ये कौन-सी विधियाँ अपनाते हैं।

बस्तर के कतिपय नृत्य तथा स्वांग इतने जीवन्त होते हैं कि यदा-कदा ये अनुकृति न लगकर मौलिक-से प्रतीत होते हैं; फिर चाहे यह दण्डामी माड़ियों का द्रुतगति से चलने वाला 'गँवरनृत्य' हो या मुरिया का कोई 'स्वांग'।

नृत्य तथा नाट का प्रदर्शन प्राकृतिक सीमाओं से सम्बद्ध है तथा इनमें बहुत कुछ दर्शकों की कल्पना के लिये छोड़ दिया जाता है। जिन परिस्थितियों में यहाँ के गायक, वादक, नर्तक या नाटककार कार्य करते हैं, उन परिस्थितियों में पदसंचार, अभिनय, संकेत, बोली तथा सामान्य प्रस्तुति में कोई बहुत अधिक परिष्कार नहीं हो सकता है। इनके पास न तो कोई रंगमंच के लिये भवन है और न ही कोई 'स्टेज' है। जिस स्थान पर इन्हें अपना प्रदर्शन करना होता है, वह प्रतिवर्ष ही नहीं बदलता, प्रति दिन और प्रति प्रदर्शन में बदल जाता है। यदि इनके पास कोई प्रदर्शन-स्थल है तो वह है इनके 'घोटुल' की 'रचा' (रथ्या), और यही कारण है कि इनका संगीत खुले मौसम में होता है। मेघाच्छन्न काल में इनके लिये स्थान की ही उपलब्धि नहीं होती।

इनके लिये न तो चित्रांकित 'पर्दों' की आवश्यकता होती है और न ही भिन्न-भिन्न प्रकार के साज-शृंगार की। इन्हें अपने परिवेश में जो भी मिलता है, वही इनका शृंगार होता है। विविध नृत्यों में टोकनी, दीपक, दण्ड, कुत्ता,

मयूरपंख आदि की पूर्ति स्वाभाविक तौर पर हो जाती है। अपने घरों में यदि किसी नृत्य-सामग्री का अभाव होता है, तो ये उसे किसी से भी उधार ले लेते हैं।

दर्शकों के सम्मुख ये जब उपस्थित होते हैं, उस समय भी पर्दे के पीछे से नहीं आते हैं; अपितु दर्शकों के बीच से ही निकल कर पंक्तिबद्ध हो जाते हैं और नृत्य की प्रकृति के अनुसार एकाधिक पंक्तियों, अर्द्धवृत्त या वृत्तों में घिर जाते हैं। वैसे सामान्यतः पूरे बस्तर में इस सम्बन्ध में दो विधियाँ प्रचलित हैं—

(क) प्रथम विधि के अनुसार प्रत्येक नर्त्तक एक सीधी पंक्ति में खड़ा हो जाता है। फिर इस पंक्ति से एक को छोड़-कर दूसरा व्यक्ति सामने जाकर तदनुसार दूसरी पंक्ति बना लेता है। दोनों पंक्तियों के बीच में प्रमुख गायक रहता है।

(ख) द्वितीय विधि के अनुसार नर्तक एक वृत्त या अर्द्धवृत्त बना लेते हैं और उस वृत्त के भीतर 'गाइन' रहता है या कुत्ते को बैठा दिया जाता है।

आदिम नृत्यों तथा नाटों में गति और संकेत बहुत आलंकारिक होते हैं। एक ही प्रकार के पदचापों या संकेतों या क्रियाओं को बार-बार दुहराया जाता है तथा इनका लक्ष्य विशिष्ट विचार या भाव को सम्प्रेषित करा देना होता है।

घुटनों के बल पर नृत्य करने की क्रिया 'माँदरी' नृत्य की प्रमुख विशेषता है, जिसमें नर्तक कभी एक घुटने के बल पर और कभी दोनों घुटनों के बल पर नाच करता है। दोनों घुटनों के बल पर नृत्य करना यहाँ दया की याचना का प्रतीक है, जो कि नर्तक अपने आराध्य 'लिंगो' से चाहता है। एक घुटने के बल पर नृत्य आराध्य देव के प्रति सम्मानप्रदर्शन है। यह किसी के प्रति समर्पण का भी भाव होता है। इस प्रकार की विविध युक्तियों के माध्यम से आदिम नर्तक ने विविध प्रकार के सामाजिक अर्थों के सम्प्रेषण की तकनीक का आविष्कार कर लिया है।

चेहरे की विविध आकृतियों के माध्यम से यद्यपि आदिम कलाकार अपने विविध भावों को सम्प्रेषित करता है, किन्तु इसका विकास युक्तियुक्त तरीके से अभी तक नहीं हो पाया है। यहः पूरा ध्यान गायन की ओर रहता है। गायन के समय पदाघात किसी बात पर बल देने के लिये किया जाता है।

आदिम जनजातियों के 'दण्डारनृत्य' इस बात के प्रतीक हैं कि ये जनजातियाँ कभी योद्धावर्ग से सम्बद्ध रही होंगी। इन दण्डों की वही भूमिका होती है, जो युद्धभूमि में तलवार की होती रही होगी और यही कारण है कि 'दण्डारनृत्य' में किसी युद्धभूमि में तलवार चलाने वाले पुराने योद्धा का स्मरण हो आता है।

'दण्डरास' का यदि बारीकी से परीक्षण किया जाय तो उससे 'सैन्य' प्रकृति का आभास होता है। योद्धा के जीवन से मिलती-जुलती अनेक बातें उसमें देखने को मिलती हैं। नर्तकों के दण्डप्रहार में विशिष्टता इतनी अधिक होती है, कि कोई भी प्रहार पूर्व निश्चित तकनीक से बाहर का नहीं हो सकता। इसी दण्डप्रहार में हम देखते हैं कि बीच-बीच में चीखों की ध्वनियाँ भी निकाली जाती हैं, जो स्पष्टतः युद्धभूमि की चीखों का प्रतीक हैं। यहाँ गाए जाने वाले गीत भी 'रासनृत्यों' के गीतों की तुलना में घोषमय होते हैं और स्वरों का आरोह-अवरोह से एक खास प्रकार के वातावरण की निर्मिति होती है, जिससे रासनृत्यों की नीरसता समाप्त हो जाती है। यहाँ प्रत्येक नर्तक के घोष पर ध्यान दिया जाता है।

आदिम नृत्यों तथा नाटों में शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि अधिक परिमार्जन देखने को नहीं मिलता है, किन्तु इतना तो अवश्य है कि यहाँ के नर्त्तक तथा 'नाटकुरया' व्यक्तित्वों में फर्क करना जानते हैं और भावों की विविधता से परिचित हैं।

यह भी सही है कि अनेक विदेशी लोगों के लिये ये आदिम नृत्य तथा 'नाट' नीरस प्रतीत होते हैं। यह नीरसता इसलिये नहीं है कि इन आदिम कलाकारों में प्रतिभा का अभाव है, अपितु इसलिये है कि ये पारम्परिक नृत्य की सांकेतिक शैली को अपनाए हुये हैं, जो बाहरी दर्शक को अभिव्यंजक नहीं लगती। आदिम नृत्यों और 'नाटों' में मिलने वाला यह प्रभाव आकस्मिक रूप से नहीं आया है, अपितु अपने एक खास 'डिजाइन' के कारण आया है। इसीलिये आदिम कलाकार को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उन नियमों को समझें, जिनसे ये परिचालित होते हैं। किसी भी अपरिचित सांस्कृतिक क्रिया के वास्तविक आनन्दोपभोग के लिये हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम उस समाज के सांस्कृतिक आचार-विचार से परिचित हों।

प्रस्तुत प्रबन्ध के माध्यम से मैंने हिन्दी-पाठकों का परिचय द्रविड़भाषी बस्तर के एक ऐसे ही आदिम समाज से कराने का प्रयास किया है।

9.9. माँदरी गुरु

माँदरी-गुरुपरम्परा मुरियाक्षेत्र की अपनी पृथक् पहचान है। ये माँदरी-गुरु किसी वर्ग से न जुड़कर साम्य संघ का अपना स्वरूप आज भी बनाए हुए हैं।

9.10. गुरुमाय

बस्तर में धनकुल की परम्परा 1707 ई० में रक्षपालदेव के साथ उड़ीसा से आयी। पहले धनकुल उड़िया आरण्यक ब्राह्मणों के यहाँ होता था तथा गुरुमाएँ ब्राह्मणियाँ ही हुआ करती थीं। उस समय स्त्रियाँ जगार करती थीं और पुरुष धनकुल बजाते थे। ब्राह्मणों के सम्पर्क में आने के कारण जब धाकड़ो (ब्राह्मण पिता, आदिवासी माँ) ने धनकुल को अपना लिया, तो उड़िया (आरण्यक) ब्राह्मण अपने ही घरों में जगार करने लगे एवं दूसरी जातियों के यहाँ जाना छोड़ दिया। धाकड़ के सम्पर्क से हलबाओं ने इसे स्वीकारा और कालान्तर में भतरा जनों में इसकी स्वीकृति हुई। मुरियाक्षेत्र की कोण्डागाँव तहसील के भानपुरी आदि क्षेत्र की मुरिया नारियाँ भी इसे सम्पन्न करती हैं। गुरुमाय किसी भी जाति की ऐसी स्त्री हो सकती है, जिसे पूरा गीत कण्ठस्थ हो। चेलीगुरुमाय के रूप में गुरुमाय अपनी सहायिका को धीरे-धीरे अपने साथ पूरा पाठ कण्ठस्थ करा देती है और इस रूप में वह प्रशिक्षिका या गुरु का कार्य करती है।

9.11. नाटगुरु

प्रारम्भ में सभी नाटगुरु उड़ीसा के लोग थे, जो पारिश्रमिक लेकर आदिवासियों को नाट्य की शिक्षा देते रहे हैं। सम्प्रति उड़ीसा की परम्परा तो जीवित है, किन्तु स्थानीय भतरा, धाकड़, तथा राजमुरिया भी नाट्य की शिक्षा देते हैं। आदिवासी नाट में एक व्यक्ति पुस्तक लेकर खड़ा हो जाता है और शेष नाटकरया विविध पात्रों के सम्वादों का उस समय मूकाभिनय करते हैं, जब नाटगुरु पुस्तक को गद्य या पद्य रूप में उड़िया या भतरी में पढ़ता है। बस्तर में नाट की यह परम्परा जगदलपुर तहसील के पूर्वी क्षेत्र एवं कोण्डागाँव में मिलती है।

चार बांसों के चँदोवा से रंगमंच बनाया जाता है और सम्पूर्ण अभिनय खुले मैदान में होता है। नाटगुरु जब पुस्तक पढ़ता है तो पात्र बोलते या गाते नहीं हैं; अपितु भावप्रदर्शन करते हुए नाचते हैं। पात्र केवल हावभाव करते हैं।

आज जगदलपुर तथा कोण्डागाँव तहसीलों में विविध नामों से सैंकड़ो नाट्यमंडलियाँ कार्यरत हैं। जगदलपुर तहसील की प्रमुख नाट्यमंडलियों के नाटगुरु अधोलिखित हैं—

(क) मावलीगुड़ा की पीतरपद नाट का नाटगुरु हरी।

(ख) कलेपाल की नाट्यमंडली खंसबद का नाटगुरु धाकड़

(ग) कोयपाल-राजूर की नाट्यमंडली दोनावली

(घ) कोरेंगा-करंजी की नाट्यमंडली इंदिरागाँधी

इन नाट्यों की 'थीम' प्रायः पौराणिक होती है। उलनार में मैंने इंदिरागांधी के चरित्र पर आधारित एक नाटक देखा था।

टिप्पण

(1) 'वजनेया' के आज विविध वर्ग मिलने लगे हैं। कुछ बाजे ऐसे हैं, जिन्हें खास जाति के लोग ही बजाते हैं; जैसे निसान तथा मोहरी। पहले 'वजनेया' अलग से जाति होती थी, किन्तु अब वह महरा का पर्याय है।

(2) तंत्री वाद्यों का अधिक प्रचलन साधुओं व भिखारियों में है।

(3) मोहरी फूंकने वाले को 'मोहरिया' कहते हैं। मोहरी माता मावली का प्रिय वाद्य है।

(4) 'गायता' से सम्बद्ध मेरी प्रकल्पना पर के० सी० दुबे (1983) ने अपनी पीएच० डी० की थीसिस में जो आपत्ति उठाई है, उस पर यहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक है। पाकिस्तान, अफगानिस्तान तथा ईरान में बसने वाले प्राग्द्रविड़ की एक शाखा सिन्धुनदी को पार कर मध्यप्रदेश के पूर्वी क्षेत्र में ओराँव (ईसापूर्व 2500 में आगमन) नाम से सम्बोधित हुई तथा दूसरी शाखा गोंडवाना में आकर बस गयी, जिसे कोया कहा गया। इसके विविध परिवर्त्य; यथा कुइ, कुवि, कोण्डा इत्यादि का ब्राहुई (अफगानिस्तान की द्रविड़ भाषा) में आज भी 'पर्वतारोही' अर्थ है और 'कोण्डा' से विकसित गोंड भी उसी अर्थ का वाचक है। शब्दसांख्यिकी-गणना के आधार पर मध्यप्रदेश के नार्मदीय क्षेत्र में सर्वप्रथम गोंड ईसापूर्व 2000 में सिन्धुघाटी को पार कर आए। लगभग 2300 वर्षों के पश्चात् गोंडों में ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, जो सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आयी। इन्दोर से प्राप्त प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र (ई० आई० 24. 120) में 'गोंडराय ब्राह्मण' का उल्लेख मिलता है। यह 400 ई० का अभिलेख है। चूँकि 'गोंडराय ब्राह्मण' के साथ किसी वैदिक गोत्र या वैदिक शाखा का उल्लेख नहीं है; अतएव यह कहा जा सकता है कि ये 'गोंड' ही थे, जो ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया के कारण अपने को ब्राह्मण कहने लगे थे। नर्मदाक्षेत्र से इन गोंडों का आव्रजन बस्तर में हुआ, जिसके प्रमाण होशंगावाद जिले की गोंडी और दण्डामी माड़िया के अद्भुत साम्य में मिलते हैं। ब्राह्मणीकरण की यही प्रक्रिया बस्तर में गायता-संस्कृति में मिलती है। परवर्त्ती काल में जब गोंडों ने शक्तिसंचय किया तो उनमें 'क्षत्रियीकरण' या 'इस्लामीकरण' की प्रवृत्ति इसी प्रकार आयी, जिसके फलस्वरूप गढ़ा-कटंगा के गोंडराज का प्रादुर्भाव हुआ और अनेक गोंडनृपति अपने उपाधिनाम में 'साय' जोड़ने लगे। भारतीय मानव-विज्ञानी 'संस्कृतीकरण' या 'आदिवासीकरण' की इस प्रक्रिया से भली भाँति परिचित हैं। इसे समझ लेने से डॉ० दुबे की आपत्ति निराधार लगती है।

उपसंहार

निष्कर्ष

'आदिवासी-संगीत' के प्रस्तुत अध्ययन में माड़िया-मुरिया के लोकसाहित्य की विशिष्ट शाखा संगीत को **मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान** के आधार पर वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया गया है, जो लोकसंगीत के अध्ययन में सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत कर सकता है। संगीत के ऐतिहासिक विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि वाद्य, गीत, नृत्य और नाट परस्पर संग्रथित होने के **बावजूद** अपनी अलग-अलग विशेषतायें रखते हैं। इनकी अपनी स्वतंत्र शैलियाँ हैं और इनमें ऐतिहासिक एवं सामाजिक 'थीम' है।

इन कलात्मक विधियों की रचना की अन्तःप्रेरणा, इनके विकास को प्रभावित करने वाले कारण और इनका माड़िया-मुरिया समुदाय के लिये प्रकार्य यद्यपि बहुआयामी है, किन्तु सामूहिक उत्पादन होने की वजह से ये आपस में सम्पृक्त हैं और यह सम्पृक्ति आदिम संगीत और आगम संगीत की है। विना आगम संगीत के पहचान के आदिम संगीत की ऐतिहासिक व्याख्या नहीं हो सकती।

तदनुसार आदिम संगीत आगम परम्परा के ही विविध पहलुओं का जीवन्त अवशेष है, जिसकी अपनी जन-जातीय परम्परा है। अपनी मानसिक संरचना है।

मेरे इस अध्ययन से पूर्व संगीतज्ञों तथा मानवविज्ञानियों ने आदिम संगीत को आगम संगीत से असम्पृक्त करके देखने की जो प्रवृत्ति बना ली थी, उससे हटकर पहली बार इस प्रबन्ध में **तुलनात्मक-ऐतिहासिक दृष्टि** को विकसित किया गया है; उदाहरणार्थ आदिवासियों के संस्कारों या गीतों का अध्ययन करते समय एल्विन (1947) जैसे मानव-विज्ञानियों ने मिथकों और अन्धविश्वासों को तो खोजा है, किन्तु उनके कार्य-कारण की परीक्षा नहीं कर सके। मैंने **संरचनात्मक मानवविज्ञान** के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि **आदिम संगीत जनजातियों का सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है** और उसे बिना समझे आदिवासियों की जीवनशैली की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती।

आदिवासी संगीत की चाहे कुछ भी सीमा रही हो—अन्धविश्वास और अज्ञानता का इसमें भले ही मिश्रण हो, भले ही यह सभ्यजनों को नीरस और अव्यवस्थित लगे, लोगों को इसमें भले ही अश्लील परिहास के दर्शन हों, इसमें भावुकता और आभिचारिक नैतिकता से युक्त निर्णय चाहे जितने हों—तो भी यह आधुनिक श्रोता और दर्शक को 'अपील' करता है; क्योंकि यह जीवन्त और अकृत्रिम है।

आदिवासी-संगीत को हमें केवल अनुसन्धान के विषय के रूप में नहीं स्वीकृत कर लेना चाहिये। यह सामुदायिक उत्सवों का एक जीवन्त स्वर है। सामूहिक सुख-दुःख का दर्पण है। यह बहुत ही भोले किस्म के लोगों की जिन्दगी से जुड़ा हुआ है। इनका जीवन संगीत से ही प्रारम्भ होता है और संगीत में ही समाप्त होता है। संगीत आदिम व्यक्ति और समुदाय की सुख-समृद्धि का प्रतीक है।

—

सहायक ग्रन्थसूची

0.1. संस्कृत-ग्रन्थ

1. अथर्ववेद
2. अभिनयदर्पण (नन्दिकेश्वरकृत) अनु० वाचस्पति गैरौला, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967
3. आनन्दलहरी (शंकराचार्यकृत)
4. ऐतरेयब्राह्मण
5. ऋग्वेद
6. कथासरित्सागर (सोमदेव कृत)
7. कर्पूरमंजरी (राजशेखरकृत)
8. कालिकापुराण
9. कोसलानन्दमहाकाव्यम् (पाण्डुलिपि)
10. कौलावलीनिर्णय (तंत्र)
11. कूर्मपुराण
12. गंगवंशानुचरितम् (पाण्डुलिपि)
13. चण्डी (तंत्र)
14. तंत्रालोक (तंत्र)
15. दुर्गासप्तशती (तंत्र)
16. देवीरहस्य (तंत्र)
17. ध्वन्यालोक (अभिनवगुप्तकृत) चौखम्बा, 1965
18. नाट्यशास्त्र (भरतमुनिकृत) गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा, 1956
19. निर्वाणतंत्र (तंत्र)
20. नृत्याध्याय (अशोकमल्लकृत) संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969
21. पंचरात्रप्रामाण्य (तंत्र)
22. परशुरामकल्पसूत्र (तंत्र)
23. पातंजलदर्शन
24. प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमिश्रकृत)
25. प्राणतोषिणी (तंत्र), कलकत्ता 1920
26. भगवद्गीता
27. भागवतपुराण
28. भैरवयामलतंत्र
29. भैरवीतंत्र

30. महापरिनिर्वाणतंत्र
31. मार्कण्डेयपुराण
32. मालतीमाधव (भवभूतिकृत)
33. रामतापनी (तंत्रग्रन्थ)
34. रामायण (वाल्मीकिकृत)
35. वायुपुराण
36. विक्रमांकदेवचरित (बिल्हणकृत)
37. बृहद्धर्मपुराण
38. संगीतरत्नाकर
39. सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजकृत)
40. सौभाग्यभाष्कर (तंत्रग्रन्थ)
41. श्रीभाष्य (तंत्र)
42. श्रीमद्भागवत
43. हरिवंशपुराण

0.2. उड़िया प्रबन्ध और निबन्ध

44. गुरु, विधुभूषण : सम्बलपुरी नाच ओ गीतर प्रकृत स्वरूप, शंख 1.10 (1946) 604-610
45. महताब, हरेकृष्ण : कोया-संगीत, झंकार 12-5 (1960) 457-461
46. होता, अर्जुन : बस्तर-विजयनाटक (पाण्डुलिपि)

0.3. मुरिया-माड़िया-प्रबन्ध

47. शुक्ल, हीरालाल : 1968 घोटुलगीत (अप्रकाशित)
48. ,, ,, : 1971 तुलसीदास ना पिटो (अप्रकाशित)
49. ,, ,, : 1972 मुरिया-रामायन (अप्रकाशित)
50. ,, ,, : 1976 मुरिया–रामचरितमानस (अप्रकाशित)
51. ,, ,, : 1976 हेले (अप्रकाशित)
52. ,, ,, : 1976 आस्क रामायनतांग (अप्रकाशित)
53. ,, ,, : 1979 रामना-पिटो, भोपाल : मानससमिति
54. ,, ,, : 1980 रामनावेसोड़, भोपाल : मानससमिति

0.4. हिन्दी-प्रबन्ध

55. ठाकुर, केदारनाथ, वस्तरभूषण, बनारस 1908
56. परांजपे, शरच्चन्द्र श्रीधर : संगीतबोध
57. प्रेमी, नाथूराम : जैनसाहित्य का इतिहास
58. मीतल, प्रभुदयाल : व्रज का सांस्कृतिक इतिहास
59. शास्त्री, के० वासुदेव : संगीतशास्त्र, लखनऊ, 1968
60. शुक्ल : शत्रुघ्न लाल, ठुमरी का उद्भव और विकास

61. शुक्ला, श्रीमती तारा : 1976 मुरिया और उस पर छत्तीसगढ़ी का प्रभाव, पी-एच० डी० का अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर
62. शुक्ला, श्रीमती तारा : 1983 मुरिया की वैवाहिक परम्परा, दैनिक भाष्कर, 31 जुलाई
63. शुक्ल, हीरालाल : 19 9 बस्तर के वनवासी गीतों में गाँधी रायपुर : महानदी प्रकाशन
64. शुक्ल तथा तारा शुक्ला, 1971 मुरिया पर छत्तीसगढ़ी का प्रभाव, राष्ट्रबन्धु, रायपुर
65. शुक्ल, हीरालाल : 1976 गोंडी विभाषा अबुझमाड़िया की पदबन्धसंरचना, भारतीय साहित्य, आगरा
66. ,, ,, : 1977 लंका की खोज, इलाहाबाद : रचना प्रकाशन
67. ,, ,, : 1978 प्राचीन बस्तर, नागपुर : विश्वभारती
68. ,, ,, : 1982 अबुझमाड़िया-लोकगीत, भोपाल : हिन्दी साहित्य सम्मेलन
69. ,, ,, : 1982 जनभाषा और साहित्य, दिल्ली : वाणी प्रकाशन, भोपाल : हिन्दी साहित्य सम्मेलन
70. ,, ,, 1982 अबुझमाड़िया-शब्दकोश, भोपाल : हिन्दी साहित्य सम्मेलन
71. ,, ,, : 1983 मध्यप्रदेश की जनजातियों की चिन्तनप्रक्रिया, लोकप्रशासन, भोपाल
72. ,, ,, . 1983 मध्यप्रदेश की आदिवासी बोलियों के मौखिक साहित्य का समाजभाषिक अनुशीलन, पलाश, भोपाल
73. ,, ,, : 1983 मध्यप्रदेश के आदिवासियों के लोकसाहित्य के संग्रह का इतिहास, पंचायतराज, छतरपुर

0.5. English

74. Agnew, P. Wans A Report on the Subah of Chhattisgarh, Nagpur 1820.
75. Alexander, S. 1933. Beauty and other forms of Value, Clarendon Press, Oxford.
76. Bhanjadeva, P. C. 1965. I Pravir the Adivasi God, Raipur
77. Bhavanani, E. 1970. The Dance in India, Taraporewala Sons and Co., Bombay.
78. Blunt, Captain J. C. 1795. Asiatic Researches, Vol. III
79. Boas, Franz. 1955. Primitive Art, New York, Dover.
80. Chhatterton, B. E. 1916. The Story of Gondwana, London.
81. Coomarswamy, Anand K. The Dances of Shiv, Sagar Publications, Delhi.
82. Critchley, M. 1939. The Language of Gesture, Arnold, London.
83. Crooke, W. N. I. 1891. Notes and Querries, Vol. I,
84. Eliot 1861. Report on the Dependency of Bastar, Nagpur.
85. Elwin, Verrier. 1936. Leaves of the Jungle, London. Reproduced by Rajendra Awasthi in Hindi Novel by Jangal Ke Phool. Atmaram, Delhi 1966.
86. Epigraphia Indica, Vols. IX, XIII.
87. Elwin, Verrier, 1942. Ceremonial Cross-dressing among the Murias of Bastar, Man in India (Nos. 2-3).
88. ,, ,, 1943. Folklore of Bastar Man-God, Man in India (Vol. XLIII).
89. ,, ,, 1947. Muria and their Ghtoul, London.

90. Elwin, Verrier, 1949. Myths of Middle India, Bombay.
91. Glusfurd, Col. G. C. L. R. 1863. Papers Relating the Dependency of Bastar, Calcutta.
92. Ferguson, Lucille : Some early masks and dances, Modern Philology, No. 24, Chicago.
93. Hartwitz, E. P. The Indian Theatre.
94. Hislop, Rev. Stephen. 1866. Paper Relating to the Aboriginal Tribes of Central Provinces, Nagpur, Lingo-Myth.
95. Kakati, B. K. 19 18. The Goddess of Kamakhya, Gauhati.
96. Kieth, A. B. The Sanskrit Drama.
97. Krader, Lawrence. 1972. The Ethnological Notebooks of Karl Marx. Asser, Van Gorcum.
98. ,, ,, 1975. Asiatic Mode of Production, Assen.
99. Lenoir, Zaid D. 1925. Racial differences in Musical Capacities, thesis, Uni. of Lowa Library.
100. Lloyd, Albert L. 1967. Folksong in England. New York, International Publishers.
101. Lord, Albert B. 1960. The Singer of Tales, New York : Harward University Press.
102. Lukacs, Georg. 1971. What is Orthodax Marxism in History and Class Consciousness, London : Merlin Press.
103. Mahapatra, Kulmani. Tribal Dance : Its nature and function, Adibasi (1), 1964-65, pp. 15-20.
104. Marx, Karl. 1847. The Poverty of Philosophy, Moscow. Progress Publishers, 1955.
105. Mead, Margaret. 1935. Sex and Temperament in three Primitive Societies, New York : Morrow.
106. Metfessel, Milton. 1928. Phonophotography in Folk-Music, Uni : of North Carolina Press : Chapee Hill.
107. Munro, Thomas, 1965. Oriental Aesthetics, Ohio.
108. Myrdal, Gunnar 1968. Asian Drama : An enquiry into the Poverty of Nations, New York Pantheon.
109. O.' Flaberty, W. Doniager. 1973. Asceticism and Eroticism in the Mythology of Shiva, Oxford. London.
110. O'Malley, John B. 1972. The Sociology of Meaning, London : Human Context Books.
111. Prusty, R. P. 1978. Folk Musical Instruments of Orissa, Int. Seminar on Folk-Culture, Cuttack, Dec. 1978, pp. 16-18.
112. Radin, Paul. 1927. Primitive Man as a Philosopher, New York : Dover.
113. Sachs, Curt. 1940. The History of Musical Instruments, New York : W. W. Norton.
114. Santayana, George. 1896. The Sense of Beauty, being the Outline of Aesthetic Theory, New York : Scribness.

115. Seachore, Carl E. 1967. Psychology of Music, Dover Publications : New York.
116. Shukla, Hira Lal. 1972. Position of Jhoria in Gondi Dialects, Psycho-lingua : Raipur.
117. Sitapati, G. V. 1933. Sora Musical Instruments, Bull du Museed' Ethnographie du. Trocadero, Paris No. 5.
118. Smith, Marian W. (Editor). 1961. The Artist in Tribal Society, London : Routledge and Kegan Paul.
119. Temple, R. 1866. Papers relating to the Aboriginal Tribes of Central Provinces, Nagpur.
120. Tiwari, S. D. N. 1953. The Muria Nomenclature, Indian Forester (Nov. 1953).
121. Vansina, J. 1965. Oral tradition : A Study in Historical Methodology, London : Routledge and Kegan Paul.
122. Veblen, Thorstein. 1953. The theory of Leisure Class, New York : Mentor Books.
123. Wil Kinson, T. S. 1961. Ghotul School of The Muria Gonds of Bastar, Bangalore.

ADDENDA

124. Bhattacharya, S. 1968. Ethnomusicology in India, Calcutta.
125. Naidu, N. Y. 1975. Dashraha in Bastar, Folklore (Vol. XVII. No. 2) pp. 82-86.
126. Nariam, Alan P. 1964. Anthropology of Music, Evanston Ill North Eastern Uni. Press.
127. Knight, Roderic. 1983. Tribal Music of India, pp. 1-8, Folkways Records Album No FE 4028, Broadway, NYC, USA.
128. Kaufmann, Walter. 1960. The Songs of Hill Maria, Jhoria Muria and Bastar Muria Gond Tribes, *Ethno-Musicology* 4 (3) 115-28.
129. ,, ,, 1964. The Musical Instruments of Gond Tribes, Ethnomusicology, 5 (1) 1-9.

□

परिशिष्ट

1. जनजातीय सांगीतिक प्रयुक्ति

(क) संगीत

1.	आँगा-पेन	(मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामीमाड़िया) ककसाड़ नामक समारोह में भाग लेने वाला देवता
2.	गायता	(मुरिया, अबुझमाड़िया) नृत्यगीत और वाद्य का संचालक, सामवेदी उद्गाता से व्युत्पन्न
3.	घुमरा	(हलबी) संगीत, घनकुल-गीतों में प्रयुक्त
4.	घोटुल	(मुरिया) मुरिया-जनजाति के संगीत के प्रशिक्षण-केन्द्र, जिन्हें एल्विन ने 'केलिगृह' कहा था
5.	लिंगो	(मुरिया) बस्तर की मुरिया और अबुझमाड़िया-जनजातियों के आद्य संगीतज्ञ

(ख) वाद्य-संगीत

6.	अकुम	(अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया) तुरही
7.	अकोसा	(ह) ढोल लटकाने के लिये खूँटी, सं० अंकुश
8.	इरना	(मुरिया, झोरिया, अबुझमाड़िया) घुँघरू (झो), बैलों की घण्टी (अ), पैर की घण्टियाँ (मु०)
9.	उर—	(अ, झो, मु, द) मुँह से फूंककर सुषिर वाद्य बजाना
10.	उरम-घाड़	(मु०) ढोल का एक पाटाक्षर
11.	उलुड़	(अ, झो) बाँसुरी
12.	ऊद्—	(द) बाँसुरी बजाना
13.	उसुर—	(द) सीटी बजाना
14.	एड़वेड़	(अ) चिड़ियों को डराने के लिये प्रयुक्त झुनझुना
15.	ओझा-पर्रा	(मु) हुलकी-माँदरी का अपर पर्याय
16.	ओसोड़	(द) बाँसुरी
17.	कच-टेहेण्डोर	(झो) घनवाद्य का एक प्रकार
18.	कटवाकिंग	(मु) घनवाद्य का एक प्रकार
19.	किरगिच	(द) एक सांगीतिक वाद्य
20.	किंदरी	(मु, प) ततवाद्य का एक प्रकार, किनेरी (कु), किन्नरा (सं)
21.	किकरी	(म, आ, को) सारंगी
22.	कीकिड़	(द) सारंगी

23. कुँआरी-मावली-पाड़ — (मु) बाँसुरी का एक पाटाक्षर
24. कुँदुर — (मु) तुड़बुड़ी, तूर्यवाद्य
25. कुँदुरी — (मु) तुड़वड़ी, तूर्यवाद्य
26. कुँदुरुका — (मु) तुड़बुड़ी, तूर्यवाद्य
27. कुंजाड़ — (अ) वाद्यविशेष
28. कुन्दिड़ — (मु) कुन्दुड़ (अ), कुन्दीड़ (झो) एक छोटा ढोल
29. कुटोर्का — (मु) पिटोर्का का अपर नाम
30. केकरेङ्ग — (मु) ततवाद्य का प्रकार
31. कोटेला — (अ, मु) दण्ड
32. कोण्डागाँव-पाड़ — (मु) ढोल का एक पाटाक्षर
33. कोर-पुदे-पाड़ — (मु) ढोल का एक पाटाक्षर
34. खड़खड़ा — (मु) ततवाद्य का एक प्रकार
35. खूँट-माँदरी — (मु) दो पल्लियों वाला मिट्टी या काष्ठ का ढोल
36. खोंडा-डोकरा-पाड़ — (मु) बाँसुरी का एक पाटाक्षर
37. गँड़वा — (ह) वाजा बजाने वाली एक जाति
38. गुड़दुम — (ह) वाद्य की ध्वनि
39. गोंडिन-पाड़ — (मु) ढोल का एक पाटाक्षर
40. गोगा-ढोल — (मु) एक पल्लीवाला काष्ठनिर्मित ढोल
41. घण्टा — (ह) घण्टा
42. घण्टी — (ह) घण्टी
43. घसिया — (ह, मु) घनवाद्यों के निर्माता
44. चटालघाय — (ह) माँदर नामक वाद्य की ध्वनि
45. चरनकाड़ी — (ह) छिरतकाड़ी (ह) घनकुल के धनुष की कमान से रगड़ी जाने वाली बाँस की नली, क्षरणकण्डिका (सं)
46. चाँग — (ह) मृदंग का फारसी-पर्याय, चंगि (फा), चांग (मुण्डा)
47. चाँग-चाँग — (मु) मृदंग की ध्वनि
48. चिटकुल — (मु, अ, झो) घनवाद्य का एक प्रकार, मँजीरा; काहली (ह०), रायसिड़ी (द०)
49. जीका — (झो) मुँह से बजाया जाने वाला सुषिर-वाद्य
50. टुडरा — (मु) पिटोर्का का अपर नाम
51. टेन्दोड़ — (द) टेह्डोड़ (मु, अ) मुँह से बजाया जाने वाला वाद्य
52. टोड़ी — (ह) तुरही जैसा एक वाद्य, त्रोटक (सं), अक्कुम (मु)
53. टोयलि — (मु) तत-वाद्य का एक प्रकार, टोयेला (प)
54. टुटुर्का — (मु) पिटोर्का का अपर नाम
55. डमरू — (मु) हुलकी-माँदरी का अपर नाम, डमरुक (सं)
56. डाकी — (मु) घनवाद्य का प्रकार, खंजरी
57. डुमिर — (मु, को), डुमिड़ (द), डुमरी (मु) ततवाद्य का एक प्रकार

58.	डोला	(दो) नँगाड़ा
59.	डोल	(द) ढोल, (झो, आ, मु, ह) काष्ठ निर्मित दो मुखी ढोल, ढोल्ल (अव)
60.	ढिंढोरा	(ह) ढिंढोरा, डिण्डिम (सं)
61.	ढुसिर	(मु) सारंगी का एक प्रकार, दे० किकरी
62.	तन-, तन्द—	(अ) ढोल बजाना, तन्नु (ते)
63.	तार	(आ, छ) वाद्य की तार
64.	तासा	(ह) गोलाकृत थालीनुमा ढोल जो किसी की मृत्यु के अवसर पर बजाया जाता है, तासा (छ) चमड़ा मढ़ा हुआ वाद्य, तास (पर्सो-अरेबिक)
65.	तोस	(द) बाँसनिर्मित लघुवाद्य
66.	तुरंजू	(अ) बाँसुरी
67.	तुरम	(अ) काष्ठनिर्मित एक पल्ली वाला गोचर्मयुक्त ढोल, तुडुम (आ, ते), डी० ई० डी० 2699
68.	तुरबुड़ी	(ह) अर्द्धगोलाकृत मृत्तिका ढोल, तुड़बुड़ी (मु), शहनाई के साथ बजाया जाने वाला एक वाद्य, **टुड़बुड़** (मु०) तश्तरी लगा हुआ एक ढोल, दे० कुण्डीड़, तूर्य (सं)
69.	तोड़ी-पर्रा	(मु) पराङ्ग ढोल का अपर नाम
70.	तोहेली	(मु) ततवाद्य का एक प्रकार
71.	दफड़ा	(छ) ढफली, डफ के आकार का एक वाद्य
72.	दाड़ंगो-उण्डाना-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
73.	दासो-काड़ी	(ह) वाद्य का एक प्रकार, दास-काड़्या (उड़िया)
74.	नगाड़ा	(ह) **नगारा** (छ), **नगोड़ा** (झो), **नाँगोरा** (मु) बड़ा ढोल, नगाड़ा, न्यक्कार (सं)
75.	नगारची	(ह) **नँगारची** (मु), **नगरची** (छ) नगाड़ा बजाने वाला, फारसी प्रभाव
76.	नफेरी	(छ) सुषिरवाद्य का एक प्रकार, नफीरी
77.	नरपरांग	(मु) मिट्टी का मृदंग
78.	निसान	(ह,छ,मु,द) एक पल्ली वाला ढोल, निस्साण (सं)
79.	नेक—	(अ, मु, द) बाजा बजाना (मु), घण्टी बजाना (अ, द), डी० ई० डी०—579
80.	नेकिह्—	(द) घनवाद्य बजाना
81.	नेकड़	(द) घनवाद्य की ध्वनि
82.	नेयी-तरहाना-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
83.	पर्रा	(मु) मृत्तिकानिर्मित कमर में लटकाया जाने वाला गोचर्मयुक्त दोमुखी ढोल, **पर्राय** (अ), **फरा** (आ), डी० ई० डी०—3319
84.	परघाव-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
85.	पाड़	(ह, अ, मु) ढोल की धुन, **पाट** (सं), **पार** (छ)
86.	पिटोर्का	(मु) काष्ठनिर्मित प्याली के आकार की घण्टी
87.	पेपरे	(आ) पाइप के आकार का सांगीतिक वाद्य

छायाचित्र क्रमांक–15. दण्डामी माड़िया नवयुवतियाँ : तिरडुडी पकड़े हुए नृत्य की मद्रा में

88.	पेस—	(द) ढोल बजाना, पेहच-(मु) ढोल बजाना, ताली बजाना; पॅंच (को) ढोल बजाना।
89.	पोञ्वा	(आ) बासुरी, संस्कृत से व्युत्पन्न
90.	बजनेया	(ह) ढोल-बजाने वाला, संगीतज्ञ, वाद्यपनिक (सं)
91.	बजा—	(ह) बजाना (सुषिर व घनवाद्य) दे० नेक—
92.	बाँउसी	(ह) बासुरी
93.	बाज—	(ह) सांगीतिक वाद्य बजाना, वाद्य (सं)
94.	बाजा	(ह,मु) संगीत, ढोल, वाद्य संगीत, वाद्यक (सं) लिंगो के अठारह वाद्य तथा राजा के बारह वाद्य
95.	बिन बाजा चो सत्ती जा-	(ह) बिना बाजा के सती होना
96.	बूढ़ा-डोकरा-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षर
97.	बैण्ड-बाजा	(ह) बैण्ड-बाजा
98.	भंगाराम-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षर,
98.(अ)	भरेवा	(मु, ह) घनवाद्यों के निर्माता
99.	भामिनी-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षर
100.	भीमुल	(मु) आद्य माँदरी गुरु
101.	भीमुल-पाड़	(मु) एक पाटाक्षर-समूह
102.	मरदाल	(ह) मृदंग, ढोल, मर्दल (सं)
103.	माउड़-तताना-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
104.	माटी-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
105.	माड़ा-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
106.	माता-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षर
107.	माँदर	(ह) माँदरी (मु) काष्ठनिर्मित दो पल्लियों वाला ढोल
108.	माँदर-पेलनी-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
109.	माँदरी-गुरु	(मु) ढोल बजाने वालों का मुखिया
110.	माँदरी-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षर
111.	मावली-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षर
112.	मावालोटी	(मु) निसान ढोल का अपर नाम
113.	मिरदिंग	(मु,ह) मृदंग
114.	मुया	(मु), मूय (द) पीतल या लोहे की नृत्य घण्टिका, मुया, (अ) जानवरों की घण्टी
115.	मुरदा-बाजा	(ह) मृत्युढोल, मरनी ढोल (ह), हामुर-ढोल (मु)
116.	मुरुंग-मुरुंग	(मु) माँदर की ध्वनि
117.	मोहरी	(मु,छ,ह) मुयिर (को) शहनाई, मधुकरी (सं)
118.	मोहरेया	(ह) शहनाईवादक
119.	येरकन्याङ्ग	(मु) जलकन्याएँ, ढोलों के शोधन की देवियाँ

120.	राजा	(मु) मुरियासंगीत में लिंगों के पश्चात् द्वितीय स्थान, मुरियासंगीत को बारह वाद्य प्रदान किया
121.	लागिड़-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षरसमूह
122.	लिंगो-पाड़	(मु) वाद्यों का एक पाटाक्षर, बासुरी का एक पाटाक्षर समूह
123.	लोहाटी	(मु) निसान ढोल का पर्याय
124.	वंगाराम-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षरसमूह
125.	वड़ेम	(मु) ढोल लटकाने के लिये खूँटी, दे० अकोसा
126.	वर्क-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षरसमूह
127.	वाइकोर	(मु) ढोल लटकाने के लिये खूँटी, दे० अकोसा, **लोयकोड़** (द)
127. अ.	वाजा	(द) घण्टिका
128.	वानेर	(को) गिटार बजाने के लिये प्रयुक्त मिजराब
129.	वेन्च—	(को) घनवाद्य बजाना, डी० ई० डी० 4571
130.	सगा-पाड़	(मु) ढोल का एक पाटाक्षरसमूह
131.	साज	(छ) वाद्यों का समूह
132.	सारंगी	(मु) प्रचलित सारंगी के समान
133.	सिसकाड़ी	(ह) सीटी
134.	सिसकाड़ी-पाड़—	(ह) सीटी बजाना
135.	सुलुड़	(मु) उलुड़ि (अ) हुलुड़ (मु) चार छिद्रों वाली बासुरी
136.	सेलोड़ी-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षरसमूह
137.	सोन-कुंअर-पाड़	(मु) बासुरी का एक पाटाक्षरसमूह
138.	हकुम	(मु) सींगी नामक सुषिर वाद्य, दे० अकुम
139.	हिड़बिड़-हिड़बिड़	(मु) वाद्य की ध्वनि
140.	हुलकी-माँदरी	(मु) एक ही काष्ठखण्ड निर्मित ढोल

(ग) कण्ठ्य संगीत : श्रव्य सम्प्रेषण

141.	अरथ	(ह) अर्थ
142.	आवाज	(ह) घोष, ध्वनि
143.	ऊगे	(द) मन्द्र घोष
144.	ओझा	(मु) मुरिया-क्षेत्र के पारम्परिक गायक
145.	ओय—	(अ) गीत गाना
146.	ककसाड़	(अ) गोत्रदेवतोत्सव-संगीत
147.	कत—	(अ) कहना
148.	कोटनिया	(ह) **कोटनिन** (ह) **कोटनी** गीत गाने वाली
149.	गीत	(ह) गीत, दे० पाटा
150.	गीतकरिन	(ह) **गीतकुरिन** (ह) गायिका
151.	गीतकुरया	(ह) गायक

152.	गीतगाऊ	(ह०) गायक
153.	गीतगोविन्द	(ह) गीत
154.	गुरुमाय	(ह) जगारगायिका
155.	गोठ	(ह) बोली, बातचीत
156.	गोठिया—	(ह) बातचीत करना
157.	घोसा	(ह) घोषणा, गीत की टेकपंक्ति, रोचे (मु)
158.	चरक—	(ह) किसी व्यक्ति के पक्ष में बोलना
159.	चिचिआ—	(ह) चीत्कार करना
160.	चुगुल	(ह) विषाक्त फुसफुसाहट
161.	चेह—	(आ) विवाहोत्सव में एक दूसरे को दर्पण दिखाकर गीत गाना
162.	चोहड़ा—	(ह) चिकनी-चुपड़ी बातें करना
163.	टपी	(ह) गीत में बार-बार दुहराई जानेवाली पंक्ति
164.	टेक	(ह) गीत की टेकपंक्ति
165.	तान	(ह) सांगीतिक तान
166.	दागो	(अ) तीव्र घोष
167.	दीस	(ह) सुर, तर्ज, राग, दे० राग, देशी (सं)
168.	दुइ-अरवरी	(ह) गाली, द्वि-अक्षरिका (सं)
169.	पाटगुरुमाय	(ह) प्रधान गुरुमाय
170.	पाटा	(मु, झो, अ, द, दो) गीत
171.	पार—	(को) गीत गाना, डी० ई० डी० 3348
172.	फुसुर-फुसुर	(ह) फुसफुसाहट
173.	बक—	(ह) अपशब्द कहना, वाक् (सं०)
174.	बकेया (ह)	वाक्य (सं)
175.	बड़बड़ा	(ह) मर्मर की ध्वनि करना
176.	बड़म—	(ह) नींद में बड़बड़ाना
177.	बाचा	(ह) वाक्, वचन
178.	बाखना	(ह) अपशब्द, व्याख्यान (सं)
179.	बानी	(ह) वाणी (सं)
180.	भाखा	(ह) भाषा
181.	माट	(मु, अ, द, दो) भाषा, शब्द
182.	मुण्डा	(ह) दण्डामी-माड़ियाक्षेत्र के पारम्परिक गायक
183.	वार—	(मु, आ) गीतगाना, वाड़ (अ) गीत गाना, डी० ई० डी० 3348
184.	वारवाल	(मु) गायक
185.	राग	(ह) राग, दे० दीस
186.	रेलो	(मु) सामूहिक गीत

187.	रोचे	(मु) गीत की टेकपंक्ति (सं) प्ररोचना
188.	लेकना	(मु) गीत की वस्तु या थीम
189.	साँग	(ह) कहना, समाख्या (सं)

190. मुरिया-अबुझमाड़िया गीतों के 175 प्रकार हैं, जो मेरी पुस्तक **जनभाषा और साहित्य** (1982) **में है।** अतएव उनका यहाँ उल्लेख नहीं है।

(घ) नृत्य : आंगिक अभिनय

191.	अँजरी	(ह) अंजलि, कोड़प (द)
192.	अच—	(झो) लकड़ी या बाँस से आग निकालना, अर्चि (सं)
193.	अड्डो	(अ) नियम, रीतिरिवाज
194.	अन्ज—	(अ) गुदगुदी लगना
195.	अलिहक—	(अ) चबाना
196.	आँइख	(ह) अक्षि
197.	आँइख-मार—	(ह) कटाक्ष करना, कोण्डा किसिम कीनद (द), किसिमना (मु)
198.	आँइख-मारामारी	(ह) कटाक्ष करने की क्रिया, कोण्डा किस्मा-किस्मी (मु)
199.	आँइख-लीम—	(ह) आँख बन्द करना
200.	आँग	(ह) (अंग), मेंदुल, (मु)
201.	आँगा	(ह, मु, अ, द) काष्ठनिर्मित देवता की सवारी
202.	आटा-काड़्प—	(द) आलिंगन करना
203.	इट—	(अ) संस्पर्श करना
204.	इड़स—	(झो) कंघी करना
205.	इल्व	(अ) ओंठ
206.	इसारा	(ह) संकेत
207.	ईड्क—	(अ) नोचना, घसीटना
208.	एड़िह—	(अ) जादू करना
209.	एन्द—	(मु, झो, अ, द, दो) नाचना, डी० ई० डी० 757
210.	एलाड़	(अ) देवीपर्व
211.	एले	(अ) नरबलि, हेले (मु)
212.	ककसाड़	(अ) कगसाड़ (झो) कर्साड़ (मु, द) जात्रा, देवीपर्व
213.	कदम	(ह) पग, डाका (मु)
214.	कर्स—	(अ, मु, झो) खेलना, तैरना (द), डी० ई० डी० 1172
215.	कर्सना-एन्दाना	(मु) क्रीडानृत्य
216.	कव—	(मु, अ, द) हँसना डी० ई० डी० 1053
217.	कस्क—	(अ) दाँत से काटना
218.	काटी-दाँदर	(मु) चैत्रदण्डरास की विशेष नृत्यशैली
219.	कापू-डाका	(मु) डण्डारनृत्य में कापू पक्षी-जैसा विशेष पदसंचार

220. किस्क— (अ) नाखून से काटना
221. कुकुर-कोलांग (मु) पूस-कोलांग का पर्याय
222. कुस— (अ) कटि से ऊपर के वस्त्र उतारना
223. कोकटी (मु) नृत्य की एक शैली
224. कोकोटार-डाका (मु) पदसंचार का एक प्रकार
225. कोकोटार डाका एन्दाना (मु) पेन-एन्दाना का प्रकार
226. कोकोड़ा-कर्सना (मु) कोकोड़ा पक्षी-सा नृत्य
227. कोजि (अ) खोज (ह) पदचिह्न
228. कोला (अ, मु) नृत्य में प्रयुक्त दण्ड
229. कोला-एन्दाना (मु) डण्डारनृत्य
230. कोर— (आ) नृत्य में झुकना
231. खण्ड-मुचकी (ह) आधी मुस्कराहट, खण्ड मुचकी मारतो बीती गोरी (ह)
232. खिआल (ह) मसखरी, कवाड़ (मु)
233. खोकल (ह) खाँसना
234. खोर-दुआर (ह) नृत्यभूमि, रचा (मु)
235. गाइन (मु) रासनृत्यों में गायनदल का मुखिया
236. गिजड़— (ह) दाँत निपोरना, गृध्य (सं)
237. गीड़ि (अ) पंक्ति
238. गुगुरिंग-गिस-कर्सना (मु) क्रीड़ानृत्य की एक शैली
239. गुंज-गुंजदख— (ह) टुकुर-टुकुर देखना
240. गुमटीहो— (ह) सिकुड़ना
241. गोंड— (ह) दाँत से काटना
242. गोद— (ह) टीका लगाना
243. गोदना (ह) गोदना, 7-8 वर्ष की आयु से स्तन आदि शरीरावयव पर स्वस्तिक, सूर्य तथा चन्द्र आदि का प्रतीक, अंजेला (मु), डोमका (मु)
244. गोभ— (ह) किसी वस्तु को मुँह में रखना
245. गोय— (द) बच्चे जैसे घुटने के बल चलना
246. गोहार (ह) पुकार, अभ्यर्थना, गोहावरिक (सं)
247. घेंघरा— (ह) नाक से बोलना
248. घेपल— (ह) गर्दन पकड़ कर निकालना, ग्रहापक (सं)
249. चपल— (ह) रबड़-जैसी वस्तु चबाना
250. चरका— (ह) चिढ़ाना
251. चाऊर-बाँच— (ह) चावल को गिनकर सिरहा द्वारा भविष्यवाणी करना
252. चिना (ह) चिह्न
253. चिनी-अँडरबी (ह) कनिष्ठिका

254. चुटकी-बजा— (ह) चुटकी बजाना, बच्चों की सुस्ती दूर करने के लिये
255. चेचकार— (ह) गर्दन का निचला भाग पकड़ कर गाना
256. चेटा (ह) अँगूठा (व्यंग्यार्थक)
257. चैत-दांदर (ह) नृत्य की एक शैली
258. छीक (ह) छींक
259. छेरता (मु) पुरुषों के नृत्य की एक शैली
260. जलकन्नि-कर्सना (मु) क्रीड़ानृत्य की जलकन्या-शैली
261. जोक्ता (मु) रासनृत्यों में वादनदल का प्रमुख, योक्ता (सं०)
262. जोहार (ह, मु, द, अ) अभिवादन
263. टँडक-लटक (ह) होली के समय डण्डारीनृत्य के अवसर पर ध्वनि
264. टुण्ड— (अ) आलिंगन करना
265. डग-डग दख— (ह) एकटक देखना
266. डण्डासन (ह) दण्डाकार
267. डाका (मु) डाँहका (ह) पदसंचारण, पदचाप
268. डिटो-एन्दाना (मु) गेंड़ी नृत्य
269. डिड़की (अ, झो) एक पैर पर खड़े होना
270. डिवाड़-एन्दाना (मु) दीवालीनृत्य, दीवाड़-एन्दाना (मु)
271. डीडा-गोड़ी हो— (ह) पंजे के बल खड़े होना
272. ढकार (ह) डकार, उद्गार (सं०)
273. तिरि— (अ, मु, द) मण्डलाकृति में घूमना
274. दांता-किटकिट (ह) कलह, पल्ले वायना (मु)
275. दाँत-गिजड़— (ह) दाँत निकालना
276. देवकोलांग (मु) देवताओं का दण्डरास
277. देवखेलनी (ह) देवताओं की क्रीडा, पेन-करसाड़ (मु)
278. दुर्पा-डांडी-कर्सना (मु) कमलनाल का क्रीड़ानृत्य
279. धराधरी (ह) हाथापाई
280. धांगड़ा (ह) नवयुवक (अविवाहित)
281. धांगड़ी (ह) नवयुवती (अविवाहित)
282. नई-कोलांग (मु) कुत्ते का-सा नृत्य, पूसकोलांग नृत्य की शैली
283. नकटा (ह, मु, द) छेरता नृत्य में युवकों का नेता
284. नक्टी (मु) तारानृत्य में युवतियों की नेत्री
285. नचकार (छ) नचकरहा, (छ) नाचकुरया (ह), नर्त्तक
286. नचकारिन (छ) नाचकुरिन (ह), नर्त्तकी
287. नंजर (ह) दृष्टि, नज्र, (अरेविक)
288. नाक-घोर— (ह) नाक बजाना (निद्रा का भाव)

289.	नाक-डांडी-कर्सना	(मु) क्रीडानृत्य की एक शैली
290.	नाक-मोड़ी	(ह) विवाह के अवसर पर सम्पाद्य एक नेग जिसके अनुसार साली वर की नाक को मसलती है तथा जीजा उपहार में वस्त्र प्रदान करता है।
291.	नाच	(ह) नृत्य
292.	नाचकोठार	(ह) नृत्यकोष्ठागार
293.	नीलटेर	(अ) हिचकी
294.	पण्डुम	(अ) उत्सव
295.	पांजियार	(अ) तांत्रिक
296.	परचोपाटी	(अ, मु) ज्योतिष
297.	पाँग	(ह) मारणमंत्र फूंकना
298.	पाँगन	(ह) मारणमंत्र, अभिचार, तंत्र, पंचागुलिकर्म (सं)
299.	पाठगुच्चा	(ह) पीछे हटने की क्रिया
300.	पायँ ने भँवरी	(ह) हमेशा चलते रहने का लक्षण
301.	पायँ पड़—	(ह) पैर पड़ना, विवाहमण्डप के दूसरे दिन चिवड़ा आदि बाटने के पश्चात् वरपक्ष के लोग वधूपक्ष वालों को साष्टांग प्रणाम करते हैं और यह क्रिया इतने देर तक चलती है कि लोग पसीने से लथपथ हो जाते हैं।
302.	पायँ-लमा	(ह) पैर लम्बा करना, सुस्ताना
303.	पालकी	(ह) पालथी
304.	पिंडरी	(ह) पिंडली
305.	पींडा	(ह) कटि, कूल्हा, पिण्डक (सं)
306.	पुटुर-पुटुर	(ह) दबे ओंठ से
307.	पुन्नी-नाच	(ह) पूर्णिमा नृत्य, जाजरी (ते)
308.	पुरक—	(ह) मुँह में पानी लेकर फटफटाते हुये ओठों से फेंकना
309.	पूस-कोलांग	(मु) घोटुल के नृत्य की एक शैली
310.	पेन-एन्दाना	(मु) देवताओं का रासनृत्य
311.	पेन-कोलांग	(मु) देवताओं का दण्डरासनृत्य
312.	पोटार—	(ह) आलिंगन करना, ओरंग (मु)
313.	पोटारा-पोटारी	(ह) परस्पर आलिंगनबद्ध होना, ओरंगा-ओरंगी (मु)
314.	फकफका—	(ह) कहकहा लगाना
315.	फूंडा	(ह) हाँफी
316.	बटाल-बटाल-दख	(ह) क्रोध में लाल-लाल आंखें दिखाना
317.	बरकसी हातघर—	(ह) बलात्कार करना
318.	बाहाँधर—	(ह) बलात्कार करना, कयकाल बोयना (मु)
319.	बिजरा—	(ह) मुँह बनाकर चिढ़ाना
320.	बुर—	(द) चूमना

321.	बेंदरी एन्दाना	(मु) वानरनृत्य
322.	बो—	(अ) अनजाने में संस्पर्श करना
323.	बोमा	(अ) अनजाने में भी संस्पर्श न करने योग्य, स्तन
324.	भँवरी	(ह) हाथ की चक्राकार रेखा, भ्रमरिका (सं), गीड-सिंगार (मु)
325.	भकभका—	(ह) अनावश्यक हँसना, ठहाका लगाना, भाष (सं)
326.	भिडाभिड़ी	(ह) सहवास, अभिपीडन (ह)
327.	भोबड़ा	(ह) हकलाना
328.	मलको	(ह) मटकने वाली युवती, वल्गु (सं)
329.	महुआ-दांदर	(मु) चैतदाँदर-नृत्य की शैली
330.	माडी-कुटा-बस—	(ह) घुटने के बल बैठना
331.	माडीटेक—	(ह) घुटने टेकना
332.	माड़्क—	(अ) झाँकना
333.	मादरी-नाच	(मु) नृत्य की एक शैली
334.	मार—	(अ) मसखरी करना
335.	मिट-मिट-दख—	(ह) किसी सम्पन्न व्यक्ति को देखकर मुँह ताकना
336.	मिड़्नद—	(द) वलयाकृति में घूमना
337	मिलखी-मार—	(ह) पलक मारना
338.	मुचका—	(ह) मुस्कराना
339.	मुचकी	(ह) ओंठ दबाकर व्यक्त मुस्कराहट
340.	मुटुर-मुटुर	(ह) टुकुर-टुकुर देखना
341.	मुस-मुस-कव—	(द, मु) मुस्कराना
342.	मुह-ओयरा—	(ह) मुँह लटकाना
343.	मुह-दख—	(ह) मुँह देखना
344.	मुह-लुका—	(ह) संकोचवश किसी के सामने आने का साहस न करना
345.	मूंडे हात दे—	(ह) शोच में पड़ जाना
346.	मूस्क—	(द) सूंघना
347.	मोक—	(अ) छिपना
348.	मोटियारी	(ह) जातीय संगीतज्ञा घोटुल की युवती सदस्या
349.	मोड़क—	(द) प्रार्थना करने के लिये नीचे झुकना
350.	मोहिनी	(ह) आकर्षण
351.	रचा	(अ, मु, आ) नृत्यभूमि, रथ्या (सं)
352.	राउड़	(अ, मु) देवी का स्थान, मन्दिर
353.	राफड़—	(ह) नाखून से खुरचना
354.	रेकटा	(ह) हाथ की रेखायें, रेखाकृत (सं)
355.	रोचे-सेला	(मु) जोक्ता का अपर नाल
356.	लपटा—	(ह) लिपटाना, आलिंगन करना

357.	लया	(मु) घोटुल की युवती सदस्या
358.	लयोर	(मु) घोटुल का युवक सदस्य
359.	लात-मार—	(ह) लात मारना
360.	लिंगो-एन्दाना	(मु) लिंगोनृत्यशैली
361.	लिच्-पड़—	(ह) झुकजाना
362.	लिबलिबा	(ह) बुझी हुई आँखों वाला
363.	लिमटा—	(ह) आँखें मूंदना
364.	लोटा-लोटी	(ह) सम्भोग की क्रिया
365.	लोर	(ह) मारपीट का निशान, लोहभर (सं)
366.	विहक—	(अ) पैर से मारना
367.	सपोटा	(ह) सन्तुलित शरीरवाली
368.	समधी-जोहार	(मु) नृत्य की एक मुद्रा
369.	समिलहा	(मु) नृत्य में पदसंचारण की एक शैली
370.	साय—	(अ) धक्का देना
371.	सैगा	(ह) संकेत, संकेत (सं)
372.	सै-सरन	(ह) सौ बार प्रणाम
373.	सुसरा अँडरवी	(ह) मध्यमा अँगुली, सुपुम्ना अंगुष्ठिका (सं)
374.	हँफर—	(ह) हांफना, हापिका (सं)
375.	हतोड़ी	(ह) हथेली, हस्ततलिका (सं)
376.	हबक—	(ह) (गुस्से में) दांत से काटना
377.	हर-एन्दाना	(मु) वीथीनृत्य
378.	हांसी	(ह) हँसी, हास्य (सं)
379.	हाँसी-खिआली	(ह) हंसी-मजाक
380.	हात-घर	(ह) बलात्कार करना
381.	हाय-झुमासी	(ह) अँगड़ाई, हापिका (सं)
382.	हिचलेहार	(मु) पेनएन्दाना में पदसंचार की शैली
383.	हुलकी-एन्दाना	(मु) हुलकी-नृत्य

(ङ) आहार्य अभिनय

385.	अदम	(अ) दर्पण
386.	अरो	(अ) निषिद्ध
387.	आची	(अ) साड़ी का किनारा
388.	आटापल्ली	(अ) कमर में बाँधने का कपड़ा
389.	इचाड़	(अ, मु, झो) बाँस की बनी कंघी
390.	ईड़् स—	(अ, मु) कंघी करना
391.	ऊड़—	(आ) कंघी करना

392.	एड़्जबल	(द) मुखौटे का एक प्रकार
393.	कड़घन	(ह) करधन
394.	कण्ठी	(ह) तुलसी या सोने की माला
395.	कन्हैया-डोरी	(ह) कमर की डोरी
396.	कपड़दार	(ह) राजा को वस्त्रों से सुसज्जित करने वाला
397.	कपड़दारिन	(ह) रानी को वस्त्रधारण कराने वाली सेविका
398.	कलगी-खोपा	(ह) आदिवासी स्त्रियों का केशालंकरण, **कुंजाड़** (मु, द)
399.	कलामेधि-साड़ी	(ह) मिथकीय साड़ी
400.	काटी	(मु) दाँदर या दण्ड, नृत्य में प्रयुक्त
401.	कारी-गाँठ	(ह) मंगलसूत्र
402.	काल-वके	(द) नृत्य-घुँघरू
403.	कोकटा	(द) नृत्य में शिरोलंकरण
404.	कोकटी	(मु) नृत्य के अवसर पर लकड़ी का एक प्रतीकात्मक अश्व
405.	कोगुल	(द) बाँस की टोपी
406.	कोची	(ह) नृत्य के समय दण्डामी माड़िया द्वारा प्रयुक्त लम्बी स्कर्ट
407.	कोसा	(ह) स्त्रियों का केशालंकरण
408.	खवाड़ू	(ह) पैर या कलाई का आभूषण
409.	खिलवाँ	(ह) कर्णाभूषण, ढार
410.	खोंच—	(ह) खोंसना, क्षौमशाटक (सं)
411.	खोर–दुआर	(ह) नृत्यभूमि, क्षोडद्वार (सं), रचा (मु)
412.	खोसा	(ह) स्त्रियों का जूड़ा, क्षौमशाटक(सं)
413.	गठिआरी-दुबी	(ह) पूजोपयोगी दूर्वा
414.	गाँवपूजी	(ह) प्रतीकात्मक
415.	गाहना	(ह) आभूषण
416.	गुजिर	(को) नृत्यदण्ड
417	गुर्क	(द) शिर का आभूषण
418.	चवँर	(ह) चमर (सं)
419.	चिकसा	(ह) उबटन, चिकित्सा (सं)
420.	जड़र-बड़गर	(मु) छेरतानृत्य में प्रयुक्त दण्डविशेष
421.	जोग	(ह) योग, मुहूर्त
422.	टिकली	(ह) माथे की बिन्दी, टिक्किक (सं)
423.	टीका	(ह) विधवाविवाह, तिलक (सं)
424.	तल-उतड़	(द) शिर में पहना जाने वाला गोल टोपी के आकार का पीतल का आभूषण
425.	तलगुड़	(द) पगड़ी
426.	तिरडुड	(द) लोहे की घण्टियों से युक्त स्त्रियों का बाँस का बना हुआ नृत्यदण्ड, तिरडुडी (द)

427.	तीगे	(द) शिरोलंकर के रूप **में** पीतल की गुटिकाएँ
428.	तोड़ा	(झो) पैर में पहनने के लिये पैंजनी
429.	तोरन	(ह) आम की पत्तियों का बन्धनवार; तोरण (सं)
430.	दाँदर	(मु) नृत्य में प्रयुक्त दण्ड
431.	घोतीमारा	(ह) बस्तर में आदिवासियों में लंगोटी स्वाभाविक और विशिष्ट पहिनावा है। इसके विपरीत उनके बीच यदि कोई व्यक्ति सीमा को लाँघकर एक शहराती की तरह घोती पहनता है, तो उसे व्यंग्य में **घोतीमारा** कहा जाता है।
432.	पयिड़	(द) पायल
433.	पागा	(ह) पगड़ी
434.	पैंजना	(ह) नृत्याभूषण
435.	पोलो	(अ) निषिद्ध
436.	बरन	(ह) वर्ण, आकृति, रंग
437.	बाना	(ह) पोशाक, वर्णक (सं)
438.	मुंगरम	(द) नाक का आभूषण
439.	मुदा	(द) अँगूठी, मुदी (ह)
440.	मुहड़ा	(ह) मुखौटा
441.	मोघी	(मु) कन्धे पर लटकाया जाने वाला नृत्यावरण
442.	लिंगो-सिंगार	(मु) लिंगो-शृंगार
443.	सिंगरी-भिंगरी	(मु) सजी-धजी युवती
444.	सिंगारम (झो)	शृंगार
445.	सींग-बाँधा	(ह) नृत्य के समय दण्डामी माड़िया का शृंगाभूषण
446.	सोपा	(अ) स्त्रियों का पहिनावा

(च) नाट

447.	गमात	(झो) **गम्मत** (छ) तमाशा, ग्रामीणों के मनोरंजनार्थ बीच-बीच में लघु प्रहसन के साथ
448.	तमासा	(ह) तमाशा
449.	नाट	(ह) नाटक
450.	नाटकरया	(ह) **नाटकुरया** (ह) नाटक करनेवाला, नाटकृत (सं)
451.	नाटगुरु	(ह) नाटशिक्षक
452.	सवाङ्ग	(ह) सावांग (झो) तमाशा, स्वांग (सं)
453.	जूड़मिड़नद	(द०) मसखरी करना

पुनश्च

454.	गुजिर	(द०) स्त्रियों का नृत्यदण्ड, चित्रकोट-क्षेत्र में प्रचलित
456.	वादुम	(द०) ढोल कसने की डोरी

457.	करन	(द०) चमड़े में लगा मुखलेप, गादी (ह०)
458.	डोल-वड्या	(द०) ढोल बजाने का दण्ड, काड़ा (ह०)
459.	काड़ी	(ह०) ढोल (तुड़बुड़ी) बजाने के लिए दण्ड
460.	खूट	(ह०) चर्माच्छादनरहित पोला ढोल, काठा
461.	बादी	(ह०) चमड़े की बनी डोरी, जो ढोल के कसने के काम आती है
462.	चामटा	(ह०) डमरू बजाने के लिए प्रयुक्त दण्ड
463.	डाँडी	(ह०) मोहरी के अधोभाग में पीतल के ऊपर फिट की गयी सात छिद्रों की बांसुरीनुमा काष्ठ की नली
464.	सोसी	(ह०) मोहरी की डाँडी के ऊपरी छिद्र पर बजाते समय फँसाया जाने वाला पीतल का एक पोलारूप
465.	चाखना	(ह०) गीतों के मध्य मनोरंजन के लिए गीत के टुकड़े

परिशिष्ट-2 स्वरलिपि

मुरिया-माड़िया-संगीत की स्वरलिपि के अंकन में यहाँ पश्चिमी संगीत तथा भारतीय संगीत की स्वरलिपियों को तुलनात्मक विधि से प्रस्तुत किया गया है। इस युक्त 'कैसेट' भी तैयार किए गए हैं, जो किसी भी पाठक को 'रिटेप' के लिए उपलब्ध होंगे।

मुरियाजन अपने परिवेश, अपने आस-पास के वातावरण आदि से कितने सम्पृक्त हैं, उसमें कितनी रुचि लेते हैं, इसका अनुभव उनके गीतों के 'बोलों' को पढ़कर (द्र० तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय) होता है। उनके गीतों में वन पुष्प, पक्षी, और पशुओं के सौन्दर्य का चित्रण मिलता है। मुरिया-माड़िया-गाँव प्रायः ऐसे स्थानों पर होते हैं, जहाँ तक पहुँचना असम्भव तो नहीं, अत्यन्त कठिन अवश्य होता है; तो भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये स्थान मोटरों की 'पों-पों' और मशीनों की 'खट-खट' से तो दूर ही होते हैं। पालतू पशुओं और गाँव भर में कुड़-कुड़ाती मुर्गियों की आवाजों के अलावा नित्य प्रति जो परिचित ध्वनियाँ निरन्तर कानों में गूँजती हैं, वे वन्य पक्षियों का कलरव ही होती हैं। प्रभातवेला में कोयलों की कूक और कौए की आवाज से यह लगता है कि जैसे ये एक दूसरे को पुकार रहे हों। उनकी कूक खोखले काठ से निकलने वाली ध्वनि से मिलती-जुलती है, और यह एक ऐसी चीज है, जिसकी ओर मुरिया का ध्यान गए बिना नहीं रह सकता था, जो इस पक्षी को 'पिटोर्की' नाम से पुकारते हैं और उसी की ध्वनि को सुन कर अपने 'पिटोर्की' (द्र० द्वितीय अध्याय) नामक वाद्य का विकास किया। इस प्रकार मुरिया-माड़िया संगीत प्रकृति का संगीत है।

आगामी पृष्ठों में मुरिया-माड़िया के प्रमुख सांगीतिक रूपों की व्याख्यापरक स्वरलिपि प्रस्तुत है।

1. ककसाड़-संगीत (द्र० 4.2.)

वस्तर की मुरिया, अबुझमाड़िया, दण्डामी माड़िया, तथा दोर्ला जनजातियों के सांगीतिक रूपों में ककस संगीत लगभग तत्समान है।

नृत्य हकुम (द्र० 2. 5. 32) के द्वारा किए गए संकेत-घोष के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। प्रमुख वाद्य मांदरी (द्र० 2. 3. 22) तथा अन्य समस्त वाद्य बजाते हुए सभी 'चेलिक' एक वृत्ताकार घेरे में घूमते हुए यत्नपूर्वक बनाए गए क्रम में विभिन्न घुमाव, चक्कर तथा पलटियां लेते हुए नृत्य करते जाते हैं।

इसके पश्चात् हकुम, कुटोर्का या पिटोर्का (द्र० 2. 4. 24) के प्रवेश की घोषणा करता है, जो एक 'चेलिक' के द्वारा बजाया जाता है। हकुम के अन्य संकेतघोष के साथ ही अनेक 'चेलिकों' का प्रवेश होता है, जो 'कुन्दिड़' (द्र० 2. 3. 4.) बजाते हुए आते हैं। माँदरी ढोल के प्रत्युत्तर में इनसे अनवरत तीव्र स्वरयुक्त एक जवाबी ताल बजाया जाता है। इसके पश्चात् हकुम का अन्तिम संकेतघोष शेष 'चेलिकों' के प्रवेश की घोषणा करता है, जिनका एकमात्र वाद्य लटकनविहीन पीतल की घण्टियों का एक 'सेट' इरना (द्र०) और पीतल की नूपुरों का गुच्छ मुयांग (द्र० 2. 4. 27) होता है, जो उनके कटिप्रदेश में पीछे की ओर पट्टियों से बँधे रहते हैं। कमर को झटके देकर किए जाने वाले नृत्य के समवेत पदसंचालन से समस्त 'चेलिक' गति में आ जाते हैं। 'चेलिकों' के बाद 'मोटियारियाँ' अपने हाथों से चिटकुल (द्र० 2. 4. 30.) बजाते हुए प्रवेश करती हैं। सभी ढोलवादकों के घेरे के अन्दर रहते हुए एक वृत्त में नृत्य करते हैं एवं गायन के साथ-साथ आगे, पार्श्व और पीछे पदसंचालन करते हुए नाचते हैं।

इस अवसर पर गाए जाने वाले गीत मुरिया-माड़िया संगीत की विशिष्ट टेक के साथ 'रेलो-समूहगान' से प्रारम्भ होते हैं। यह ऐसे बोलों का स्वरक्रम है, जो सदैव एक गीत की तरह प्रारम्भ होता है और गीत की समाप्ति के रूप में भी प्रायः प्रयुक्त होता है।

इस पूरे प्रदर्शन की कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। सारे तत्व लयात्मकता से एक ही समय में समन्वित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं; किन्तु ऐसा होते हुए भी प्रत्येक भिन्न-भिन्न क्रमावस्था में एक दूसरे से पृथक् होते हैं। ढोलवादक चेलिक चार-चार की पदसंहति से समारम्भ करते हैं और लगातार इसी क्रम में अन्त तक बजाते रहते हैं। प्रथम गीत में चार-चार बोलों की तीन पदसंहतियाँ होती हैं, जो बिना रुके कई बार दुहरायी जाती हैं और इस क्रमावस्था में ढोल के बोलों के साथ-साथ बनी रहती हैं। किन्तु ढोल के बोल इस प्रकार प्रारम्भ नहीं होते, जिसे कि हम 'पदसंहति का प्रारम्भ' (डाउन बीट) कह सकें। इस रूप में इसे 'क्रमावस्था से बाहर' कहा जा सकता है। द्वितीय गीत में भी तीन पदसंहतियाँ होती हैं, किन्तु प्रत्येक में छह-छह बोल होते हैं। इस प्रकार अठारह बोलों वाला गीत ढोलों के बोल से आगे निकल जाता है अर्थात् चार-चार बोलों वाली क्रमावस्था से दूर हो जाता है। चूँकि नृत्य में पदसंचालन की दीर्घता भी निश्चित रहती है, अतएव वह भी गीत की क्रमावस्था से भिन्न हो जाता है अर्थात् कभी कम रह जाता है तो कभी अधिक हो जाता है।

प्रथम गीत (क) का विस्तार विलम्बित सुर में होता है, जब कि द्वितीय (ख) में पूर्ण पंचम स्वर में होता है। दोनों का पारस्परिक 'तृतीय' सम्बन्ध होता है। प्रथम में धैवत स्वर का प्रयोग होता है, जबकि द्वितीय में मध्यम स्वर का।

आरंभिक 'रेलो-समूहगान' का रेखांकन अधोलिखित रूप में किया जा सकता है—

1. ककसाड नृत्य में गीत : स्वरलिपि
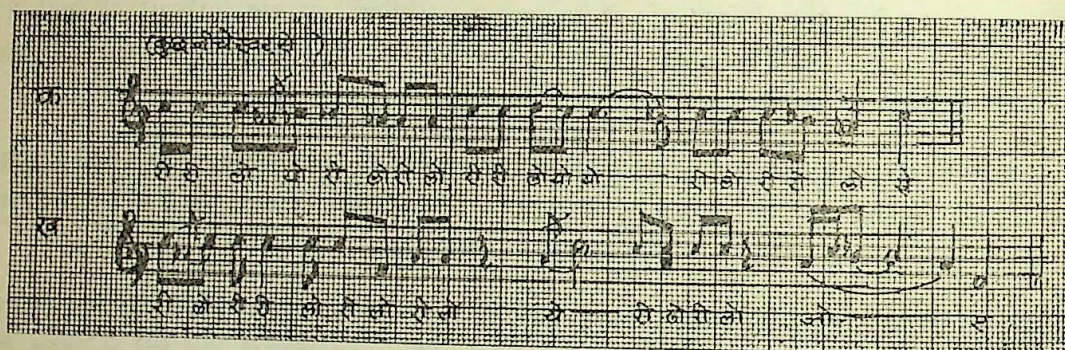
2. मरमी-संगीत

यह गीत विवाह के अवसरों पर (द्र० 4. 3. 4) नृत्य करते समय गाया जाता है, जो प्रायः मार्च या अप्रैल के महीनों में आयोजित होते हैं। इसमें 'मोटियारी' के उन दायित्वों के बारे में बताया जाता है, जो विवाह से पूर्व 'घोटुल' में और विवाहोपरान्त पतिगृह में करने आवश्यक होते हैं। छह से आठ गायकों के द्वारा यह गीत उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में गाया जाता है, जो एक-दूसरे से हाथ में हाथ बाँधकर गाते हुए वृत्ताकार नृत्य करते हैं। इसके एक नृत्य में बारह क्रमों का पदसंचालन देखने को मिला है—

1	2	3	4	5	6	7	ताली	9	10	11	ताली
आगे	कूद	आगे	कूद	कदम	पलटी	कदम	चक्कर	कदम	चक्कर	कदम	चक्कर
दायीं ओर	बायीं ओर	बायीं ओर	बायीं ओर	बायीं ओर से दायीं ओर	बायीं ओर से दायीं ओर फिर पलट	बायीं ओर से बायीं ओर	दायीं ओर से बायीं ओर फिर पलट	(5–8 तक बताए गए क्रम से)			

निम्नांकित स्वरलिपि में नृत्य के पदसंचालन स्वरताल के चतुर्थांश में पड़ते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इसमें इक्कीस ताल हैं। इसका अर्थ यह है कि नृत्य और गीत लगातार एक-दूसरे की क्रमावस्था से बाहर होते जाते हैं। इस 'माँदरी-नृत्य' में कभी-कभी समूहगान के उपोहन में हल्का-सा विराम या ठहराव होता है, किन्तु नृत्य की

स्थिति में ऐसा नहीं होता। सामान्यतया नृत्य पहले आरम्भ होता है, उसके पश्चात् गीत प्रारम्भ होता है, किन्तु स्वरलिपि का पाठक ऊपर दर्शाए गए पदसंचालन व समूहगान के प्रारंभिक बोलों के बीच मिलने वाली क्रमावस्था को समझ सकता है। जब नृत्य और वाद्य के बिना गीत गाया जा रहा हो, तब मुरिया नारी कंठ का सुविभेदक स्वर-वैशिष्ट स्पष्टतया सुना जा सकता है और अनुभव किया जा सकता है। यह सहज प्रवाहमयी ऊँची स्वरलहरी नहीं होती, जैसी कि आमतौर पर हिन्दी फिल्म-संगीत में पायी जाती है, अपितु एक भारी-भरकम ध्वनि होती है, जिसमें किंचित् पैनापन होता है, ठीक 'वालकन' गायकों के समान।

अधोलिखित गीत और अन्य संदर्भित (4. 3. 4) गीतों में समवेत गायन के साथ समाप्त होने वाली पंक्ति पहले समूह के आधे लोगों (क) के द्वारा गायी जाती है और उसके पश्चात् उसे शेष लोग (ख) दुहराते हैं—

(केवल क) 1. रेरेला रेरेला रेला रेला, रेरेला रेरेला रेरेला।
(समवेत) एहे एलो, एओ..................................।

(क, ख) 2. डिण्डारे राजू तो राजू एलो, डिण्डारे राजू तो राजू रोय
(प्रत्येक पंक्ति के बाद समवेत गायन)

(क, ख) 3. इदे रे राजू तो यावो एलो, इदे रे राजू तो यावो रोय।

4. अउ यारे बोना तो इन्मारे एलो, अउ यारे बोना तो इन्मारे।

5. घोटुल दे दायनार तो यातेक एलो, घोटुल दे दायनार तो यातेक रोय।

6. तितांग के तिन्वाड़ तो हन्दाड़ एलो, तितांग के तिन्वाड़ तो हन्दाड़ रोय।

7. हरदेरे कइ तो वतना रे एलो, हरदेरे कइ तो वतना रे।

8. अदरामे लेहका तो हन्दारे एलो, अदरामे लेहका तो हन्दारा।

9. बाता ये दामी तो यानेक एलो, बाता ए कामी तो यातेक रोय।

10. काम तुने सुरता तो वायार रेलो, काम तुने सुरता तो वायार।

(रेमावण्ड से संग्रहीत)

अनुवाद

2. युवकों का साम्राज्य, तो साम्राज्य बहन, युवकों का साम्राज्य, तो साम्राज्य बहन।
3. अभी तो साम्राज्य, अभी तो (वर) साम्राज्य आया नहीं बहन।
4. वह कहाँ है, मत बतावो, वह कहाँ है मत बता।
5. बहन वह घोटुल से जाने वाली है, घोटुल से जाने से वहन।
6. जाने वाली ने भोजन किया या करने वाली है, वधू ने भोजन किया बहन।
7. मार्ग पर हाथ पसारे हे बहन, मार्ग पर हाथ पसारे।
8. इस प्रकार वह घोटुल छोड़ देगी बहन, घोटुल से चली जावेगी।
9. क्या दाम है, वह नहीं जानती थी बहन, क्या काम है नहीं जानती थी।
10. काम करने पर उसे स्मृति तो आएगी बहन, काम करने पर स्मृति।

आगामी पृष्ठ में इसकी स्वरलिपि अंकित है।

2. मर्मी पाटा : स्वरलिपि
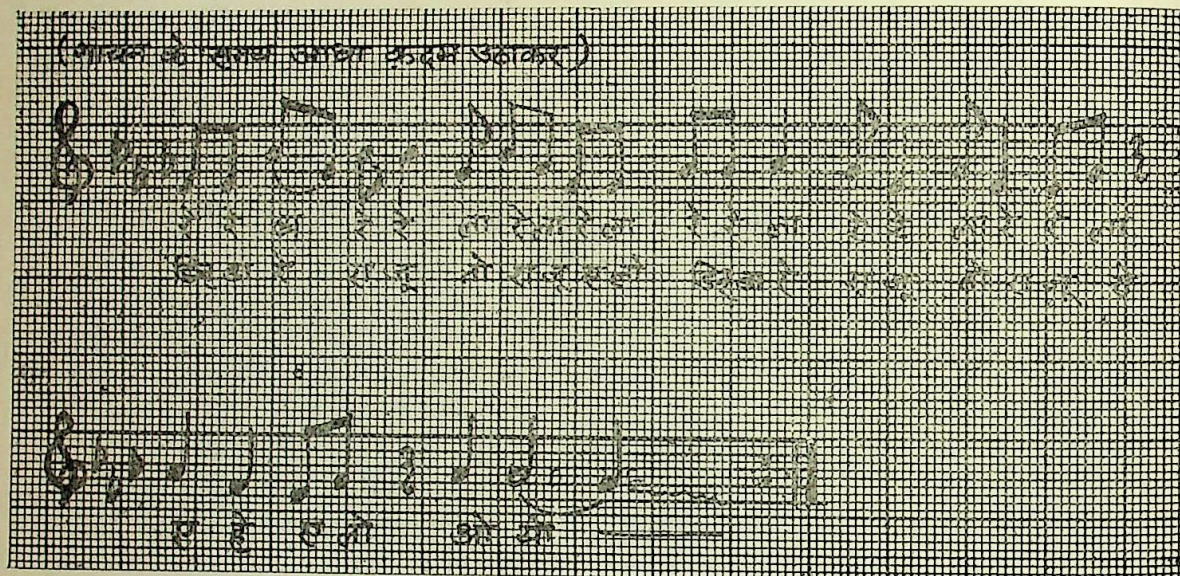
3. कर्सना-संगीत (द्र० 4.5.)

कर्सना-संगीत 'चेलिकों' तथा 'मोटियारियों' का विशुद्ध मनोरंजनप्रधान समूहगान है, जो बहुत ही सामयिक तथा कामोद्दीपक होता है और जिसमें पुष्पों, वनों, पक्षियों (मैना का विशेषरूप से), कृषिकर्म एवं प्रणयसम्बन्धों की 'थीम' होती है। इन गीतों के प्रतिद्वन्द्वितापरक होने के कारण दूसरे गाँवों से इनके माध्यम से सदैव नए-नए गीतों का जन्म होता रहता है।

मरमी-संगीत (आ) की तरह यह गीत भी उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में गाया जाता है एवं रेलो-समूहगान के साथ प्रारम्भ होता है। इस स्थिति में रेलो-समूहगान गीत के आदि से अन्त तक दुहराया जाता रहता है। यह उस समूहगान के अतिरिक्त होता है, जो कि प्रत्येक पंक्ति के बाद गाया जाता है। इस गीत की शैलीसम्बन्धी अन्य विशेषताएँ यहाँ भी एक बार फिर देखने को मिलती हैं—अत्यन्त मन्द स्वरविन्यास (प्रधान स्वरक्रम के सरगम मध्यम-पंचम-निषाद-षड्ज-ऋषभ नामक पाँच स्वरमान), जिसकी प्रवृत्ति अवरोहक्रम में एक स्वर से दूसरे स्वर तक उतरने की है और प्रदर्शन के दौरान पूरे गीत के लिए अनुपूरक प्रवृत्ति आरोही तीव्र स्वरमान की होती है।

नृत्यसहित गीतों की धुन की प्रवृत्ति मन्द स्वरमान की रहती है। यही इसकी एक विलक्षणता है जो विशेष रूप से उस समय परिलक्षित होती है, जब गीतकार का एक समूह दूसरे समूह के गीत को अपनी पारी में गाता है।

बाह्य आकार के आधार पर यह सीधी-सादी 'अन्तरा' (स्थायी टेक) लगती है, जिसे इसी प्रकार अदल-बदल कर गाया जा सकता है, किन्तु बीच में अंश का बार-बार का दुहराव इसे और अधिक जटिल बना देता है। इस गीत में एक समूह सदैव 'अन्तरा' (गीतपंक्ति) गाता है और दूसरा समूह स्थायी या टेक स्वर देता है। 'अन्तरा' की प्रत्येक पंक्ति में तीन छोटी-छोटी पदसंहतियाँ रहती हैं। प्रथम दो पदसंहितियों में एक-जैसे बोल होते हैं, किन्तु अन्तिम

शब्द में थोड़ा-सा अन्तर मिलता है एवं तृतीय पदसंहृति 'हिचकी' वाली पदसंहृति है, जो एक प्रकार से 'अन्तरा' के भीतर ही एक छोटी टेक बन जाती है। 'अन्तरा' की प्रत्येक पंक्ति को दुहराया जाता है, जिससे स्वरूप में वह **धैवत-तार धैवत-निषाद** एवं **धैवत-तार धैवत-निषाद** बन जाती है। पहले 'अन्तरा' में गीत के बोल के स्थान पर रेलो-समूहगान के बोलों की स्वरलिपि निम्नांकित रूप में अंकित की जा सकती है—

3. कर्सना पाटा 'डिप्पारा लोपोरो' : स्वरलिपि
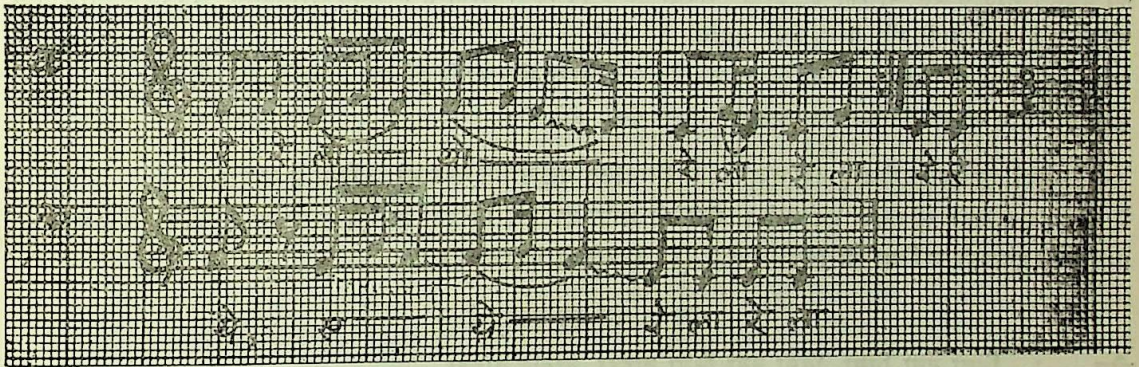
कर्सना-पाटा

	(धैवत)	(तार धैवत)	(निषाद)
1.	रेरे लोयो रेला रेला	रेरे लोयो रेरे ये,	ए रेला रेला।
	(आवृत्ति)		
	(धैवत)	(तार धैवत)	(निषाद)
	समवेत : रेरे लायो रेला रेला	रेरे लोयो रेरे ये,	ए ये रेला रेला।
		रेरे लोयो रेरे ये,	ए ये रेला रेला।
	(धैवत)	(तार धैवत)	(निषाद)
2.	डिप्पर लोप्पो बारांग लहरी,	(आवृत्ति) ये,	ए ये बारांग लहरी

3. डिप्पर लोपोरो रेला लहरी, (इत्यादि)
4. रेकार तिन्दालाय दायरो लहरी, (इत्यादि)
5. वायना आयो वायना, लहरू, (इत्यादि)

अनुवाद

2. डिप्पा (खेत) के भीतर क्या है लहरी ?
3. डिप्पा के भीतर चार फल है लहरी
4. चार फल खाने चलें लहरी
5. आना है तो आवो लहरू।

उपर्युक्त गीत में प्रत्येक 'अन्तरा' के बाद गाए जाने वाला समूहगान शनैः शनैः रूपान्तरित किया जाता है। इसके बाद पाँच पदसंहृतियाँ होती हैं, जो धैवत-तार धैवत-निषाद तथा तार धैवत-निषाद-जैसी होती हैं अथवा तीन रेलो पदसंहृतियाँ और दो 'हिचकी'–पदसंहृतियाँ होती हैं, जिनमें धैवत के अन्तिम बोलों में अलंकरण मिलता है। थोड़ी-सी एकाग्रता से इसके बोल और स्वरलिपिसहित समस्त स्वरविन्यास समझ में आ सकता है।

4. गेड़ी-संगीत

गेड़ी (या डिटो) एन्दाना की चर्चा प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय (4. 5. 7.) के अन्तर्गत हुई है। गेडीनाच का प्रदर्शन आठ से दस चेलिकों के द्वारा 'गेड़ियों' के ऊपर किया जाता है। इसमें मोटियारी 'जगर' के साथ नृत्य करती है। मोटियारी की पंक्ति अपने पड़ोसी के कन्धे पर बायाँ हाथ रखे रहती है तथा दाएँ हाथ में 'जगर' को पकड़ कर धरती पर आघात करती हुई चलती है। मोटियारी गीत गाती हुई एक ही पंक्ति को अनेकशः दुहराती हैं। इनके स्वरमान पंचम–धैवत–षड्ज–ऋषभ–गांधार–पंचम होते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नयानार से लिप्यंकित यह संगीत दण्डामी माड़िया से आदत्त है, जो मुरियासंगीत में सर्वथा एक नूतन लोकधर्मी प्रयोग है। गीत की भाषा दण्डामी माड़िया है एवं साधारण से अधिक ऊँचे स्वर का प्रयोग भी दण्डामी माड़िया की विलक्षणता है (द्र० स्वरलिपि क्रमांक–8)।

गीत के अंश इस प्रकार हैं—

गीत – 1. निमा नना निमा, निमा नना निमा वाइरा, नारुलि वाइया
(तू मैं तू, तू मैं तू आएँ, कल आएँगे)

समवेत : या यावो वाइया, मे यायो, पीनु वसुता नारुलि वाइया
(माता, माँ, आ तो, मेरी माँ, नहीं शीत है, कल आऊँगी)

2. केड़ पानु सागु, केड़ पानु सागु वाइरा, नारुलि वाइया
(केले के पत्ते की साग, केले के पत्ते की साग बनी है आ तो, कल आऊँगी)

3. सोनोर किसि सोनु, सोनोर किसि सोनु वाइरा, नारुलि वाइया
(सोने की आग सोने-सी, सोने-सी आग है गरमाने के लिए आ तो, कल आऊँगी)

4. जिय गुटरेलि, जिय गुटरेलि वाइरा, नारुलि वाइया
(दिल धड़क रहा है, दिल धड़क रहा है आ जा, कल आऊँगी)

5. पानु लेवा गोरि, पानु लेवा गोरि वाइरा, नारुलि वाइया
(पत्ते के बिना, पत्ते की साग खाए बिना भी आ जा, कल आऊँगी)

6. अचोरे मन्निट (इत्यादि)
(परसों आऊँगी)

गीत क-स्वरलिपिगत : विता वियाये, वियुको पोयाल विता
(सूर्य अपनी रोशनी कब फैलाएगा)

यहाँ संगीत की स्वरलिपि प्रस्तुत है—

4. गेड़ी-एन्दाना : स्वरलिपि

5. हुलकी-संगीत

हुलकी-नृत्य का विस्तृत विश्लेषण चतुर्थ अध्याय (4. 3. 2.) के अन्तर्गत किया गया है। इस नृत्य के लिए किसी विशेष सांगीतिक वाद्य का प्रावधान नहीं है, किन्तु 'चेलिक' एक सपाट नूपुर पहिनते हैं, जिसे 'सिरिगोंग' कहा जाता है, जिसमें गुटिकाएँ लगी होती हैं और जिनसे नृत्य के समय 'छनछन' की ध्वनि पैदा होती है। चेलिक तथा मोटियारी पंक्तिबद्ध हो जाती हैं, और साथी की दायीं कमर पर हाथ रखे रहती हैं। उनका दूसरा हाथ बाएँ साथी के कन्धे पर होता है। इस प्रकार सँटे होने पर वे पंक्ति में पदसंचालन करती हुई विविध दिशाओं में घूमती हैं। चेलिक गीत के साथ आगे बढ़ते हैं तथा मोटियारी गीत की प्रत्येक पंक्ति को दुहराती चलती हैं।

प्रस्तुत स्वरलिपि के लिए गढ़बंगाल से रिकार्डिंग की गयी थी। इस संगीत की एक विशेषता यह है कि मोटियारी चेलिक के गीत का प्रत्युत्तर पंचम स्वर में देती है, जिससे द्विस्वरात्मकता की निष्पत्ति होती है। यह द्विस्वरात्मकता असामान्य है। इसकी स्वरसंगति से एक विषादपूर्ण तथा गम्भीर रस की निष्पत्ति होती है—तार निषाद-षड्ज-गांधार-मध्यम-पंचम, जिसमें गांधार निष्क्रिय होता है। पुरुषों के सन्दर्भ मे गांधार का परिवर्तन शुद्ध तथा कोमल-तर के बीच होता है। संगीत में लय मन्द और मुक्त होती है। इसलिए लिप्यंकन भी पूर्व के उदाहरणों जैसा कम सुस्पष्ट है। गीत की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. ओ, तेना नामुर नाना रे नाना रे (तीन बार)
   (अरे, उसके नाम अनन्त हैं, अनन्त रे)

2. बूमता मालिक बदुर रे लेयोर रे (इत्यादि)
   (चेलिक, पृथ्वी का मालिक कौन है)

3. बूमता मालिक लिंगो रे लेयोर रे (इत्यादि)
   (चेलिक, भूमि का मालिक लिंगो है)

4. लिंगो ना वेहले डाका लेयोर रे
   लिंगो ना वेहले पाटा लेयोर रे
   (चेलिक, लिंगो ने हमें पदसंचालन सिखाया
   चेलिक, लिंगो ने हमें गीत सिखाया)

5. पिड़विड़ सुलुड़ किता रा लेयोर रे
   (लिंगो ने पिड़विड़ तथा बाँसुरी को रचा)

(यह प्रदर्शन पुष्प, खाद्यसामग्री, तथा रेलवेलाइन जैसे सामयिक विषयों की जानकारी देने तक चलता रहा)।

इस संगीत की स्वरलिपि यहाँ प्रस्तुत है—

5. हुल्की : स्वरलिपि
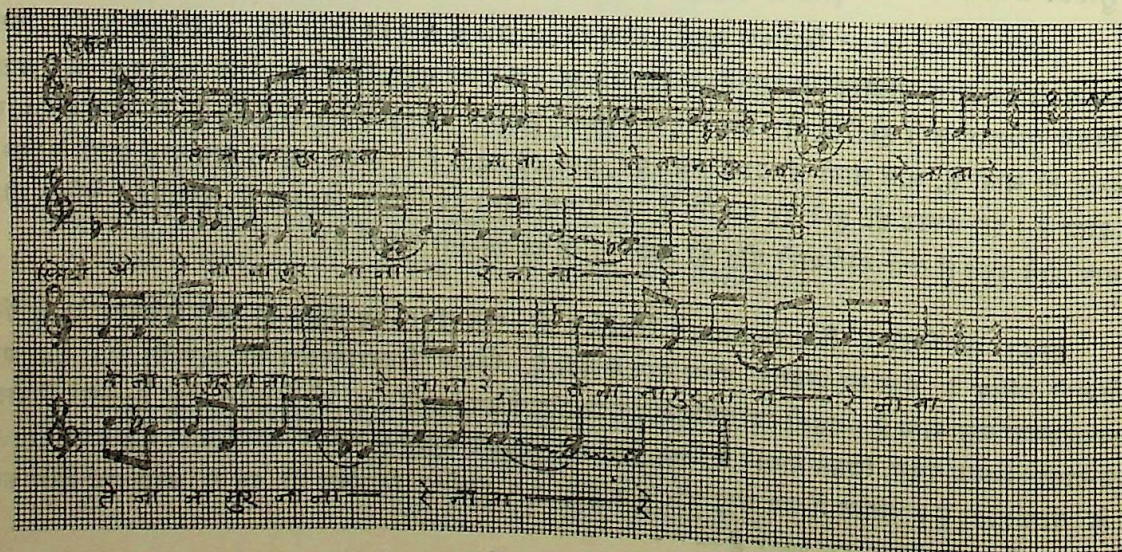
6. चैतदाँदर-संगीत (द्र० 4. 4. 3)

स्वरलिपिहेतु यह गीत नयानार से लिपिबद्ध किया गया था। यह गीत हुल्की-गीत से आकर्षक विरोध प्रस्तुत करता है। गीत द्रुत गति से छह स्वरमान तक विस्तृत है—ऋषभ-गांधार-पंचम-धैवत-तार निषाद-षड्ज-ऋषभ। गीत का पाठ पूरी तरह समसामयिक है, जिसमें मुरिया-युवतियों के चरित्र पर गहरा व्यंग्य मिलता है। यह गीत मुरिया युवतियों ने इतना पसन्द किया कि उन्होंने इस मुझसे बार-बार सुनने की फरमाइश की।

प्रस्तुत गीत यद्यपि समसामयिक है, किन्तु इसमें दण्डनृत्य हुल्की के ही समान पारम्परिक है। दण्डनृत्य में चेलिक और मोटियारी दोनों ही भाग लेते हैं। प्रत्येक के हाथों में दो-दो फुट लम्बे दो दण्ड होते हैं। नृत्य के समय इन दण्डों के माध्यम से अपने और साथी के दण्डों पर संगीतमय आघात किया जाता है। इनके पदचाप बहुत ही सधे होते हैं। सामान्यतया नर्त्तक एव नर्त्तकी गाती हुई चलती हैं, किन्तु इस प्रदर्शन में चार मोटियारी एक ओर खड़ी होकर गीत गा रही थीं। इस गीत के पाठ ने मेरी रुचि इसलिए पैदा की क्योंकि अभी तक मैंने जो गीत संग्रहीत किए थे (द्र० 4. 4. 1. तथा 4. 4. 3), उनके पाठों से यह पाठ पूरी तरह भिन्न था। इसका पाठ हलबी में है, जो बस्तर के आदिवासियों की सम्पर्क बोली है।

नृत्य के कुल आठ पदसंचारणों (चार दण्डाघात) में नर्त्तक बारह पदसंहतियाँ गाते हैं। प्रथम संहति में पद-विभाजन यद्यपि स्पष्ट नहीं है, किन्तु शेष पदसंहतियों में वह सुस्पष्ट हो जाता है। गीत के बोल अधोलिखित हैं—

समवेत : चाँदू, चाँदू बीनू दुनिया चो बायले रे
(चाँदू बीनू दुनिया भर के लोगों की पत्नियाँ हैं)

1. हे, चाँदू जिउलो मिलो हे चाँदू जाम
(चाँदू को जीवन मिला, चाँदू ने अमरूद को चखा)

2. बस्तर चो इलोर चाँदू बस्तर चो जाम
(बस्तर गाँव से आने वाले ने उसे अमरूद दिया)
(समवेत स्वर के अनन्तर गीत 1–2–1–1–1–2 के क्रम में समूहगान के साथ गाया जाता है)

3. जर जर जर जरना बोहे, चितरकोट चो पानी रे
(चितरकोट जलप्रपात का पानी जर जर जर बहता है)

4. दन दन दन नन्दी बोहेसे, इन्दरावती नन्दी रे
(इन्द्रावती नदी का पानी दन–दन–दन बहता है)

5. गड–गड ओ बिजली मारे बस्तरेया रानी
(बस्तर की रानी गड-गड ध्वनि से विद्युत् प्रहार करती है)

6. रावघाट ले बिजली मारे बस्तरेया राजा
(बस्तर का राजा रावघाट से विद्युत् प्रहार करता है)

7. सड़क-सड़क मोटर जायसे, पुरुक-पुरुक बाजे रे
(सड़क से जाने वाली मोटर से पुरुक-पुरुक की आवाज होती है)

8. जनम जुग ले रेल इली, रेल दखुक मजा रे
(पीढ़ियों बाद रेल आयी, रेल देखने में मजा है)

इस गीत की स्वरलिपि यहाँ प्रस्तुत है—

6. चाँदू बीनू : स्वरलिपि
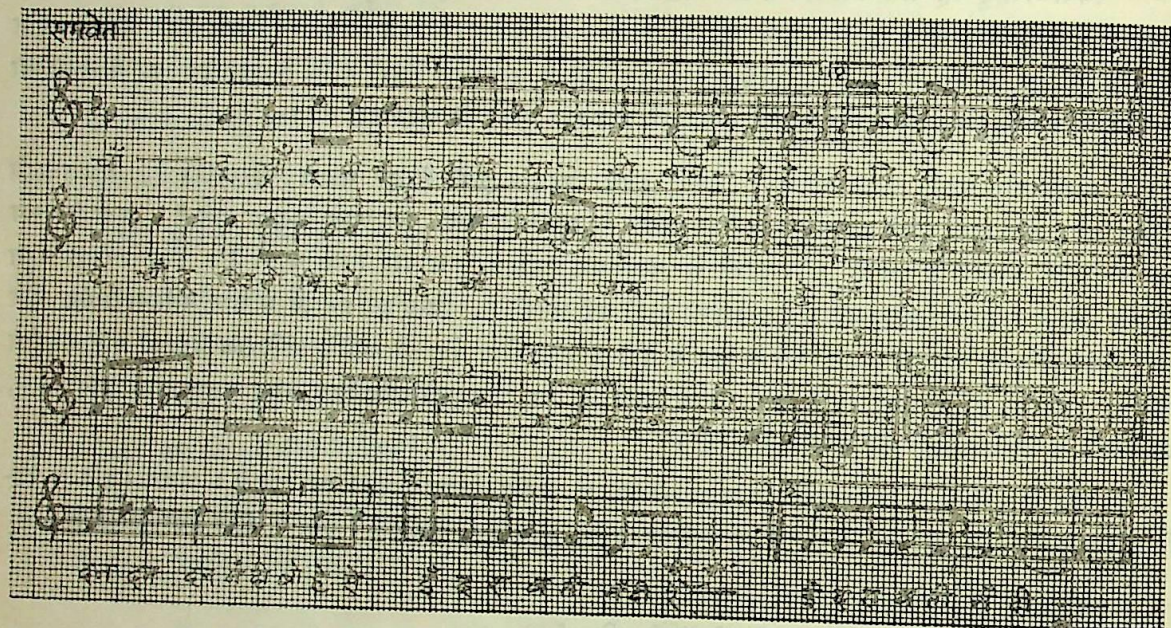
7. घोटुल-संगीत

घोटुल में गीत स्वतः स्फूर्त होते हैं और अपने आप ही समाप्त भी हो जाते हैं। इसलिए रेलो-समूहगान अन्य गीतों के समान तीव्र नहीं होता है। ये गीत अकेले 'चेलिक' के द्वारा भी आरम्भ कर दिए जाते हैं और गीत को सुन कर दूसरे 'चेलिक' उसे समूहगीत बना देते हैं। एल्विन (1947 : 372) ने घोटुल-गीतों को बहुत लोकप्रिय तथा मनोरंजक गीतों के प्रकार के रूप में माना है। इस गीत की शैली मन्द तथा शिथिल होती है। इसे सुनकर स्काटलैण्ड के नृत्यनाट्यों के गायन का स्मरण होता है।

घोटुल-संगीत का स्वरविन्यास अब तक सुने गए सभी गीतों से विस्तृत है। इसमें पूरे सप्तक को विलम्बित लय में लिया जाता है, जिसका स्वरक्रम पंचम–निषाद–षड्ज–गांधार–मध्यम–पंचम होता है तथा गांधार व निषाद के मन्द सुर होते हैं। स्वरमानरहित धुन के कारण लम्बी तान और अलंकृत स्वरमाधुर्य इसमें सम्भव हो जाता है। यह संगीत घोटुल में रात्रि भर चलता रहता है और उस समय समाप्त होता है, जब दूर कहीं मुर्गा बांग देकर रात्रि-समाप्ति की सूचना देता है। रेमावण्ड गाँव से मैं इस गीत की रिकार्डिंग मुर्गा बोलते समय तक करता रहा—

1. रेरेलो रेरेला रेरेला रेला

2. इंगो—बेके दायतोनी कोरा, बेके दायतोनी ?

   किन्नेरिंग जरजरा तोकारिंग वरवरा (आवृत्ति)

3. इंगो—सगा दायतोनान दादा, सगा दायतोनान

   किन्नेरिंग जरजरा तोकारिंग वरवरा।

(3. आवृत्ति) किन्नेरिंग वरवरा तोकारिंग जरजरा।

अनुवाद

2. हाँ, कोरा तू कहाँ जा रहा है, कहाँ जा रहा है
 आँसुओं को गिराते, लँगोटी को हिलाते।
3. हाँ, सम्बन्धी के पास जा रहा हूँ दादा, सम्बन्धी के पास जा रहा हूँ
 आँसू गिराते, लंगोटी हिलाते।

8. दण्डामी माड़िया-संगीत

दण्डामी माड़िया-संगीत का एक उदाहरण गेड़ीनृत्य (स्वरलिपि-4) में दिया गया है। बोरोकमेली गाँव से स्वरबद्ध दण्डामी माड़िया-संगीत का प्रस्तुत अंश यद्यपि दण्डामी माड़िया संगीतसूची का साकल्येन उदाहरण नहीं है, तथापि इसके माध्यम से कतिपय समान शैलीगत विशेषताओं का अनुमान हो सकता है। यहाँ मुरिया-अबुझमाड़िया के समान गायन प्रतितानात्मक न होकर उत्तरपूर्ण होता है तथा यहाँ साधारण से अधिक ऊँचा स्वर ध्यान देने योग्य है। नृत्य के पदचाप मुरिया-नृत्यों के ही समान हैं, जिसमें बायाँ हाथ पड़ोसी के कन्धे पर होता है। नर्त्तकी अपने नृत्यदण्ड 'जगर' के माध्यम से धरती पर आघात करती हुई चलती है एवं गायन के समय पार्श्व पदसंचालन करती है। गायन ढोल के साथ होता है। ढोलवादक गँवरसींग का 'तल्लागुड़ा' तथा कौड़ी पहिने रहते हैं (द्र० चित्र क्र०)।

आगामी पृष्ठ में स्वरलिपि में दर्शाए गए गीत के अंश भावार्थसहित अधोलिखित हैं—

1. निमायो वेलागा..............
2. निमा वेलागा, निमायो वाइया

अर्थात् तू आ, तू आ, तू ही आ।

8. दण्डामी माड़िया-संगीत की स्वरलिपि

9. अबुझमाड़िया-संगीत

ढोल-वादक दाएँ हाथ में एक छोटा-सा दण्ड लेकर तथा बाएँ हाथ में एक पतली पट्टी लेकर 'डबका' ढोल बजाता है। उसके साथ विविध नर्त्तक होते हैं। नर्त्तक बायीं से दायीं ओर एक घेरे में घूमते चलते हैं। प्रत्येक कदम के पश्चात् घुटनों के बल झुकते हुए पिछले पैर को आगे की ओर घसीटते हुए विश्राम करते हैं। आठ कदम के पश्चात् नर्त्तक बाहर की ओर मुड़ते हैं और ऐसा करते समय बायीं से दायीं ओर अपने चारों तरफ घेरा बना लेते हैं। पुनः आठ कदमों के पश्चात् ये भीतर की ओर मुड़ते हैं और बायीं से दायीं ओर एक वृत्त बना लेते हैं। अबुझमाड़िया युवकों की नृत्य की इस शैली को मैने 'लंका' ग्राम में देखा था।

इसी गाँव में नृत्य की दूसरी शैली अबुझमाड़ी महिलाओं की है। स्त्रियाँ गीत गाती हैं। गीत का पाठ छह मिनट का होता है। एक समूह गीत गाता है तथा दूसरा उसे उठाता हुआ आगे बढ़ाता है। 'रेलो-समूहगान' के कारण पाठ में वैकल्पिक परिवर्त्तन होता है एवं गीत में एक त्रिकात्मक राग सुनाई देता है।

नृत्य में पदचाप बहुत सरल होते हैं। पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी एक पंक्ति बना लेती हैं एवं बाएँ से दाएँ एक वृत्त में घूमती हैं। मुरिया महिलाओं के समान अबुझमाड़ी महिलाएँ एक दूसरी से अपनी भुजाएँ नहीं जोड़े रहतीं। नृत्य के चार पदचाप होते हैं—पहले बायीं ओर आगे एक लघु पदसंचालन, फिर दायीं ओर पश्च पादसंचारण, पुनः दायीं ओर दो पार्श्व पदसंचालन। इसकी अनेकशः आवृत्ति होती है।

डोंडीमर्का में मैंने अबुझमाड़ियों का जो नृत्य देखा था, वह लंका में प्रदर्शित नृत्य से भिन्न था। यहाँ पाँच नर्त्तकों के साथ दो डोलु-वादक थे। नर्त्तकों ने एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रख लिया था तथा चक्राकार गति में डोलु-वादकों के चारों ओर बाएँ से दाएँ चक्कर लगा रहे थे। मन्द गति की उछल-कूद के साथ ये तीन स्वरों वाले राग को तार निषाद-षड्ज-गांधार स्वरों में गा रहे थे। गीत का पाठ पाँच मिनट का था। प्रत्येक पदसंहति को एक व्यक्ति साधारण से अधिक ऊँचे सामवेदी स्वर में गा रहा था। गीत में जानवरों के आवाजो की अनुकृति थी, जो आदिम गीतकारों की प्रकृति के अनुरूप ही मानी जा सकती है।

□

अनुक्रमणिका

अ

अंगविक्षेपविज्ञान 21, 164, 169, 170
अंगाभिनय 170–172
अंवरी परगना 14
अकुम (वाद्य) 49, 50, 183
अटे (वाद्य) 50
अडनार (ग्राम) 16
अनिबद्ध 62
अन्तागढ़ (ग्राम) 9–14, 38, 124, 126, 202
अन्तागढ़ परगना 204
अन्नमदेव 37
अबूझमाड़िया 2, 14, 16, 18–20, 23, 25, 26, 32, 37–39, 41, 46, 48, 53, 54, 67, 75, 138, 143, 155–158, 164, 166–171, 174, 176, 177, 180, 181, 182, 184, 185, 186, 195, 196, 199, 201, 209, 216
अबूझमाड़िया-नृत्य 135, 172
अबूझमाड़िया-संगीत 13
अबूझमाड़ी 13, 23, 209
अबूझमाड़ी-शैली 71
अभिनय 64, 92, 134, 138, 139, 163
अमरावती परगना 16
अमसरा (ग्राम) 13
अरजटा-परजटा 79
अर्थ-संयोजन 144–146
अलवर (ग्राम) 16
अलाप्ति 62
अलाबुवीणा 31
अवनद्ध वाद्य 29, 36, 39, 154, 155, 183
अवाचिक सम्प्रेषण 161, 162, 167, 173, 180
अहोबल पण्डित 22

आ

आँगा 48, 203, 209
आँगा-कर्सना-पाटा 48
आँगादेव 34, 48
आँगापेन 75, 135, 136, 166
आक्षरिक विन्यास 146
आगम वाद्य 29
आगम संगीत 22, 23, 25, 27, 29, 53, 193, 194, 207, 216
आङ्गिक अभिनय 163, 170
आङ्गिक सम्प्रेषण 163, 164
आटपाल (ग्राम) 13
आटुलवेड़ा (ग्राम) 13
आदि ताल 147
आदिम कला 6, 133
आदिम कलाकार 214
आदिम कविता 5
आदिम नृत्य 25, 165, 213, 214
आदिम यात्रा-नृत्य 67
आदिम रंगमंच 137
आदिम वाद्य 29
आदिम संगीत 6, 22, 29, 54, 161, 182, 183, 185, 187, 188, 189, 190, 193, 194, 202, 207, 212, 216
आदिम संगीतज्ञ 202-215
आदेर (ग्राम) 67, 68
आद्य संगीतज्ञ 22-24, 28, 44, 202, 207
आनद्ध वाद्य 36
आनाल पाटा 143
आनाल पेन 112
आभिचारिक क्रिया 139, 184, 185, 194, 200, 201
आभिचारिक भाषा 198
आभिचारिक वस्तु 198
आभिचारिक संकेत 198
आमगाँव 13, 16
आमाबेड़ा 202
आमावेड़ा परगना 9, 12, 204
आमोली (ग्राम) 14

आलमेर (ग्राम) 159
आलोर (ग्राम) 16, 204
आसना (ग्राम) 51
आहार्य अभिनय 164, 173-176, 178, 179

इ

इरना (वाद्य) 46
इरपानार (ग्राम) 14
इर्पे (ग्राम) 68

ई

ई० पी० हारवित्ज 67
ईसलनार (ग्राम) 16

उ

उजुर-कर्सना 128
उत्सवनृत्य 75
उद्गाता 28; 100, 608
उद्ग्राह 62
उपयोगितावादी कला 133
उपोहन 56
उर 27
उरंगी-एँदानद 132
उरम-पाड़ 153
उलनार (ग्राम) 215
उलुड़ (वाद्य) 24, 48, 49, 82, 193
उलुड़ि (वाद्य) 48
उसुर 27
उसे मुदियाल 111

ऊ

ऊँगरीगुड़ा (ग्राम) 16
ऊगे 25
ऊर्ध्वलिंग 24

ऋ

ऋग्वेद 24, 55, 67
ऋचा 4, 5

ए

एकताल 147
एकमुखी 37-39
एकल नृत्य 64
एकल शब्दाकृति 146
एटिक 21
एडवर्ड जे 19
एड़का (ग्राम) 13
एन्दना 26, 126
एमिक 21
एरकेन्याङ्ग 43
एरगुट्टा (ग्राम) 13

ओ

ओ० ए० वाल 24
ओझा (जनजाति) 25, 40
ओझापर्रा (वाद्य) 40, 42
ओयना 25
ओरगाँव 11, 13
ओरछा (ग्राम) 11, 13, 67, 68
ओसोड़ (वाद्य) 29, 48

क

कंकाली पाड़ 158
कगोली (ग्राम) 5
कजिरा (वाद्य) 29, 39
कंठ संगीत 54, 187
कंसवधनाट 143
ककवार (ग्राम) 67
ककसाड़ 41, 66–68, 197
ककसाड़-नृत्य 67, 164, 186
कगसाड़ 38, 67, 166, 185
कचटेन्दोड़ (वाद्य) 29
कचटेहण्डोर (वाद्य) 29, 45, 46, 183
कछोरा (ग्राम) 17
कटवाकी (वाद्य) 26, 46, 187
कडरेंगाल 116

कड़ंगाल (ग्राम) 71
कड़ंगाल परगना 13
कडेकट्टा (ग्राम) 14
कनेरा (ग्राम) 17, 156
कन्हारगाँव 14
कपड़दार 202
कपड़दारिन 202
कवोंगा (ग्राम) 148
करंजी (ग्राम) 215
करताल (वाद्य) 32
करनाकोटिन 34
कर्सना 126
कर्सना-एन्दाना 126-131
कर्सना-पाटा 57, 58, 130
कर्साड़ 67, 132, 173
कर्साड़-पाटा 56, 60
कर्सानद-डाका 132
कर्सी-पाटा 71
कर्से-पाटा 92, 172
कलगाँव 13, 16
कलेपाल (ग्राम) 13, 16, 215
कडरी गायता 209
कसेर गायता 108, 209, 210
कहकापार (ग्राम) 67
कहसाड़ 67
काँकेर 3, 7, 9, 10, 12, 16, 17, 19, 22, 204
काँडाबारा 138
काकड़ा-कर्सना 126, 171, 172
काटी 113
काटी-दाँदर 112
काठा 42–44, 183, 198
कानागाँव 13, 16
कान्हरगाँव 16
कापू-डाका 26, 104
कारीकोट (ग्राम) 12
कारीकोदरा (ग्राम) 13

कार्लमार्क्स 188
कालपाटी परगना 14
किंदरी (वाद्य) 31
किकरी (वाद्य) 30, 31
किड़िगाल परगना 14
किन्नरा (वाद्य) 29, 31, 193
किनेरी (वाद्य) 31
किरगिच (वाद्य) 29, 32
किरन्दूल (नगर) 3
किलेपाल (ग्राम) 158
कीकिड़ (वाद्य) 29, 31
कुँआरीमावली-पाड़ 154
कुंजाड़ (वाद्य) 29, 32
कुंदिड़ (वाद्य) 37, 131
कुंदुड़ (वाद्य) 37
कुंदुर (वाद्य) 77
कुंदुरका (वाद्य) 37
कुंदुरी (वाद्य) 37
कुकुरकोलांग 100
कुटुमकोड़ 13
कुटोर्का (वाद्य) 45, 87
कुडुक्का (वाद्य) 37
कुडुरका (वाद्य) 24, 83
कुतुल (ग्राम) 68
कुन्तपदर (ग्राम) 126
कुन्दीर (वाद्य) 131
कुमरावण्ड (ग्राम) 124, 126
कुरेनार (ग्राम) 14
कुल्हाडीह (ग्राम) 16
केकरेङ्ग (वाद्य) 29, 31
केजांग (ग्राम) 16
केदारनाथ ठाकुर 114, 155
केरलापाल (ग्राम) 13
केरीब्रेड़ा (ग्राम) 16
केलाकोट (ग्राम) 15
केलियारी (ग्राम) 13

के० वासुदेव शास्त्री 25, 37, 64
केसकालपरगना 11, 14, 16, 17
केसरबेड़ा (ग्राम) 12
केसरपालिन 34
के० सी० दुबे 19, 215
कोंगुर परगना 12-14, 16
कोंगेरा (ग्राम) 13, 14
कोंडागाँव 9, 11-17, 23, 32, 67, 79, 85, 143, 153, 190, 211, 214, 215
कोंडागाँव-पाड़ 153
कोइलीबेड़ा (ग्राम) 14, 104
कोइलीबेड़ा-परगना 9, 14
कोकटी (घोड़ा) 75, 79, 135, 176
कोकामेटा (ग्राम) 16
कोकेड़ी (ग्राम) 16
कोकोटार-डाका 26, 104
कोची 179
कोटनिया 202
कोड़कापार (ग्राम) 68
कोड़ोखसगाँव 13
कोण्टा (तहसील) 204
कोतादेई 35
कोदोभात (ग्राम) 16
कोपरा (ग्राम) 16
कोपरा-परगना 16, 17
कोयपाल 215
कोरेंगा 215
कोलर-परगना 13, 14, 16
कोला 99, 103, 107
कोलांग 99, 102, 182
कोलापाटा 55, 57-61, 102, 106
कोरकुटी (ग्राम) 16
कोरपुदे-पाड़ 151
कोसमी (ग्राम) 14
कोसागाँव 16
कोहकापाल (ग्राम) 121
क्रीड़ानृत्य 26, 67, 126-132, 138
क्रुक 204

ख

खंजरी (वाद्य) 39
खड़खड़ा (वाद्य) 31
खरगाँव 13
खलेचन्देली (ग्राम) 16
खल्लारी (ग्राम) 16
खाँडाडोकरा-पाड़ 154
खाड़कागाँव 13
खुण्ट मृदंग (वाद्य) 29, 42
खुरपई (ग्राम) 13
खूंट-माँदरी (वाद्य) 42
खूटागाँव 14, 91, 107
खेतरपाल (ग्राम) 14
खोरपानी (ग्राम) 13

ग

गंगादेई 34
गँवरनृत्य 137, 187, 212
गँवरसींग 19, 179
गट्टा (वाद्य) 46
गढ़बंगाल (ग्राम) 13, 14
गदबा (जनजाति) 2, 156, 170
गदबा-नृत्य 132, 170, 171
गम्मत 27, 143
गमात 133
गर्दा (ग्राम) 13
गवारी (ग्राम) 16
गाँडा (जाति) 6
गाँधी बाबा 124
गाँवदेई 85, 86, 106, 108, 198
गाइन 26, 79, 100-104, 107, 173, 187, 202, 207, 213
गान्धर्वग्रंथ 25, 64
गायता 23, 28, 55, 85-88, 100-103, 106-108, 112, 113, 164, 184, 185, 197, 198, 199, 200, 201, 202, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 215
गायतासंस्कृति 207, 208
गीतकरिन 202
गीतकुरया 101, 144, 202

गीतकुरिन 144, 202
गीतगाऊ 202
गीतगोविन्द 67
गुगुरिंगगुस-कर्सना 129, 171
गुनिया 180, 184, 198, 201, 202, 207, 212
गुप्त सांकेतिक प्रणाली 156
गुमरी (ग्राम) 14
गुमीवेड़ा (ग्राम) 67
गुरुमाय 25, 32-35, 158, 187, 202, 214
गेड़ीनृत्य 131
गैतासंस्कृति 208
गोंडराकोट्टी-एँदानद 132
गोंड़िनपाड़ 152
गोंड़ी-संगीत 17
गोंडुल (ग्राम) 13
गोंदोली (ग्राम) 67
गोगा (वाद्य) 29, 37, 38
गोत्र 2, 12, 19, 20, 55, 65, 66, 85, 87
गोदरी (ग्राम) 13, 67, 68
गोमपाल (ग्राम) 68
गौरी 33, 35
ग्रिग्सन 16, 19, 195

घ

घंटिका (वाद्य) 29,46
घंटा (वाद्य) 46
घंटी (वाद्य) 45, 46, 73, 100, 101, 104, 108, 136, 179, 180
घड़वा (जाति) 6, 45, 60
घनवाद्य 27, 29, 32, 45, 46, 187
घसिया (जाति) 46, 49
घाटझोरिया परगना 13
घुंघरू (वाद्य) 46, 71
घुड़की (वाद्य) 51
घुमरा 25, 34
घोटुल 8, 12, 19-22, 41, 45, 65-68, 74-79, 85-88, 94, 100–104, 107, 108, 112, 116, 117, 126, 140, 148, 159, 160, 166, 171, 185, 188, 190, 192, 199, 202, 207, 210, 212

घोटुल-नृत्य 186
घोटुल-पाटा 7, 143
घोटुल-संगीत 20
घोटुल-संस्कृति 55
घोषा 25, 56, 113, 146

च

चइतपरब-गीत 62, 174, 188
चर्चरी ताल 152
चर्चरी प्रवन्ध 52, 155
चांग (वाद्य) 39, 41
चांगि (वाद्य) 41
चाँदवेड़ा (ग्राम) 92
चालका परगना 15, 17, 192
चालकी 196
चालचेर (ग्राम) 67
चालुक्य 8, 190
चारगाँव 14
चारबेड़ा (ग्राम) 14
चिगरी-भुनभुनी 129
चिकारा (वाद्य) 31
चिटकुल (वाद्य) 29, 46, 48, 58, 183, 187
चिटकुल-पाटा 46, 58
चित्रकोट-क्षेत्र 132, 143
चिलपरस (ग्राम) 13
चीखलडीह (ग्राम) 16
चेरपाल (ग्राम) 204
चेलिक 29, 41-46, 65-68, 70-72, 74-75, 84-87, 89, 98-108, 116, 148, 149, 151, 154, 164, 211
चेली गुरु मायँ 33, 188, 202, 214
चेह्नना 25
चैटर्टन 204
चैतदाँदर 79, 112-114, 166, 172, 174
चैतदाँदर-गीत 61, 62
चैतदाँदर- नृत्य 99, 108, 186
चैतराही 114, 113
चैत्र-दण्डरास 112

छ

छत्तीसकोटिन 34
छत्तीसगढ़ी 2, 9, 10, 12-14, 17, 53, 86, 99, 114
छत्तीसगढ़ी-संगीत 13, 14, 17
छन्दयोजना 3, 5, 6, 26, 52, 145
छापर भानपुरी (ग्राम) 143
छालिक्य 52, 78, 79
छिंदक नाग 7, 139, 190, 193, 198
छिंदपाल (ग्राम) 13
छिमरी (ग्राम) 15
छियानार (ग्राम) 15
छीरनकड़ी 32
छीरनकाँडी 32
छेरछेर-आलप्ति 62
छेरछेर-पुन्नी 116
छेरछेरा-गीत 62
छेरछेरा-पर्व 81, 117, 119
छेरता-गीत 62, 116-118, 187
छेरता-नृत्य 23, 31, 55, 99, 116, 154, 166, 186, 193
छेरता-पुन्नी 101
छोटे डोंगर (ग्राम) 11, 67, 68, 70, 71
छोटे डोंगर (परगना) 13, 16, 209, 210

ज

जगदलपुर 3, 11, 51, 85, 155, 158, 214, 215
जगार 32-34, 214
जगारगायिका 33
जगारगीत 32, 33
जगारघर 32, 34
जगारपर्व 33
जनकवि 55
जनजातीय गीत 27, 62
जनजातीय नृत्य 27, 64
जनजातीय बोली 25
जनजातीय वाद्य 28-51
जनजातीय संगीत 18, 21-23, 25, 148, 161, 188, 189, 190
जनजातीय संस्कृति 18, 21, 22

जनजातीय सांगीतिक भाषाविज्ञान 18
जननाट 67, 133, 138
जनबोली 27, 52-54
जनभाषा और साहित्य 18, 52, 53, 187
जन-रंगमंच 138
जन-वाद्य 28
जन-संस्कृति 18, 22
जयताल (ग्राम) 13
जयदेव 67
जलकन्या 43, 197, 198
जलकन्याङ्ग-कर्सना 127, 186
जलकामिनी 36
जवरगुण्डा (ग्राम) 67
जाँगड़ाभीमा 34
जातीय बोली 13
जात्रा 67, 68, 185
जात्रा-गीत 60, 72
जात्रा-नृत्य 23, 26, 67, 68, 71, 133, 135, 137, 166, 171, 172, 186, 193
जानादेई 35
जामगाँव 16
जारा (ग्राम) 67
जॉर्ज स्काट 24
जीका (वाद्य) 24, 29, 47, 50, 82, 83
जुगानी (ग्राम) 13, 113
जुवाड़ा (ग्राम) 67, 68
जेठगाँव 14
जैतपुरी 17
जोवता 26, 100, 102, 104, 107, 173, 187, 202, 207
जोगी 56
ज्योतिर्लिंग 24

झ

झाँझ (वाद्य) 29, 46, 91, 92
झालियाना-पाड़ 158
झिकर (वाद्य) 29
झोरियागीत 23

झोरिया (जनजाति) 15, 19, 23, 46, 50, 75, 133, 148, 174, 184, 210
झोरिया परगना 13, 29, 112, 204
झोरिया बोली 16, 23, 48, 53

ट

टपी 25, 59, 60
टाकरागुड़ा (ग्राम) 158
टिकनपाल (ग्राम) 51
टुटमरी-कर्सना 126
टुडरा (वाद्य) 45, 89, 90
टुडुर्का (वाद्य) 45
टुड़बुड़ (वाद्य) 37
टेक 25, 56, 62, 63, 146, 193
टेण्डोड़ (वाद्य) 45
टेम्पल 204
टेहडोड़ (वाद्य) 45
टोड़ी (वाद्य) 49
टोण्डावेड़ा (ग्राम) 67
टोयलि (वाद्य) 29, 31

ड

डंडार 99, 115
डंडहार 99
डंडार-गीत 58, 60, 103, 115
डंडा-नाच 81
डंडार-नृत्य 23, 55, 101, 103, 104, 114, 115
डंडारी नृत्य 102, 115
डमरुक (वाद्य), 29, 40, 193
डमरू (वाद्य) 40, 42
डाका 23, 24, 26, 27, 42, 64, 71, 73, 75, 82, 83, 89, 100, 104, 110, 148, 172
डाकी (वाद्य) 39
डाल्टन 204
डाहका 26, 172
डिटो-एन्दाना 131
डिण्डाराजु 93, 98
डीवाड़-एन्दाना 55, 75, 81, 85, 164, 166
डीवाड़-पाटा 55, 60

डुवडुबी (वाद्य) 37
डुमरी (वाद्य) 29, 31
डुमिड़ (वाद्य) 31
डुमिर (वाद्य) 29, 31
डूमादेव 42, 198, 199
डोंगरीगुड़ा (ग्राम) 127
डोल (वाद्य) 39
डोल-डाका 132
डोली 23

ढ

ढुसिर (वाद्य) 28-31
ढोरकट्टा (ग्राम) 3
ढोल (वाद्य) 28, 29, 37, 39-41, 48, 66, 71, 75, 89-91, 131, 142, 148, 151, 152, 155-158, 180
ढोल-नाचा 132
ढोल-संकेतन 156, 157
ढोल-संकेतनप्रणाली 158

त

तंत्री वाद्य 29-36, 39, 45, 51
तत वाद्य 27, 29, 187
तन 27
तमासा 27, 67, 133
तरईबेड़ा (ग्राम) 16
तरीनाक्षर 61
तलुरमुत्ते 112, 116
तल्लागुड़ा 179
ताड़ोकी (ग्राम) 10
ताण्डव 75
तार सप्तक 62
तारागीत 117, 123-126, 187, 188, 193
तारानृत्य 123, 136, 193
ताल 22, 25, 41, 52, 56, 62, 90, 113, 131, 147, 148, 154-156
तालबन्ध 79, 154
ताल वाद्य 18, 45
तिमोड़ा (ग्राम) 13

तिरड्डी 41, 180
तीजा जगार 33
तुड्डुम (वाद्य) 38
तुड़वुड़ी (वाद्य) 29, 37, 71, 75
तुरवुड़ी (वाद्य) 37
तुरम (वाद्य) 37-39, 156
तुरही (वाद्य) 49, 155, 156, 203
तूर्य (वाद्य) 29, 37, 38, 50
तेनक 52, 62
तेनाक्षर 61, 193, 194
तेमुरगाँव 16
तेलंगागाँव 16
तेल-उतरानी-पाड़ 158
तेल-चेघानी पाड़ 158
तोड़ी (वाद्य) 47, 49, 50, 155, 183
तोड़ी-पर्रा (वाद्य) 39, 40
तोहार (ग्राम) 14
तोहेली (वाद्य) 27, 31
त्रोटक (वाद्य) 29, 49, 193

थ

थाप 25, 55, 144

द

दण्डरास 69, 99, 115, 213
दण्डरासनृत्य 26, 67
दण्डामी माड़िया 2, 19, 21, 23, 32, 40, 41, 45, 46, 48-50, 59, 67, 104, 131, 132, 139, 143, 156, 158, 164-169, 172, 178, 179, 180, 181, 184, 185, 187, 195, 196, 199, 201, 209, 212, 215, 216
दण्डामी माड़िया-संगीत 17
दण्डार 68, 180, 213
दन्तेवाड़ा 8, 51, 204
दन्तेश्वरी 7, 34, 42, 51, 115, 136, 154, 198, 210
दन्तेश्वरी-पाड़ 158
दहिकोंगा (ग्राम) 17
दाँदर 99, 113
दागो 25

दाड़ंगो-उण्डाना-पाड़ 149
दामोदर पण्डित 22
दासोकाड़ी (वाद्य) 29, 32
दिग्विज्ञान 164
दीवाड़-नृत्य 85, 86
दीवाली-नृत्य 75, 79, 85, 99
दीस 25, 27
दुगावंगाल (ग्राम) 13
दुरलीगुटसरा (ग्राम) 14
दुर्पाडाँडी-कर्सना 129
दुलारदेई-पाड़ 158
दूगाल परगना 13
दृश्य सम्प्रेषण 161-176
देवकोलाङ्ग 108
देवगाँव 13, 16
देवरा (ग्राम) 13
देशी राग 25, 62
देशी संगीत 52
दोर्ला (जनजाति) 2, 23, 38, 67, 143, 156, 164, 184, 185,
दोर्ली (वोली) 48, 145, 209
द्रविडियन एँटीमालाजिकल डिक्शनरी 26, 27, 38, 39, 67
द्रविड़-संगीत 23
द्विपक्षी-संवादप्रेषण 157

ध

धनकुल 7. 32-36, 158, 187, 214
धनकुल-उत्सव 33, 35
धनकुल-कथा 33
धनकुल-गायन 33
धनकुल-गीत 25, 32, 33, 188
धनकुल-वादक 33
धनकुल-वादन 33
धनकुल-वाद्य 29, 32, 33, 187
धनसुली (ग्राम) 14
धनुपरिवार 32
धनुष्कुल 32-34
धनोरा (ग्राम) 16

धाँगड़ी 65
धुन 21, 23, 103, 131, 152
धुरवेड़ा (ग्राम) 68
धुरवा (जनजाति) 2, 23, 209
ध्रुवा 53, 56
ध्वनि 1, 25, 40, 44-46, 50, 52, 54, 65
ध्वनिक्रम 144, 146
ध्वनिवर्ग 31
ध्वनिव्यवस्था 157
ध्वनिसंकेत 53

न

नकटा 27, 116, 117, 121, 134, 138, 207
नकटी 27, 116, 121 134 138
नगाड़ा (वाद्य) 51
नचकार 202
नचकरिन 202
नटराज 23
नन्दिकेश्वर 25, 42, 55, 193
नन्दी 35
नलनार (ग्राम) 68
नलपुर 16
नलनृपति 7, 140, 190
नलनृपति भीमसेन 207
नलनृपति विलासतुङ्ग 28
नयानार (ग्राम) 13, 14, 160, 171
नवागढ़ (ग्राम) 14
नवागाँव 13
नवात-पाड़ 158
नवातबाजा (वाद्य) 51
नाकडाँडी-कर्सना 127, 171, 186
नागलदण्ड (ग्राम) 14
नागस्वर (वाद्य) 49, 50
नाचकुरया 26, 136, 137, 202
नाचकुरिन 26, 202
नाचकोठार 115

नाट 7, 27, 133, 137, 143
नाटकरया 133, 143, 202, 214
नाटकुरया 133, 136-138, 202, 213
नाटगुरु 27, 133, 143, 202, 214
नाट्यमण्डली 143, 215
नाट्यरासक 155
नाट्यशास्त्र 41, 53, 154, 163, 172
नाट्यशैली 67
नाद 22, 25
नारदीय शिक्षा 28
नारायनपुर 9-14, 67, 94, 97, 103
नारायनपुर-परगना 13-15, 23, 204
नारावण्डी (ग्राम) 120, 122
निबद्ध 52, 62
निराछिदली (ग्राम) 14
निसान (वाद्य) 29, 36, 183, 215
निस्साण (वाद्य) 29, 37
निषाद-सुर 48
नीलेन्द्रीहरननाट 143
नुगालीपाल (ग्राम) 16
नृत्यकला 27, 64
नृत्यगान 78
नृत्यगीत 63, 67
नृत्यदण्ड 41, 104, 107, 108, 117
नृत्यपरम्परा 26
नृत्यपरिधान 71, 173, 178
नृत्यमण्डली 8, 89, 100-102
नृत्ययात्रा 65, 79, 107
नृत्य-सरचना 21, 27, 75
नृत्य-समारोह 22, 183
नृत्य-सामग्री 26, 66
नृत्यशास्त्र 163
नृत्यशैली 41, 66
नृत्याध्याय 90
नृत्याभरण 55
नृत्याभिनय 67, 136

नृत्याभिनयात्मक गीतविधा 62
नृत्योत्सव 108
नेई कोलाङ्ग 100
नेई-तरहाना-पाड़ 150
नेतानार (ग्राम) 13
नेतुरगुण्डी 203
नेलगायता 209
नोकावेड़ा (ग्राम) 16

प

पक-टेन्दोड़ (वाद्य) 29
पक-टेहण्डोर (वाद्य) 46
पक-डोल (वाद्य) 29, 39
परवांजुर (ग्राम) 10
पदरगाँव 12
पदसंचार-संरचना 73
पम्पराजदेव 208
परई (वाद्य) 40
परघाव-पाड़ 48, 148, 158
परजा-क्षेत्र 49
परजा-जनजाति 31, 46, 48, 116
परजी 188
परतापपुर (ग्राम) 10, 209
परधान 202, 204, 206
परलकोट (ग्राम) 10
परलकोट-परगना 14
परला-उचानी-पाड़ 158
पर्राकुमारी (ग्राम) 68
पर्राइ (वाद्य) 23, 40, 89, 131
पर्राङ्ग (वाद्य) 24, 29, 39, 91
पर्याय (वाद्य) 39, 82
पर्रायिन (वाद्य) 40
पलोरा (ग्राम) 14
पल्लारी (ग्राम) 16
पल्ली 37, 38, 40-42, 44, 45, 157
पाँजियार 198, 201, 202, 207, 212
पाइक 196

पाट 52, 62, 148, 193
पाट गुरुमायँ 33, 202
पाटा-एन्दाना 26, 170
पाटाक्षर 27, 37, 41, 148, 154, 155, 193
पाटाक्षरसमूह 56
पाटाक्षरिक संरचना 148
पाड़ 27, 42, 52, 63, 146, 148, 156, 158
पाणिका 56
पादाभिनय 89, 90
पानीडोंगरी (ग्राम) 13
पायल (वाद्य) 46, 179
पार 148
पारना 25
पारेंगा (ग्राम) 14
पार्वती 34, 35, 55, 64, 117
पालकी (ग्राम) 13
पाली (गाम) 14
पाश्चात्य संगीत 21
पिटोर्का (वाद्य) 29, 46
पिण्ड 42, 44
पिण्डीवद्ध नृत्य 194
पिपरा (ग्राम) 13
पिरामिड-नृत्य 114
पी० एन० बोस 204
पीपरावण्डी (ग्राम) 120, 122
पुष्कर (वाद्य) 41
पुत्तलिका 116, 136
पूपगाँव 104
पूसकोलाङ्ग 68, 79, 99-104, 108, 112-114, 116, 117, 164, 166, 172, 174, 200
पूसकोलाङ्ग-नृत्य 28, 31, 99, 186
पेंजोरी (ग्राम) 9
पेण्डुल-डाका 132
पेण्ड्रावन (ग्राम) 16
पेन-एन्दाना 104
पेन-करसीता 67
पेन-करसीता-नृत्य 41

पेन-कोलाङ्ग 108, 164, 166, 186
पेन-कोलाङ्ग नृत्य 99
पेनगायता 209, 210
पेनपुजारी 209
पेन-डाका 132
पेन-डोल (वाद्य) 39
पेन-पाटा 109
पेन-वड्डे 209
पेरमा 209
पेवारी (ग्राम) 13
पेस 27
पैंजना (वाद्य) 28, 83
पोड़िया 179
पौराणिक संगीत 25
प्रत्युपोहन 56
प्रफुल्लकुमारी देवी 132
प्रभावी प्रमुख दीर्घता 146
प्रवीरचन्द्र भंजदेव 198
प्रहसन 133, 138
प्रोटो-आस्ट्रोलाइड 19

फ

फरसगाँव 16
फरा (वाद्य) 39
फिल्म-संगीत 14
फुलपाड़ (ग्राम) 28, 29
फैलिक वर्शिप 24

ब

बंगोली (ग्राम) 15
बंजारिन माता 61
बँजोरा (ग्राम) 17
बंदिश 62
बगबेड़ा (ग्राम) 16
बजनेया 27, 202, 215
बड़ागाँव 16
बड़ागाँव परगना 13

बड़ा झोरिया परगना 13
बड़ा टोण्डावेड़ा (ग्राम) 68
बड़ादेव (ग्राम) 67
बड़े डोंगर (ग्राम) 16
बडे डोंगर (परगना) 16
बदरा (ग्राम) 16
बनकुँअर-पाड़ 158
बनछई (ग्राम) 15
बनियागाँव 16, 17
बन्दादेश परगना 13
बन्दोपाल (ग्राम) 13
बवई (ग्राम) 16
बमनी (ग्राम) 14
बमनी परगना 14
बयानार (ग्राम) 12, 16
बरमकोट (ग्राम) 154
बरहापेन 31, 39
बरात-पाड़ 158
बर्का (ग्राम) 16
बस्तरभूषण 115
बहुभाषी संगीत 53
बाँउसी (वाद्य) 48
बाँसगाँव 16
बाँसुरी (वाद्य) 23, 24, 29, 48, 49, 55, 71, 83, 97, 148, 154, 156, 193
बायो-लिंग्विस्टिक्स 158
बासकेट (ग्राम) 16
बाण्डोपाल (ग्राम) 90
बारकोट (ग्राम) 14
बारागाँव 148
बाली गौरा 35, 36
बिजली (ग्राम) 13, 71, 72
बिरिया (ढोल) 29, 40, 41
बिसरामपुरी (ग्राम) 16
बीजाक्षर 144
बीजापुर (तहसील) 204
बीन (वाद्य) 45

बुरकाल-पाटा 110
बुलबन्द (ग्राम) 13
बूढ़ाडोकरा-पाड़ 154, 158
बेदरी-एन्दाना 114, 172, 186
बेड़मा (ग्राम) 16
बेनूर (ग्राम) 11-13
बेनूर परगना 13, 16
बेरमा (ग्राम) 9
बेलगाँव 16
बेलोसा 85
बोरगाँव 12, 14
बोरपाल (ग्राम) 13
बोरोण्डी (ग्राम) 122
बोल 21; 27, 42, 44, 63, 146, 155, 156, 158, 193
बोलबनाव 63
बोलसमूह 18
बोहरानी 88, 141, 142, 200
ब्रह्मपुराण 24
ब्रह्मवैवर्तपुराण 78
ब्रह्माण्डपुराण 24
ब्रिटिश ट्रेवलर्स इन नागपुर टेरीटरीज 11
ब्लण्ट 11, 156, 158

भ

भँइसडाँड-कर्सना 127
भंगाराम 31, 56, 61, 193, 210
भगाराम-पाड़ 154, 158
भंडारसिवनी (ग्राम) 79
भतरा (जनजाति) 2, 8, 31, 32, 46, 48, 63, 180, 181, 187, 214
भतरी 14, 33, 53, 56, 99, 115, 133
भरेवा (जाति) 46
भरत 41, 53, 56, 163
भागवतपुराण 78
भानपुरी (ग्राम) 16, 17, 92, 214
भानुप्रतापपुर 9, 10
भामिनी-पाड़ 154

भीम 24, 28, 185
भीमा (जनजाति) 23, 24, 56
भीमुल 42-44, 89, 131, 154, 185, 193, 197, 198, 206
भीमुल-पाड़ 154
भीमुल-पेन 112
भूमगायता 209, 210
भुमिया 209
भैरमगढ़ 120, 122
भैरम-पाड़ 158
भोंमरा परगना 13
भोपालपटनम 51, 154
भोरेंगा (ग्राम) 15

म

मंजीरा (वाद्य) 29, 46
मंदाली (ग्राम) 68
मकरी परगना 16, 17
मड़ई-जात्रा 65
मड़पाल (ग्राम) 16
मतेंगा (ग्राम) 16
मदन पर्राड़ (वाद्य) 28
मधुकरी (वाद्य) 26, 29, 49, 193
मधुरान्तकदेव 7, 198
मध्यवर्ती द्रविड़ 19
मनीनार (ग्राम) 67
मरगाँव 16
मरदापाल परगना 16, 71
मरम-पाटा 98, 110
मरागाँव 14
मरोड़ा (ग्राम) 14
मर्कबेड़ा (ग्राम) 13, 68, 85, 87, 126
मर्दल (वाद्य) 41
मर्दाल (वाद्य) 41
महरा (जाति) 6, 215
महापाषाणी संस्कृति 2
महाभारत 24, 41

महाभारतनाट 143
महुआ-दाँदर 112, 114, 116, 166, 186
मांझी 12, 48, 49, 104, 184, 196
मांडा-पाड़ 149
मांदर (वाद्य) 41, 148
माँदरी (वाद्य) 29, 40-43, 131, 142, 154, 198
मांदरी-गुरु 27, 44, 90, 148, 154, 202, 214
माँदरी-पाड़ 153
मांदरी-नृत्य 22, 26, 75, 89, 91-93, 139, 164, 170, 171, 186, 188, 213
मांदरीपेल्नी-पाड़ 152, 153
माउड़-तताना-पाड़ 151
माटियार 209
माटी गायता 209
माटी-पाड़ 153, 158
माठपाल (ग्राम) 13
माड़िया-गोंड्स ऑव वस्तर 16
माड़िया-डाका 110, 132
मातगाँव 16
मातादेई 101, 108, 112
माता-पाड़ 154, 158
मात्रकविज्ञान 164-169
मानवविज्ञानाश्रित भाषाविज्ञान 18, 216
मानिकपुर 16
मारकानार (ग्राम) 14
मारडुम (ग्राम) 51
मारी 188
मार्दल (वाद्य) 44
मालकोट (ग्राम) 12, 16
मावली 34, 215
मावलीगुड़ा 215
मावली-पाड़ 154, 158
मावालोटी (वाद्य) 37
माहका (ग्राम) 13
मिन्दचना-कर्सना 126
मिरगान (जाति) 51
मिरदिंग (वाद्य) 41

मीरगाँव 16
मुइंग (वाद्य) 41
मुकरी (ग्राम) 16
मुखौटा 117, 135, 136
मुण्डागीत 37
मुण्डा जनजाति 8, 25
मुण्डा-परिवार 29
मुण्डा-बोली 8
मुद्रा 21, 64, 80, 91
मुनि जिनविजय 78
मुयांग (वाद्य) 29; 46, 104, 179, 183, 187
मुरनार (ग्राम) 14
मुरमुर (ग्राम) 13
मुरली (वाद्य) 48, 193
मुरिया एण्ड देयर घोटुल 207
मुरिया-क्षेत्र 9, 10, 12, 14, 17, 19, 20, 37, 48, 50, 71, 79, 112, 116, 117, 132, 210, 214
मुरिया गीत 46, 48, 56, 61, 109
मुरिया-जनजाति 12-14, 17-20, 22-24, 28-31, 37-46, 48, 53, 62, 64, 66-71, 93, 99, 113 116, 117, 139, 141, 143, 148, 154, 158, 164-174, 178, 180, 184, 185, 186 188, 190, 191, 192, 194, 195, 196, 199, 200, 201, 202, 207, 209, 210 212, 216
मुरिया-नृत्य 71, 78, 117, 183
मुरिया-बोली 9, 12-17, 23, 25, 31, 37, 48, 53, 56, 62, 209
मुरिया-माड़िया-संगीत 20
मुरिया-मिथक 64
मुरिया-संगीत 13, 17, 20, 22, 23, 25, 52, 53, 56, 191
मुरिया-संस्कृति 9, 190
मृत्युगीत 110
मृदंग (वाद्य) 22, 23, 27-29, 41, 42, 193
मृदग-गुरु 27, 193
मेंदरी बाजा (वाद्य) 51
मेंदुर (ग्राम) 68
मेटावण्ड (ग्राम) 13, 148
मोघी 174, 176, 179
मोटियारी 22, 42, 44, 45, 65, 66, 68, 71-72, 74, 75, 85, 87, 91, 92, 100-102, 106-108, 117, 151, 164, 174

मोहरी (वाद्य) 47, 49, 168, 183, 215
मोहरेया 27, 50, 202, 215

य

यामलाष्टक 25
येरकेन्याङ्ग 36

र

रक्षपालदेव 214
रचा 74, 87, 107, 138, 162, 167, 180, 212
रसेल 204
राँधना (ग्राम) 16
राँ-री टेक 6
रागात्मक तत्व 20, 25, 27, 62, 63, 158
राजपुरा (ग्राम) 13, 67
राजमुरिया 143, 180, 181, 190, 214
रामबाजा (वाद्य) 51
रामलीलानाट 143
रायगिड़ी (वाद्य) 51
रायनार (ग्राम) 68
रायबहादुर हीरालाल 204
रास 78, 79, 155
रासक 78
रासताल 147
रासनृत्य 26, 52, 67, 75, 99, 172, 213
रासपंचाध्यायी 78
रासलीला 75, 79
रीलाक्षर 6
रीलो 59
रूपसांगीतिकी 21
रूप-सांगीतिम 21
रेमावण्ड (ग्राम) 13, 87, 117, 126
रेला 56
रेलाक्षर 58, 61, 193
रेला-पाटा 55, 93, 96, 97
रेलो 25, 26, 56, 67, 90, 139
रोचे 56, 146
रोचे-सेला 56, 102

ल

लंका (ग्राम) 132
लजोरा (ग्राम) 12, 16
लक्ष्मीजगार 33
लक्ष्मीपुराननाट 143
लमसेना 96
लय 3, 5, 6, 18, 22, 25-27, 31, 38, 39, 53, 56, 64, 67, 75, 79, 90, 93, 100, 131, 146-149, 154-158
लागिड़ 66, 89
लागिड़-पाड़ 151, 158
लामनी (ग्राम) 65
लिंगागिरि 204
लिंगापुर 204
लिंगापुरम 204
लिंगाल पेन 204
लिंगालपल्ली 204
लिंगो 9, 22-25, 28, 29, 31, 36, 37, 39, 42, 44, 45, 48, 55, 56, 64, 66, 75, 76, 79, 82-84, 89, 99, 160, 107, 110, 147, 154, 185, 193, 197, 202, 203, 204, 205, 206, 207, 213
लिंगो-एन्दाना 104, 113, 72
लिंगो का पुजारी 200
लिंगो-पाटा 28, 110
लिंगो-पाड़ 101, 154
लिंगोपासना 24
लिंगोपेन 101, 205
लिंगो-सस्कृति 44, 112, 202, 204, 205, 206, 207
लिंगो-सिंगार 100, 108
लेंगना-पाटा 82, 83
लेकना 25, 56, 146
लेस्के 156, 185, 211
लोहाटी (वाद्य) 37

व

वंगाराम-पाड़ 154
वतकुल (ग्राम) 67
वर्कपाड़ 153
वाचिक सम्प्रेषण 161, 162
वाटबेड़ा (ग्राम) 67, 68

वाद्यकला 29, 44
वाद्यपनिक 27
वाद्यपुरुष 28, 29
वाद्यसंगीत 54, 187
वाद्याध्याय 36
वानरनृत्य 104, 114
वामनपुराण 24
वारत्राऊ 202
वितत वाद्य 27, 29, 36
विदूषक 116, 134
विष्णुपुराण 78
वीथीनृत्य 75, 76
वीणा (वाद्य) 28
वृत्ताकार नृत्यशैली 75
वेणु (वाद्य) 28
वेद्दुर डोल (वाद्य) 39
वेरियर एल्विन 19, 20, 22, 24, 45, 131, 148, 195, 202, 204, 205, 206, 207, 216
वेरों-वेरों एँदानद 132
वैदिक संगीत 23
व्याघ्र-गीत 110
व्रिया (वाद्य) 40, 41

स

संकेतन-प्रणाली 155-157
संगीतदर्पण 22
संगीतनारायण 29
संगीतपारिजात 22
संगीतबोध 56
संगीत, मानवविज्ञान और भाषाविज्ञान 18
संगीतरत्नाकर 22, 50, 52, 62, 147, 148, 155
संगीतशास्त्र 18, 25, 57, 64, 147
संगीतात्मक आरी (वाद्य) 82
संरचनात्मक भाषाविज्ञान 21, 170, 216
संस्कृतनाटक 25, 27, 29, 37, 39, 41, 48, 49, 67, 78, 138, 172
सगा-पाड़ 149, 158
सदाशिव 22, 28
समधीजोहार 90

समपादाभिनय 90
समवेत गायन 145, 146
समिलहा 90
समूहगान 56
समूहनृत्य 164, 186
सरंगीड़ (वाद्य) 23, 82
सरकण्ड वाद्य 34
सरगीपाल (ग्राम) 13, 16
सरसा (ग्राम) 16
सरस्वतीकण्ठाभरण 79
सलमलरैंय्या 35
सवांग 27, 133
सांगीतिक अनुष्ठान 198
सांगीतिक अर्थ 162
सांगीतिक आयोजन 199
सांगीतिक इकाई 18
सांगीतिक कोष 207
सांगीतिक क्षेत्र 21
सांगीतिक छन्द 18
सांगीतिक तत्त्व 9
सांगीतिक ताल 146
सांगीतिक धुन 157
सांगीतिक परिवर्तन 11
सांगीतिक प्रभाव 32
सांगीतिक भाषा 53
सांगीतिक भाषाविज्ञान 9, 21, 22
सांगीतिक यात्रा 198, 207
सांगीतिक वाद्य 8, 18, 20-24, 27-29, 31-32, 36-40, 44-47, 50-52, 56, 71, 78, 91, 117, 137, 139, 147, 155, 156, 196
सांगीतिक सम्प्रेषण 163
सांगीतिक संस्कृति 20, 192, 194
सांगीतिक सर्वेक्षण 1, 11, 18-22
सांगीतिक सर्वेक्षण-विधि 20-22
सांगीतिक शब्दावली 27
सांगीतिम 21
सांगतिमीय 21

सांगीतिमीय सूची 21
सांस्कारिक नाट 133, 134
सांस्कारिक नृत्य 65, 135, 138
सातवाहन 190
साभरखेल 139
सामगायक 28
सामगायन 28
सामपुर परगना 16, 17
सामाजिक भाषाविज्ञान 162
सामूहिक कथा 7
सामूहिक कला 207
सामूहिक गायन 25
सामूहिक गीत 137
सामूहिक चिकित्सा 133
सामूहिक नृत्य 26, 64, 65, 66, 167, 172, 187, 199
सामूहिक नृत्यसंरचना 26
सारंगी (वाद्य) 23, 29, 30, 51
सावांग 133
सिंगी (वाद्य) 156
सिंहभूपाल 147
सिग्नल-ढोल 156
सिग्नल-व्यवस्था 155, 156
सिटकुल (वाद्य) 47
सिड़ंगो (वाद्य) 24
सितार (वाद्य) 31, 192
सिदवण्ड (ग्राम) 13, 86, 126
सिरपुर (ग्राम) 13
सिरहा 66, 67, 75, 100, 101, 132, 142, 154, 180, 184, 197, 198, 199, 200, 201, 202, 203, 207, 211, 212
सींगी (वाद्य) 49, 183
सीताहरननाट 143
सुआनृत्य 114
सुरमा (ग्राम) 79
सुरेवाही परगना 14
सुलंगा (ग्राम) 13
सुलगी (ग्राम) 14

सुलुड़ (वाद्य) 22, 29, 47, 49, 96, 193
सुषिर 27, 29, 47-50, 193
सूची शब्द 146
सेंगुर (ग्राम) 12
सेक्स एण्ड सेक्स वर्शिप इन द वर्ल्ड 24
सेमुरगाँव 9, 107, 200, 202, 203, 204
सेरमा (ग्राम) 16
सैलोड़ी-पाड़ 152, 158
सोनकुँअर-पाड़ 154, 158
सोनपाल परगना 17, 153
सोनपुर (ग्राम) 14
स्टीफेन हिस्लप 204
स्वांग 27, 67, 115, 116, 133-137, 212

श

शंख (वाद्य) 27, 47, 50, 193
शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे 56
शरदोत्सव नृत्य 116
शहनाई (वाद्य) 37, 50
शारदातनय 78
शार्ङ्गदेव 22
शास्त्रीय रंगमंच 137, 139
शास्त्रीय संगीत 21, 23, 27, 29, 31, 36, 41, 48, 49, 56, 61, 146, 147, 191
शिव 3, 22, 24, 25, 33, 35, 55, 56, 64, 75, 117, 172, 193, 207
शिवताण्डव 41
शिवपार्वतीसंवाद 25, 193
शिश्नदेवाः 24
शिश्नपूजा 24
श्रृंग (वाद्य) 49
श्रृंगी (वाद्य) 29, 49, 193
श्रव्य संकेत 54
श्रव्य सम्प्रेषण 144-158

ह

हकुम (वाद्य) 28, 29, 49, 71
हटिया परगना 16, 17
हरवेल (ग्राम) 16

हरिवंशपुराण 52, 78, 79
हर्राकोदो (ग्राम) 14
हलबा (जनजाति) 2, 7, 8, 10, 32, 166, 180, 181, 187, 188, 190, 214
हलबा-क्षेत्र 10
हलबी (बोली) 13-17, 23, 33, 37, 39, 48, 49, 53, 56, 59, 62, 99, 117, 133, 187, 209, 211
हलबी-भतरीक्षेत्र 114
हलबी-संगीत 17
हलवाहक 7
हल्लीसक 78, 79
हल्लीसक नृत्य 23, 193
हस्तताल 86, 91
हाना-पाटा 110, 143
हानाल गायता 210
हार-एन्दाना 75, 76, 170-172, 186
हारपाटा 55, 57-59, 76
हासनार ग्राम) 67, 68
हिकुल (ग्राम) 68
हिंगलाजिन 34
हिचलेहार-पाटा 104
हीरालाल शुक्ल 24, 28, 53, 67, 138, 163, 184, 186, 187, 190, 193, 197, 200
हुलकी 78, 79
हुलकी-नृत्य 40, 75, 78-80, 85, 170, 172, 174, 186, 193
हुलकी-पाटा 61, 62, 80-83, 205
हुलकी-माँदरी (वाद्य) 40, 42
हुलुड़ (वाद्य) 48
हैमेनडोर्फ 206